* ओ३म् *

आर्यसमाज का इतिहास

[प्रथम भाग]

१८९० ई० तक

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के आदेशानुसार

इन्द्र विद्यावाचस्पति

ने लिखा तथा प्रकाशित किया।

मूल्य ५)

प्रस्तावना।

श्रीमद्दयानन्दजन्मशताब्दी के उपलक्ष में यह तुच्छ भेंट ऋषि के चरणों में समर्पित है। पुस्तक का आशय नाम से स्पष्ट है, इसके लिखने का अधिकार किसी ऐसे व्यक्ति को ही था जो आयु विद्या और अनुभव में वृद्ध हो। मैंने जो यत्न किया है, वह दुःसाहसमात्र है, परन्तु आर्यसमाज के एक क्रमबद्ध इतिहास की इतनी अधिक आवश्यकता है, और वृद्ध जनों के हाथ सामाजिक कार्यों से इतने भरे हुए हैं कि बालक की यह अनधिकारचेष्टा आर्यजगत् में क्षन्तव्य समझी जा सकती है।

यह भाग १९१० ई० तक समाप्त हो जाता है। आशा है कि अगला भाग शीघ्र ही तय्यार हो कर पाठकों की सेवा में पहुंच जायगा।

इतना निवेदन करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस पुस्तक की सब भूलों का उत्तरदाता मैं हूं, कोई दूसरा नहीं हैं। यदि कोई भूल हो तो समालोचक महाशय मुझे ही दोषी ठहरायें, अन्य किसी को नहीं।

भाषासम्बन्धी एक सूचना दे देना उचित है। इस पुस्तक में आर्यसमाज शब्द को उभयलिंगी मान कर प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द भाषा में दोनों लिंगों में प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में लेखक ने लोकव्यवहार को व्याकरण से ऊंचा माना है।

इन्द्र

—:०:—

'इतिहास' की तैयारी का इतिहास

आर्यसमाज का इतिहास तय्यार कराने का विचार मेरे मन में उस समय से ही उठ रहा था जब मैं अपने जालन्धरवाले मकान में बैठकर आर्यसामाजिक साहित्य की सेवा के स्वप्न लिया करता था। सं० १९७४ वि० के आरम्भ में मैंने सन्यास आश्रम में प्रवेश किया। कुछ रोगों की निवृत्ति का उपाय करने के पीछे कुरुक्षेत्र गुरुकुल के स्थान में मैंने चातुर्मास किया। उसी समय में बैठे हुए मुझे आर्यसमाज का इतिहास लिखने की प्रेरणा की गई जिसे स्वीकार करके १७ भाद्रपद सं० १९७४ के सद्धर्म-प्रचारक में मैंने इस प्रकार घोषणा दी थी—

इतिहास की तैयारी का संकल्प

'बहुत से सज्जनों के अनुरोध से मैंने यह निश्चय कर लिया है कि आर्यसमाज का इतिहास तय्यार कर देना मेरा पहला कर्तव्य है। पूरी आधी शताब्दी बीत गई जब कि सं० १९२४ वि० के कुम्भ पर हरिद्वार में सर्वमेध यज्ञ कर और केवल कौपीन मात्र धारण किए ऋषि ने गंगा के किनारे २ चलते हुए वेदों का पवित्र सन्देश सुनाना आरम्भ किया था। बम्बई में सबसे पहले समाज को स्थापित हुए भी ४२ वर्ष व्यतीत होगए हैं। आर्यसमाज के वृद्ध अनुभवी सेवक प्रायः इस संसार को छोड़ रहे हैं, जो शेष हैं उनमें भी चलाचली का चक्र चल रहा है अतएव इतने बड़े गम्भीर काम के योग्य न होते हुए भी मैंने यह साहस किया है, जिसकी कृतकार्यता सर्वसाधारण (विशेषतः अनुभवी आर्य पुरुषों) की सहायता पर निर्भर है।

समकालीन इतिहास लिखने का काम बड़ा कठिन तथा दुस्साध्य समझा जाता है, और है भी ऐसा ही। परन्तु मैंने फिर भी इस आशा पर कार्य आरम्भ किया है कि प्रथम तो मैं अपने व्यक्तित्व को जुदा रखकर निष्पक्ष भाव से आर्यसमाज का इतिहास लिखने की अवस्था में आगया हूं और यदि मैंने घटनाओं का ठीक परिणाम निकालने में कहीं ठोकर खाई तो उसे आनेवाले इतिहास लेखक सुधार लेंगे।

मेरे पास पहिले से ही बहुत सा इतिहास का मसाला जमा पड़ा है।"

इतना लिखकर आर्य-समाचार पत्रों की फाइलें और आर्य संस्थाओं की रिपोर्टें भेजने के लिये उनके प्रबन्धकर्ताओं को प्रेरणा करके यह घोषणा-पत्र समाप्त किया था।

फिर ७ आश्विन सं० १९७४ के प्रचारक में लिखा है कि इतिहास की सामग्री एकत्र करने के लिए मैं आर्यसमाजों में भ्रमणार्थ जारहा हूं। अपनी यात्रा का समयविभाग, दो मास के लिए, उसी अंक में दे दिया था और अन्त में लिखा था—

"प्रथम वैशाख सं० १९७५ से आर्यसमाज के इतिहास के लिखने के लिये मैं कुरुक्षेत्र गुरुकुल के भवन में वा अन्य किसी स्थान पर, जहां सब ऋतुओं पर काम हो सके, बैठ जाऊंगा। इतिहास के साथ २ प्रामाणिक दशोपनिषद् का आर्यभाषा तथा अंग्रेजी में भाष्य भी तय्यार होगा। दोनों की तय्यारी साथ २ चलेगी। यदि मुझे एक योग्य अंग्रेज़ी तथा आर्यभाषा जानने वाला लेखक मिल जाय और एक गुरुकुल का विद्वान् स्नातक, जो संस्कृत व्याकरण का अच्छा पंडित हो, सहायता के लिये खड़ा हो जाय तो पहिले तीन वर्षों में इतिहास तय्यार होकर प्रेस में जा सकेगा, और उसके एक वर्ष पीछे उपनिषद् भाष्य छपने के लिये तय्यार हो जायगा।

"यदि यह सहायता न मिल सकी तो मुझ अकेले को तय्यारी में ४ के स्थान में ६ वर्ष लग जायंगे। कुछ भी हो संकल्प यह है कि यह दोनों काम अवश्य समाप्त करने हैं यदि परमात्मा आगे के लिये नीरोग जीवन प्रदान करे।

"निवास-स्थान के चुनने में एक विचार प्रधान है—वह यह कि मकान के मालिक व्यक्ति वा संस्था को मेरे विचार स्वातन्त्र्य पर कोई अधिकार न होगा।

"इतिहास मैं न्यायदृष्टि से, विना किसी विशेष दल के पक्षपात के, लिखना चाहता हूं। मेरी इस शर्त को मानकर जो आर्य महाशय वा किसी आर्य संस्था के प्रबन्धकर्ता मुझ से पत्र व्यवहार करेंगे, उनमें से जहां मेरे काम के लिये पुस्तकालय तथा जल-वायु की श्रेष्ठता द्वारा सुगमता होगी उसी स्थान को चुन लूंगा।"

इस घोषणापत्र के छपने के पीछे मैंने पंजाब प्रान्त के मुख्य २ आर्यसमाजों में भ्रमण करना आरम्भ किया। इस कार्य में आर्यसमाजों के अधिकारियों ने मेरी बड़ी सहायता की और चारों ओर से लेखबद्ध इतिहास का मसाला आना प्रारम्भ होगया।

समाचार पत्रों की फाइलें भी पर्याप्त संख्या में आगई और मैं कुरुक्षेत्र बैठकर कार्य आरम्भ करने ही लगा था कि आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान तथा गुरुकुल के आचार्य की ओर से मुझे प्रेरणा हुई कि कांगड़ी गुरुकुल में ही बैठकर मैं आर्य समाज का इतिहास लिखूं। इस पर १५ पौष सम्वत् १९६४ के प्रचारक में इस प्रकार समाचार छपा था—

"श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने शाखा गुरुकुल कुरुक्षेत्र में बैठकर इतिहास लिखने का निश्चय किया था किन्तु अब आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा और गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता जी तथा आचार्य जी के आग्रह पर उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी में रहकर ही इतिहास लिखने का कार्य करने का विचार कर लिया है।"

इसके पश्चात् २१ पौष सम्वत् १९७४ के प्रकाशक में मैंने लिखा था—

"अन्त को यही निश्चय हुआ कि गुरुकुल भूमि कांगड़ी में बैठकर ही इतिहास की तय्यारी की जाय। इतिहास की तय्यारी के लिए जो साहित्य सम्बन्धी सामग्री चाहिये वह सब स्थानों से बढ़कर यहां ही मिल सकती है। कुरुक्षेत्र से सब सामग्री यहां पहुंच चुकी है और मुरादाबाद में पं० वृजनाथ जी को भी लिख दिया था कि जो सामग्री मैंने उन्हें दी थी, वह शीघ्र मेरे पास भेज दें। वह भी पहुंच गई है।.... ....
...........इतिहास का क्रम विस्तृत रूप से तो सारी सामग्री की पड़ताल करने के पीछे ही दिया जायगा परन्तु यहां संक्षेप से इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि आर्यसमाज के इतिहास को मैं ४ भागों में विभक्त करना चाहता हूं। पहिले भाग में, भूमिका रूप से, यह दर्शाने का यत्न होगा कि धर्म का ज्ञान पहिले पहिल वेदों से फैला। इस विभाग में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता बतलाकर और वेद को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करके, सृष्टि के आदि से लेकर ऋषि दयानन्द के वास्तविक कार्य आरम्भ करने तक सम्प्रदायों, मतों और दार्शनिक विचारों के इतिहास पर एक समालोचनात्मक दृष्टि डाली जायगी। प्रयत्न होगा कि पाठकों की समझ में आजाय कि ऋषि दयानन्द को अपने उद्देश की पूर्ति में किन २ विरोधी शक्तियों से युद्ध करना पड़ा। दूसरे भाग में ऋषि दयानन्द और उनके काम का वर्णन होगा। इस भाग में दयानन्द जी के चरित्रसंगठन पर विचार करते हुए उसके दार्शनिक विकास का इतिहास होगा, और दिखलाया जायगा कि संसार को उसकी शिक्षा की कितनी आवश्यकता थी। तीसरे भाग में आर्यसमाजों के मन्तव्यों पर एक समालोचनात्मक दृष्टि डालकर बतलाया जायगा कि बिना परम प्रमाण (वेद) की शरण लिये मनुष्यसमाज कितनी ठोकरें खाता रहा है और भविष्य में भी खायगा। इसी भाग में आर्यसमाज का आन्तरिक इतिहास होगा जिसमें उसकी आध्यात्मिक त्रुटियों को दर्शाकर आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि के उद्देश की पूर्ति का मार्ग निर्दिष्ट होगा। चौथे भाग में आर्यसमाज का बाह्य (प्राकृतिक) इतिहास होगा, जिसमें समाजों की उन्नति और अवनति का वर्णन करते हुए उसकी तुलना संसार के साम्प्रदायिक इतिहासों से की जायगी। इन चार भागों के अतिरिक्त एक परिशिष्ट भाग भी होगा जिसमें आर्यसमाज के विशेष कार्यकर्ताओं की संक्षिप्त जीवनियों के साथ ही अन्य विशेष घटनाओं को स्थान मिलेगा, जो प्रथम चार भागों में विस्तारपूर्वक नहीं दिए जा सकेंगे।

ऊपर का विषय-क्रम देखकर आर्य पुरुष समझ जायंगे कि मुझे किस प्रकार के वृत्तान्तों की आवश्यकता है।''

इसके पश्चात् गुरुकुल कांगड़ी में बैठकर मैंने आर्यसमाज के समाचार-पत्रों के पुराने फ़ाइल, आर्यसमाजों से आये वृत्तांत और मत मतांतरों तथा दार्शनिक विचारों के इतिहास पढ़ने आरम्भ कर दिये। गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव तक, जो १६ चैत्र सम्वत् १९७४ से आरम्भ हुआ, मैंने बड़े छोटे लगभग ३२ हज़ार पृष्ठ पढ़ लिये थे और इसीलिये मैंने २१ माघ सं० १९७४ के सद्धर्म्म-प्रचारक में लिखा था:—

''मैंने 'ब्रह्मचर्य तथा विद्यार्थी जीवन' पर सब से पहिले पुस्तक छपवाने की प्रतिज्ञा की थी परन्तु इतिहास के लिये पुस्तकें तथा समाचार पत्र पढ़ते हुए विदित हुआ कि साथ के साथ लिखते जाने से उन्हीं पृष्ठों को दोबार देखने में समय नष्ट न करना पड़ेगा और काम भी सन्तोषजनक होगा। इस लिए अब सारा समय आर्यसमाज के इतिहास की तय्यारी में ही व्यय करता हूं, जब इतिहास पूरा लिखा जाकर तय्यार हो जायगा तब किसी अन्य पुस्तक को हाथ लगाऊंगा।

''बहुत से सज्जन इतिहास की लेखन शैली के विषय में अपनी २ सम्मतियां लिख कर भेजते हैं और साथ ही आशा रखते हैं कि मैं उक्त विषय में उनके साथ लेख-बद्ध वादानुवाद करूं। ऐसे सज्जनों को एक वार ही सूचना देता हूं कि उन सबके उपदेशों को, इतिहास लिखते समय, पढ़ लूंगा; परन्तु वादानुवाद के लिये मेरे पास समय नहीं है। जैसी मेरी बुद्धि, जितनी मेरी मानसिक योग्यता और जितना अन्य बल है वह सभी इस ग्रन्थ की तय्यारी में लगाऊंगा; परन्तु अपनी मानसिक-स्वतन्त्रता को बेचने के लिये तय्यार नहीं हूं। आगे के लिये भी जो सम्मतियां आवेंगी उनका मान करूंगा, परन्तु लिखूंगा स्वतन्त्रता पूर्वक आत्मा की ध्वनि के अनुकूल ही।''

लिखना आरम्भ करने को तय्यार ही था कि मुझे बिजनौर जाना पड़ा। वहां गढ़वाल के भीषण दुष्काल का हाल मालूम हुआ। उस समय बिजनौर में एक पहाड़ी कुमारी कन्या को धोखा देकर भगा लाने का मुकद्दमा, एक मुसलमान रईस और उसके साथियों पर, चल रहा था। मुझे बतलाया गया कि इस अवसर पर जहां विषयी मुसलमान आर्य देवियों के सतीत्व पर आक्रमण करने का यत्न करेंगे वहां ईसाई भी अपनी खेप भरने की चिन्ता में लगे हुए हैं। गुरुकुल भूमि में लौटते ही मैंने समाचार पत्रों में अपील भेजी और स्वयं सेवकों के एक दल को धन और अनाज सहित गढ़वाल के मुख्य स्थान की ओर रवाना कर दिया और ३ मई सन् १९१८ को स्वयं भी उसी ओर चल दिया। इतिहास की तय्यारी धरी धराई रह गई।

अगस्त १९१८ के अन्त में मैं गुरुकुल लौट आया। अपनी नोट बुक सामने रख कर भूमिका बांधने की सोच में था कि धौलपुर के आर्यसमाज-मन्दिर के मामले को सुलझाने के लिये मुझे उधर बुला लिया गया। लगभग एक महीना उधर लगा, जिसके पीछे अक्तूबर १९१८ ई० के आरम्भ में गुरुकुल भूमि के अन्दर भी इन्फ्लुएन्जा रोग का प्रकोप फूट निकला। मुख्याधिष्ठाताजी वहां थे नहीं, आचार्य जी के यहां बीमारी ने हमला किया इसलिये वह ब्रह्मचारियों में घूम नहीं सकते थे। १॥ महीने तक मैं इसी काम में लगा रहा। यथाशक्ति उस आपत्ति के समय में सेवा करता रहा और गुरुकुल निवासियों की कुछ उलझनों को भी सुलझाया। कुछ समय पीछे मैं दिल्ली चला आया, दिल्ली में अपना नया बनाया मकान सेठ रघूमलजी मुझे निवास के लिये दे चुके थे, जिसमें अबतक रहता हूं। सब सामान दिल्ली को भेज दिया और नवम्बर १९१८ के अन्त में आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के पीछे मैं स्वयं दिल्ली पहुंच गया।

दिल्ली में फिर वही विघ्न।

मैंने अभी सब सामान दुरुस्त किया ही था कि इण्डियन नैशनल कांग्रेस की बैठक के दिन आगये। उस अवसर पर बहुत से ऐसे सज्जन आये जिनकी आवभगत में कोई अन्य कार्य न होसका। जनवरी सन् १९१९ में फिर नियम पूर्वक कार्य आरम्भ किया। इतिहास सम्बन्धी कुछ स्फुट-लेख लिखे और अन्य पुस्तकों की भी तय्यारी आरम्भ कर दी थी कि महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन ने मुझे उधर खींच लिया। जनवरी सन् १९२० के अन्त तक दिल्ली और पञ्जाब के मार्शल ला के पीड़ितों की सहायता करते बीता। उसके बाद गुरुकुल कांगड़ी के हितैषियों ने फिर से गुरुकुल का चार्ज लेने को बाधित किया। मुझे बतलाया यह गया था कि यदि मैंने गुरुकुल का चार्ज न लिया तो गुरुकुल के सामयिक आचार्य उसे छोड़ जायंगे और गुरुकुल की इतिश्री होजायगी। फिर सब सामान बांधकर गुरुकुल में जा पहुंचा और इतिहास का मसाला मेजों पर फैला दिया। वहां अवस्था ऐसी थी कि नित्य १४ घण्टे निरन्तर लगे रहने पर भी कठिनाई से गुरुकुल का काम समाप्त कर पाता था। कारण यह कि मुख्याधिष्ठाता और आचार्य का काम करते हुए मुझे कभी कभी ४ वा ५ अन्तर नित्य पढ़ाना पड़ता और सहायक मुख्याधिष्ठाता न होने के कारण बाहर की भी सब देखरेख मुझे ही करनी पड़ती।

अपने स्थानापन्न का चुनाव।

इस समय तक दो तीनवार मुझे निश्चय होगया था कि मैं अब आर्यसमाज का

इतिहास अपने हाथ से नहीं लिख सकूंगा। जब कभी इस प्रकार निराश होता तो मेरी दृष्टि केवल दो आर्य पुरुषों पर पड़ती। एक परिडत घासीराम एम॰ए॰ वकील मेरठ और दूसरे पं॰ इन्द्र विद्यावाचस्पति। मैंने देख लिया था कि इन दोनों ने जहां आर्य सिद्धान्तों को भली प्रकार समझा हुआ है वहां ऋषि दयानन्द के जीवन का भी गहरा स्वाध्याय किया है। अन्य प्रकार से भी मैं इन्हीं को इतिहास लिखने के सर्वथा उपयुक्त समझता रहा और समझता हू। जब सन् १९२१ ई॰ के आरम्भ में मैं बीमार होकर ३॥ महीने चारपाई पर पड़ा रहा, तब एक दिन बहुत गरम जलसे स्नान करते हुए ऐसी मूर्च्छा आगई थी कि जीवन का भरोसा नहीं रहा था। उस समय मैंने एक वसीयत लिखी थी जिसके द्वारा आर्यसमाज के इतिहास लिखने का भार इन्हीं दोनों विद्वानों पर डाला था।

रोगग्रस्त होने के समय ही मैंने गुरुकुल के कार्य से त्याग-पत्र दे छोड़ा था परन्तु उस बन्धन से मुक्ति शायद अक्टूबर १९२१ में मिली, तब फिर इतिहास की सारी सामिग्री सन्दूकों में भरकर दिल्ली लाई गई। परन्तु कुछ काम ऐसे पीछे लग गये थे जिनको बिना सुलझाये निश्चिन्त होकर लेख के कार्य के लिये बैठ नहीं सकता था। फर्वरी सन् १९२२ के अन्त में उन सबसे छुटकारा मिला और मैंने फिर से पुराना मसाला देखना प्रारम्भ किया। उस समय पं॰ इन्द्र विद्यावाचस्पति भी गुरुकुल से अलग होकर दिल्ली आगये थे। मैंने उनको सब कुछ समझाना आरम्भ कर दिया और उन्होंने पुरानी फाइलें देखनी भी शुरू कर दीं। १० सितम्बर सन् १९२२ ई॰ के दिन अकाली दल के शान्तमय असहयोग की प्रशंसा करने पर मुझे अमृतसर-जेल में भेज दिया गया, जहां से १ वर्ष की सादी सज़ा देकर मेरा चालान मियांवाली जेल को होगया। दिसम्बर मास के तीसरे सप्ताह में पन्जाब गवर्नमेंट ने यह निश्चय किया कि अकाली-सत्याग्रह में ५० वर्ष की आयु से ऊपर के सब कैदी छोड़ दिये जायं। उसीके अनुसार मुझे २६ दिसम्बर सन् १९२२ को छोड़ दिया गया और २९ दिसम्बर को मैं दिल्ली पहुंच गया।

शुद्धि और हिन्दू संगठन।

हिन्दू संगठन को आवश्यकता मुझे जून सन् १९२२ ई॰ में ही अनुभव होगई थी, इसलिये उसके एक अंश, अर्थात् दलित जातियों के उद्धार, के लिये मैंने अपील कर दी। वह विचार अभी बीच में ही था कि शुद्धि-कार्य ने मुझे खींच लिया। १५ फर्वरी सन् १९२३ से उसी कार्य में लगा रहा; फिर अप्रैल सन् १९२३ के मध्य भाग से अगस्त मास तक हिन्दू सभायें बनाने और हिन्दू-महासभा के लिये प्रतिनिधि चुनवाने

के काम में लगा रहा। तब पं० इन्द्र ने मुझे फिर कहा कि मैं ही आर्यसमाज का इतिहास लिखूं। परन्तु साथ ही मेरे नियत किये हुए पहले दो भागों को अपनी योग्यता और समझ के अनुसार लिखकर मेरे सामने रख दिया। उस समय दैनिक "अर्जुन" को चलते कुछ महीने होचुके थे और इसलिए पं० इन्द्र इतिहास के कार्य से बचना चाहते थे।

मैंने फिर निश्चय किया कि तीसरे भाग से मैं ही लिखना आरम्भ कर दूं, परन्तु उस समय कोकोनाड़ा कांग्रेस में अपना भाषण पढ़ते हुए मौलाना मुहम्मद अली ने अपने किसी मुसलमान मित्र की प्रेरणा से छः करोड़ अछूतों को हिन्दू मुसलमानों में आधोआध बांटने का प्रस्ताव पेश कर दिया। इसपर आर्यसमाज के विद्वानों ने मुझे प्रेरणा की कि इस षड्यन्त्र को तोड़ने का काम मैं अपने ऊपर लूं। तब मैंने पं० घासीराम को इतिहास लिखने का काम अपने जिम्मे लेने को कहा परन्तु मुझ से दूर मेरठ में रहते हुए उनके लिए काम करना सुगम न था और साथ ही जब मैंने देखा कि इस काम में उनको फंसाने से अन्य पुस्तकों की तय्यारी में भी बाधा पड़ेगी जो वह लिखकर छपवा रहे थे तब मैंने उनसे अधिक आग्रह नहीं किया और यह काम फिर पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के सुपुर्द कर दिया।

प्रथम भाग तय्यार होगया।

आर्यसमाज के इतिहास का प्रथम भाग जिसमें प्रारम्भिक दो विषयों के अतिरिक्त आर्यसमाज के बाह्य इतिहास के भी थोड़े अंश का समावेश होगया है, सर्व साधारण के सामने प्रस्तुत है। जब किसी समाज का इतिहास पहिले पहिल लिखा जाता है तब उसमें बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि यदि संकोच से काम लिया जाय तो मुख्य और गौण घटनाओं में भेद करना पड़ेगा और यदि किसी घटना को भी न छोड़ा जाय और भाषा को खुली छुट्टी दे दीजाय, तो पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जायगा। इस पुस्तक की लेखशैली में एक विशेष गुण यह मालूम होता है कि लम्बी घटनाओं को थोड़े शब्दों में वर्णन करते हुए उसके प्रधान भाव को लुप्त नहीं होने दिया। भाषा ओजस्विनी और साथ ही सर्वप्रिय होने के कारण जहां सर्वसाधारण के लिये यह पुस्तक रुचिकर होगी वहां आर्य समाज के कार्यकर्ताओं को भी सेवा का सीधा मार्ग दिखायगी।

पुस्तक का क्रम, मेरे प्रस्तावित क्रम से, कुछ बदला हुआ है, परन्तु वह परिवर्तन मेरी अनुमति से ही हुआ है। दूसरे भाग में बाह्य इतिहास को वर्तमान समय

तक पहुंचाकर तब ऋषि दयानन्द की निर्देश की हुई सिद्धान्तमाला का तत्त्वान्वेषण किया जाय जिससे आर्यसमाज को अपनी त्रुटियों का पूरा ज्ञान होगा और तब भविष्यत का मार्ग अपेक्षया अधिक सुगम हो जायगा।

कहा जायगा कि यदि मैं आर्यसमाज का इतिहास स्वयं लिख सकता तो अपने अनुभव से उसे अधिक पूर्ण बना सकता। परन्तु प्रथम तो इस समय मेरे शरीर और इन्द्रियों की ऐसी अवस्था नहीं कि पुराने पत्रों और लेखों की पड़ताल कर सकूं, और दूसरे जिस ऐतिहासिक नाट्यशाला में किसी व्यक्ति ने स्वयम् एक नट का स्थान लिया हो उसके लिये वैय्यक्तिक पक्षपात से बचना कठिन हो जाता है। यद्यपि जब पहले पहल मैंने आर्यसमाज का इतिहास तय्यार करने का संकल्प किया था उस समय अपनी निष्पक्षता पर मुझे भरोसा था, परन्तु बीच में ऐसी घटनायें आ चुकी हैं जिनके कारण इन के प्रभाव से मुक्त युवा के हाथ में ही यह काम देना उचित प्रतीत हुआ। मेरे जो विशेष अन्तरीय अनुभव हैं उन के प्रकाशन के लिये कोई और साधन निकल आवेगा।

इस बार छपाई के साधनों में त्रुटि के कारण बहुत कुछ उन्नति के लिये स्थान शेष रह गया है जो आशा है कि दूसरे संस्करण में पूरा हो जावेगा।

श्रद्धानन्द संन्यासी

पहला परिच्छेद ।

धर्म का मूल स्रोत ।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेयनाभ्वपिहितं यदासीत्तपस स्तन्महिमा जायतैकम् ॥

ऋग्वेद ।

यह सब जगत् सृष्टि से पहले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एक देशी आच्छादित था । पश्चात परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया । दयानन्द ।

'And the earth was without form and void and darkness was upon the face of the deep.' बाइबिल ।

'आसीदिदन्तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्' मनु० ।

यह सब की मानी हुई बात है कि सृष्टि के आरम्भ में अँधेरा था । केवल आखों के लिये ही अँधेरा नहीं था, सभी तरह से अँधेरा था । आख नहीं थी, न सूर्य था, और न ही वह चीज़ें थीं जो देखी जाती हैं । न बुद्धि थी, न बुद्धि को रास्ता दिखाने का साधन था, और न बुद्धि से जानने योग्य पदार्थ थे । न तीर, न कमान, न लक्ष्य । तब चले क्या ? और लगे किस पर ? बस, इसी दशा का नाम अंधेरा है । सृष्टि रचना से पूर्व संसार की यही दशा थी ।

धीरे धीरे सृष्टि की रचना हुई । सभी आस्तिक मानते हैं कि सृष्टि की रचना में जो इच्छा शक्ति काम करती थी, वह ईश्वर की थी । इस इच्छाशक्ति का नाम तत्त्वदर्शियों ने "ईक्षण" रक्खा है क्योंकि मनुष्य की तरह वह इच्छा सीमित नहीं है । नास्तिक लोग, जिनकी संख्या कम, परन्तु आवाज़ बड़ी है, कहते हैं कि सृष्टि स्वयं ही बन गई । उसके बनाने के लिये किसी इच्छाशक्ति रखने वाले की आवश्यकता नहीं थी । इस स्थान पर हम उनसे बात चीत नहीं करना चाहते, क्योंकि बात चीत करने की पहली शर्त अभी

तक पूरी नहीं हुई। पहली शर्त यह है कि वह सज्जन बिना कारीगर की इच्छाशक्ति के बना हुआ महल, या बिना जुलाहे की इच्छाशक्ति के तय्यार किया हुआ कपड़ा दिखा दें। जब तक नास्तिक ऐसे दो भी दृष्टान्त नहीं दिखा सकते तब तक बातचीत प्रारम्भ करना व्यर्थ है।

ईश्वर की इच्छाशक्ति से सृष्टि की रचना हुई। उस इच्छाशक्तिवाले की ज्ञान-शक्ति भी अद्‌भुत होगी। वह अनन्त विस्तार वाला पेचीदा और अद्‌भुत संसार उसमें साक्षी है। देखिए उसका चमत्कार, कि यदि उसने मनुष्य की आंखें पैदा कीं तो साथ ही उनका सहायक सूर्य भी बनाया। आंखें देख सकती हैं, परन्तु सूर्य के बिना नहीं। सूर्य या सूर्य का कोई प्रतिनिधि, आँख, और देखने योग्य वस्तु, ये तीनों मिलकर अपनी अपनी खिदमत बजा लाते हैं, तब देखा जाता है। तीनों में से कोई भी सार्थक नहीं हो सकता जब तक शेष दो उपस्थित न हों। यही बस जगत् के बनानेवाले की प्रतिभा का अद्‌भुत चमत्कार है कि आंख दी, तो रोशनी के साधन साथ उपस्थित किये, बच्चे को स्वयं चलने फिरने में अशक्त बनाया, तो माता के स्तनों में दूध दे दिया, और वह मातृस्नेह दिया जो बच्चे की सब निर्बलताओं को पूरा कर देता है।

जिस अद्‌भुत इच्छा और प्रतिभा के भण्डारी ने आँखें बनाईं, उसी ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान की, जिसका दूसरा नाम 'अन्दर की आंख' है। यह नाम यों ही कल्पना नहीं कर लिया गया, इसका बहुत ज़बर्दस्त कारण है। हम व्यवहार में दोनों को बहुत समान देखते हैं। आंख, मनुष्य का, बाह्य वस्तुओं के परखने का मुख्य साधन है, शेष इन्द्रियां उतना महत्त्व नहीं रखतीं। आंख रोशनी की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती, बिलकुल निकम्मी रहती है। इसी प्रकार मनुष्य की बुद्धि का विस्तार करने के लिए पुस्तक, पुस्तकालय, अध्यापक, विद्यालय, कालिज, यूनिवर्सिटी, और अन्वेषणा-लयों की आवश्यकता होती है। बुद्धि सहायता के बिना निकम्मी ही रहती है। किसी समय और किसी जाति को देखिये, आप कहीं भी यह न पायंगे कि मनुष्य ने बिना सिखाये शस्त्रविद्या या शास्त्रविद्या सीख ली हो। ऐसे दृष्टान्त पाये जाते हैं, जहां सिखाये बिना बालक समझना और बोलना तक नहीं सीखे। मनुष्य की बुद्धि उन्नति कर सकती है परन्तु बिना आधार के नहीं। बीज रूप से शिक्षण मिल जाने पर बुद्धि द्वारा उसका महावृक्ष बनाया जा सकता है, परन्तु बीज अवश्य चाहिए। यदि वह न होता तो वर्त-मान संतति शिक्षा पर इतना बल न देती। मनुष्य की बुद्धि बहुत कुछ कर सकती है, वह पहाड़ों को चीर सकती है, वायु और आग को वश में कर सकती है, परन्तु अस-म्भव को सम्भव नहीं बना सकती, ज्ञान का बीज उत्पन्न नहीं कर सकती, और बिना सहायता के देख नहीं सकती। नित्य का व्यवहार इसमें साक्षी है।

यही कारण है कि जिस जगत्पिता ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को सोचने की शक्ति दी, उसी ने सोचने का सहायक बीजरूपी ज्ञान भी दे दिया। आज बालकों के गुरु अध्यापक लोग बनते हैं, उस समय बाल सृष्टि का गुरु वह आदिगुरु बना, जिस के बारे में महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में कहा है कि वह पूर्वों का भी गुरु है, उस पर समय का बन्धन नहीं है *। वेदों में उसे 'कवि' कहा है, और साथ ही कवियों का बनाने वाला 'कविक्रतु' कहा है। वह स्वयं परोक्ष के देखनेवालों का गुरु है ‡। आदि गुरु होने से ही बायबल में उसे 'शब्द' या word कहा है। ×

हम इस परिणाम पर तो पहुंच गये हैं कि सृष्टि के आरम्भ में पहले मनुष्य या मनुष्यों की बुद्धि के लिये ऐसे सहायक की आवश्यकता थी, जो बीज रूप से ज्ञान दे सकें, हम यह भी देख चुके कि उस समय प्रारम्भिक मनुष्यों के सिवा किसी की ज्ञान-शक्ति और इच्छाशक्ति थी तो परमात्मा की थी, इसलिये परमात्मा को ही मनुष्य जाति का आदिगुरु मानना चाहिये, परन्तु इतने पर भी यह न सोच लेना चाहिये कि हम सस्ते छूट गये। मनुष्य की विशाल बुद्धि यदि ईश्वर की सिद्धि में "कुसुमाञ्जलि" लिख सकती है तो वह जगत् के खण्डन में खण्डनखण्डखाद्य भी लिख सकती है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक जेम्स स्टुअर्ट मिल इलहाम की असत्यता प्रकट करते हुए कई प्रश्न उठाते हैं। उनमें से सब से बड़ा प्रश्न यह है कि क्या सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्यों को मुख द्वारा उपदेश दिया ? कहना पड़ेगा कि नहीं, क्योंकि परमात्मा के भौतिक मुख नहीं है।। तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि उपदेश कैसे दिया ? या इस प्रश्न को इस प्रकार रख सकते हैं कि मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान का इलहाम किस प्रकार हुआ ? क्या जिस प्रकार व्यवहार में गुरु शिष्यों को उपदेश देता है ? ऐसे तो परमात्मा उपदेश दे नहीं सकता। तब यही मानना पड़ेगा कि परमात्मा ने मोजज़ा किया, चमत्कार किया, आंख झपकते २ मनुष्य को ज्ञान प्राप्त हो गया। इस पर तीसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि "क्या संसार में मोजज़े होना सम्भव है ?"

जिस समय यह प्रश्न उठाया गया था, उसमें कुछ बल था, क्योंकि उस समय अध्यात्म विद्या ने परीक्षण द्वारा अपनी सत्यता सिद्ध नहीं की थी; परन्तु अब दशा बहुत बदली हुई है। अब योरप में अध्यात्म शास्त्र के बहुत से परीक्षण हुए हैं, और परिणाम में मेस्मरिज्म और हिप्नाटिज्म आदि वैज्ञानिक सचाइयों का अविर्भाव हुआ है।

* स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योग

‡ अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। ऋग्वेद।

× In the beginning was the Word, and the Word was wit h God, and the word was God. (St. John-New Testament ch. T. Verese T.)

यह सिद्ध हो चुका है कि एक मनुष्य अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के प्रभाव से दूसरे मनुष्य को यथेष्ट ज्ञान दे सकता है और यथेष्ट कार्य करवा सकता है। मिल महोदय के समय में यह मोजज़ा था, आज यह वैज्ञानिक सचाई है। जब एक साधारण मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के बल से यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करवा सकता है तो क्या अनन्त शक्तिशाली परमात्मा अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के बल से ज्ञान नहीं दे सकता? इसमें आज कुछ भी मोजज़ापन दिखाई नहीं देता।

यहां एक और विचार उपस्थित कर देना अनुचित न होगा। संसार में हम कार्य-कारण की अटूट शृंखला देखते हैं। जो आदमी पत्थर सिर पर मारता है, उसका माथा फूट जाता है। जो आग में हाथ देता है, वह हाथ जला बैठता हैं। क्या जड़ और क्या चेतन, सभी में कार्य-कारण-भाव दिखाई देता है। मनुष्य की भली बुरी चेष्टाओं के प्रसंग में इस कार्य-कारण-शृंखला का नाम 'पाप पुण्य' व्यवस्था है। जो निरन्तर झूठ बोलता है, उसका विश्वास उड़ जाता है; जो इन्द्रिय भोग में अधिक फंसा रहता है और संयम से नहीं रहता वह शारीरिक तथा दिमाग़ी शक्तियों को खो बैठता है; जो आवश्यकता से अधिक खा लेता है, उसके पेट में दर्द हो जाता है, इत्यादि सब दृष्टान्त सिद्ध करते हैं कि संसार में कुछ व्यापी नियम हैं, जो अटल हैं। यदि कोई दो एक अपवाद मिलते हैं तो वह नियम की पुष्टि ही करते हैं। कुछ नियम हैं जिनके अनुसार मनुष्यों को सुख दुःख प्राप्त होते हैं, अटकल से नहीं। जो संसार का अधिष्ठाता है, वह नियम बनाता और नियमों के अनुकूल संसार को चलाता है। वह बुरों को बुरा और भलों को भला फल देता है। यह उसका नियम है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई अच्छा राजा अपने राज्य के नियमों को गुप्त भी रख सकता है? यदि कोई राजा प्रजा को यह तो न बतावे कि चोरी करनेवाले को कैद का दण्ड मिलेगा पर चोर को कैद में भेज दे तो क्या चोर उसे अन्यायी राजा न कहेगा? हरेक राजनियम, जिसके अनुकूल प्रजा को सुख दुःख मिलते हैं, प्रकाशित होना चाहिये। यदि कोई आदमी थोड़ा सा भी यत्न करे तो उसकी पहुंच में होना चाहिये। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की सृष्टि हुई—तब भी उन्हें अच्छे बुरे कर्मों के अच्छे बुरे फल मिलते थे। क्या उस समय संसाररूपी राज्य के राजनियम प्रकाशित नहीं हुए थे? यदि हुए थे तो प्रश्न यह उठता है कि वह किस रूप में प्रकाशित हुए थे? दूसरा पक्ष माना जाय तो परमात्मा को अन्यायी और अत्याचारी राजा मानना पड़ेगा, क्योंकि जो राजा यह नहीं बताता कि

कौन २ से कर्म बुरे हैं, जिनका दण्ड मिलता है और दण्ड देने को तय्यार हो जाता है, उसे सिवाय अन्यायी और अत्याचारी के कुछ नहीं कह सकते।

इस सारे तर्क का परिणाम यह निकलता है कि सृष्टि के आरम्भ में एक नियम संग्रह का होना आवश्यक है। मनुष्य की बुद्धि बिना सहायक के स्वयं ही सब कुछ उद्भावित नहीं कर सकती। वह ज्ञान, जो सृष्टि के आदि में मनुष्यों को ईश्वर की ओर से प्राप्त हुआ, धर्म का मूल स्रोत है। वह मूल स्रोत कौन सा है?

हमारा उत्तर है कि ऋगादि वेदों की संहितायें ही धर्म के मूलस्रोत हैं। वह क्यों?

(१) धर्म का मूल स्रोत वही हो सकता है जो सृष्टि के आरम्भ में हुआ हो। अन्य कोई भी धर्म पुस्तक सृष्टि के आरम्भ में होने का दावा नहीं करती। पारसियों की धर्म पुस्तक "ज़िन्दावस्था" को बने लगभग ३८०० साल हुए हैं। डा० हौग उसके समय को पीछे ले जाते हैं तो ४१०० सालों से अधिक पीछे नहीं ले जा सकते। पेंटाट्यूक (Pentatuech) को बने ३४६० साल हुए हैं। 'बाइबिल' का समय अधिक से अधिक १६२४ समझा जा सकता है, यद्यपि इसमें सन्देह है कि बाइबिल का कोई भी भाग क्राइस्ट के समय में बन गया था। 'कुरान' को बने १४५० साल से अधिक नहीं हुए, कम ही हुए हैं। यह ईश्वरीय ज्ञान होने के अन्य उम्मेदवारों की दशा है पर वेदों की दशा दूसरी ही है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि वेद इन सबसे पुराने हैं। मेक्समूलर ने बहुत समय पूर्व कहा था कि 'वेद हमारे लिए मनुष्य बुद्धि के सब से पुराने परिच्छेद को दिखाने वाला है।"

जिस समय यह शब्द लिखे गये थे तब से आज तक किसी नाम लेने योग्य विद्वान् ने इस उक्ति का खण्डन नहीं किया है। यह सर्वसम्मत बात है कि संसार के पुस्तकालय में वेद सब से प्राचीन पुस्तकें हैं। सृष्टि के आदि में होने के और सब उम्मेदवार वेदों के सामने ढीले पड़ जाते हैं।

(२) ज्यों २ खोज गहराई में जा रही है, त्यों २ वेद का समय पीछे ही पीछे चला जाता है। हम नीचे एक तालिका देते हैं जिससे पता लग जाएगा कि वेदों का समय किस प्रकार पीछे ही पीछे चलता जा रहा है।

वेदों का अनुमानिक समय।

नाम	कम से कम।		अधिक से अधिक।	
मैक्समूलर	८००	वर्ष ई० पू०	१५००	वर्ष ई० पू०
मैक्डानल्ड	१०००	"	२०००	"
हौग	१४००	"	२०००	"
हिव्रटनी	१५००	"	२०००	"
विलसन	"	"	"	"
ग्रिफिथ	"	"	"	"
जैकोबी	"	"	४०००	"
तिलक	"	"	८०००	"
पावगी	२४०,०००	"	६,०००,०००,०००	

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वानों की खोज वेदों को पीछे ही पीछे ले जा रही है, जितना पीछे समय पहुंचता है, उतने ही सबूत प्रबल होते जाते हैं कि वेद उससे भी पुराने हैं।

(३) और कोई भी धर्मपुस्तक सृष्टि के आदि में होने का दावा नहीं करती, केवल वेद ही इसका दावा करते हैं। वह अपनी उत्पत्ति सृष्टि के आदि में ईश्वर से बताते हैं,—देखिये:—

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋच॒ः सामा॑नि जज्ञिरे।
छन्दां॑ᳬसि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत॥

ऋक। १०। ९०। ६
यजु०। ३१। ७।

उसी सर्व पूज्य परमात्मा से ऋक्, साम, अथर्व और यजु उत्पन्न हुए।

यस्मा॒दृचो॑ अ॒पात॑क्षन् यजु॒र्यस्मा॑दु॒पाक॑षन्।
सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑न्यथर्वाङ्गि॒रसो॒ मुख॑म्॥
स्कं॒भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः।

अथर्व १०। २३। ४। २०

जिस जगदाधार परमात्मा से ऋक्, यजु, साम और अथर्व उत्पन्न हुए हैं, उसके यथार्थ स्वरूप को कहो।

ऊपर तीन वेदों के दो मन्त्र दिये गये हैं। पहला मन्त्र दो वेदों में समानरूप से आया है। वह सृष्टि प्रकरण में है। सृष्टि के आरम्भ की शेष रचना के साथ वेदों के

आविर्भाव का भी कथन है। ऐसी स्पष्टता और सीधे तौर पर किसी भी दूसरी धर्म पुस्तक ने (१) सृष्टि के आदि में होने और (२) परमात्मा से उत्पन्न होने का दावा नहीं किया। धर्म का मूल स्रोत वह हो सकता है जो सृष्टि के आदि में हुआ हो या कम से कम और सब से पुराना हो, इस स्थान का एक ही उम्मेदवार है और वह 'वेद' है।

इस स्थान पर वेद, इञ्जील, कुरान आदि की तुलना या सापेक्षक आलोचना करना व्यर्थ और अप्रासंगिक है। हमें केवल उस इतिहास शृंखला की पहली कड़ी देखनी है, जिसकी अन्तिम कड़ी आर्यसमाज है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उस शृंखला की पहली कड़ी 'वेद' है। संसार के इतिहास में कोई भी ऐसी धर्म पुस्तक नहीं जो प्राचीनता में वेद का सामना कर सके। ऊपर जो सबूत दिये गये हैं उन से यही प्रतीत होता है कि वेदों का अविर्भाव उसी समय प्रारम्भ हुआ जब आर्यजाति का प्रारम्भ हुआ परन्तु यदि इस स्थापना को कोई अस्वीकार करे तो भी उसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वेद संसार के धर्मरूपी भवन की पहली ईंट है। आगे हम दिख-लायंगे कि वही उस भवन की आधार भूत ईंट भी है।

दूसरा परिच्छेद

स्रोत का फैलाव।

चिरकाल तक वेदसंहिताओं का जाप, और उनके अनुसार शासन ही प्रधान रहा। हिमालय की ऊंची चोटियों और गहरी कन्दराओं में वेदमन्त्रों का अनुशीलन और मनन होता रहा। वह समय धन्य था, क्योंकि उस समय धर्म अपने सादे और साफ रूप में विद्यमान था। लम्बे २ व्यर्थ क्रियाकलापों और पेचदार सिद्धान्तों की उस समय न सत्ता थी और न आवश्यकता थी। वह धर्म का स्रोत, जिस से उस समय की प्रजा जलपान करती थी शुद्ध और निर्मल था।

परन्तु सदा वह दशा न रही। वह स्रोत फैलती हुई आर्य जाति के साथ चारों ओर फैलने लगा। वह जिन जातियों में और जिन भूमियों में से होकर निकला, जहां उनकी प्यास बुझाता गया, वहां साथ ही साथ उनकी विशेषताओं से प्रभावित भी होता गया। उसके जो दूरवर्ती परिणाम हुए उनकी चर्चा अगले परिच्छेदों में करेंगे, इस परिच्छेद में हमें उन धाराओं का वर्णन करना है जो वैदिक स्रोत से सीधी तौर पर निकलीं और वैदिक विचार मात्र का परिणाम थीं। वह धारायें तीन थीं–जिनमें से दो भारतवर्ष में वह निकलीं और एक कुछ दूरी पर–ईरान अर्थात् आर्य देश में जाकर पारसी धर्म के रूप में प्रकट हुई। आर्यावर्त में जो धारायें थीं, वह ब्राह्मणों के कर्मवाद, और उपनिषदों के ज्ञानवाद के रूप में प्रकट हुईं। इन दोनों में और ईरान वाली धारा में इतना ही भेद था कि जहां पहली अपना मूल वेदों को कहती रहीं वहां दूसरी, समय और स्थान का अधिक अन्तर हो जाने से, मूल को भूल सी गई। अब हम उन तीनों धाराओं का संक्षिप्त वर्णन पाठकों की भेंट धरते हैं।

ब्राह्मणों का कर्मवाद।

हमने ऊपर कहा है कि वेदसंहिताओं के धर्म में सरलता और पवित्रता यह दो गुण थे। पीछे से वेद को तीन भागों में विभक्त करके उसके तीन

काण्ड बतलाए गए हैं, वह तीनों ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड कहलाते हैं। वेद में तीनों का विस्तार है—परन्तु बहुत सादगी और सरलता के साथ। सीधे धागे में जान बूझकर गांठ नहीं दी गई, और सुखप्रद अटारी में भूलभुलय्यां नहीं बनाई गई। वेदों में प्रायः सभी जड़ चेतन पदार्थों का ज्ञान है, आवश्यक वर्णन है; परन्तु कहीं भी शब्दों की उलझन या विचार के टेढ़ेपन में उसे छिपाने का यत्न नहीं किया गया। एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा—

"ईशावास्यमिद ॐ सर्वं यत्किंच जगत्याञ्जगत्"।

ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं, सब में परमात्मा व्याप्त है। कैसा सरल और स्पष्ट भाव है। कहीं २ वेद के सम्बन्ध में जो कठिनता अनुभव होती है उसका यह कारण नहीं कि वेद में कोई कठिनाई रखी गई है, उसका कारण यह है कि वेद की भाषा पुरानी होगई है। उसके शब्दों के असली मूलार्थ सदियों की काई ने छिपा दिये हैं दूसरा कारण, और बड़ा भारी कारण यह भी है कि स्वार्थ या मोह के वश में आकर वेद में से ऐसे अर्थ निकालने के यत्न हो रहे हैं, जो मूल संहिता के अभिप्राय से बिल्कुल उल्टे पड़ते हैं। वेदों की कठिनाई के ऐसे ही कारण हैं—जहां यह कारण काम नहीं करते वहां वेदमन्त्रों की सरलता अचम्भे में डालने वाली है।

इसी प्रकार कर्म-विधान की व्यवस्था है। वेदों में कर्मों का विधान है—मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में आज्ञायें हैं। यथा

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'

हे मनुष्यो! तुम्हारी गति और वाणी परस्पर अनुकूल हो। तुम्हारे मन परस्पर समान विचारे करने वाले हों। इसी प्रकार से परमात्मा के उपासना के सूक्त हैं—परन्तु वह भी सरलता लिए हुए हैं।

यह मनुष्यस्वभाव है कि वह सादगी और सरलता से सन्तुष्ट नहीं होता। सरल बात उसके लिये जल्दी ही पुरानी हो जाती है, वह नयापन ढूंढने लगता है, इसलिये सरल सुन्दर मुखड़े पर ज़ेवरों की भरमार शुरू होती है। पुरानी सीधी सादी सचाई से थककर वह नई पेचीदा व्याख्यायें करने लगता है—अन्यथा उसके चित्त में असन्तोष बना रहता है। मनुष्य बुद्धि स्वभाव से सरल बात को पेचीदा बनाने में ही व्यय होती दिखाई देती है। वेदों के साथ भी यही हुआ। वेदों के सरल और सीधे उपदेशों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए समय के साथ धीरे २ ज्ञान और कर्मादि का विस्तार होने लगा। वह विस्तार जिन २ शाखाओं में हुआ, उनमें से प्रथम ब्राह्मणों का कर्मवाद था।

यह कहना तो कठिन है कि ब्राह्मणों की रचना आज से कितना समय पूर्व प्रारम्भ हुई—परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में वेदों के पीछे जिन विचारों का पहले पहल संगठन हुआ, वह ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। एक व्याख्यान और दूसरा विधान। ब्राह्मण वेदमन्त्रों और सूक्तों की व्याख्या करते हैं। वह व्याख्या कहीं मन्त्रक्रम से है और कहीं यज्ञों की विधि के क्रम से है। वह व्याख्या पढ़ने वाले के हृदय में खूब अंकित कर देती है कि मनुष्य की बुद्धि सरलता में टेढ़ापन कैसे ढूंढ लेती है। दो एक दृष्टान्त पर्याप्त होंगे—

एक वेदमन्त्र का टुकड़ा है—'युद्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव' इस मन्त्र में उपमा रूप से कहा है कि 'जैसे रथी लोग घोड़ों को जोतते हैं वैसे ही हे परमात्मन् अग्ने! तू सब देवताओं को—भौतिक शक्तियों को—अपने २ कार्य में लगा।' यहां देवताओं को घोड़ों से उपमा दी गई है। उपमानोपमेयभाव साफ़ है—समानता बिल्कुल निर्विवाद है, परन्तु इतने से ब्राह्मण ग्रन्थों का सन्तोष कहां होने लगा था। ऐतरेय की पंचम पंजिका में उसकी इस प्रकार व्याख्या है—

'तान्ह स्मान्वेवागच्छन्ति समेवसृज्यन्ते तानश्वा भूत्वा
पद्भिरपाघ्नत यदश्वाभूत्वा पद्भिरपाघ्नत तदश्वाना
मश्वत्व मश्नुते यद्यत्कामयते य एवं वेद। तस्मादश्वः
पशूनां जविष्ठः। तस्मादश्वः प्रत्यङ्पदा हिनस्ति। अप
पाप्मानं हते य एवं वेद। तस्मादेतदश्ववद्यान्यं भवति।'

देवता लोग आगे को चले, और असुर लोग उनके पीछे ही पीछे चले आये। देवताओं ने जब और उपाय न देखा तो घोड़ों का रूप धारण कर के पिछले पैरों से मारना शुरू किया। घोड़े होकर पिछले पांव से मारा—यह अश्वों का अश्वत्व है। जो आदमी इस बात को जानता है वह जो कुछ चाहता है प्राप्त कर लेता है। इसी लिये घोड़ा सब पशुओं से तेज़ है। इसी लिये वह पिछली दुलत्तियां से मारता है। जो आदमी इस बात को जानता है, वह जो फल चाहता है प्राप्त करता है। इसी लिये अश्व के समान देवताओं का आश्व विधान है।

एक और नमूना लीजिए—आदित्य शब्द की व्याख्या करते हुए गोपथ ब्राह्मण लिखता है—

'अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्। तत उच्छिष्टमश्नात्। सागर्भमधत्त तत आ-दित्या अजायन्त।'

अदिति ने पुत्र की इच्छा से भात तय्यार किया । उस भात का शेष भाग खाया। उससे गर्भ होकर आदित्य उत्पन्न हुए ।

इस प्रकार की व्याख्यायें ब्राह्मणों में बहुत है । ब्राह्मणकारों नें सरल बात का महत्व पूर्ण कारण बताने के लिये प्रायः इसी प्रकार की कल्पनाओं तथा अर्थवादों से काम लिया है । मनुष्य बुद्धि इसी प्रकार बहुत सीधे अर्थ में उलझन डाल लिया करती है । यहां पर यह हृदय में अंकित कर छोड़ना चाहिये कि ब्राह्मणों के इन्हीं अर्थवादों के विस्तार का नाम पुराण हुआ। पुराणों में ब्राह्मणों की इन अद्भुत कल्पनाओं की नींव पर और भी अधिक शान्दार कल्पनाओं के महल खड़े किये गये हैं ।

ब्राह्मणों की इन कल्पनाओं को दिखाने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि उनमें सिवा झमेले के कुछ है ही नहीं । आज भी बहुत से वैदिक शब्दों के मूल अर्थ जानने में ब्राह्मण ही एकमात्र सहायक हो सकते हैं । मन्त्रों और मन्त्र खण्डों की व्याख्याद्वारा ब्राह्मणों ने वैदिक जनता का उपकार भी बहुत किया है—इसमें सन्देह नहीं ।

दूसरा विध्यंश है । ब्राह्मणों का मुख्य अंश यही है । ब्राह्मण नित्य नैमित्तिक यज्ञों की विस्तृत व्याख्या के लिये लिखे गये थे । यह कार्य वेदमन्त्रों की व्याख्या और चर्चा के बिना असम्भव था—इसलिये ब्राह्मणों में यज्ञों की विधि और यज्ञसम्बन्धी वेदमन्त्रों की व्याख्या—यह दोनों ही कार्य साथ साथ पाये जाते हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों की विधि की विस्तृत व्याख्या है—और उसके एक २ अंश का कारण समझाने का भी यत्न किया गया है । मुख्य ब्राह्मण यज्ञ को ही प्रधान मानकर उनकी व्याख्या करते हैं ।

यह कहना तो ठीक नहीं कि ब्राह्मण केवल कर्मयज्ञ को धर्म मानते है—ज्ञान या उपासना को तुच्छ समझते हैं, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में एक स्थान पर भी ज्ञान कर्म आदि की तुलना नहीं की गई । तुलनायें पीछे हुई और ब्राह्मण ग्रन्थों को ही धर्म-ग्रन्थ माननेवालों ने

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् इत्यादि

मीमांसा सूत्रों की यह व्याख्या की कि वेद का उद्देश्य केवल यज्ञ की विधि बतलाना है—जिसका तात्पर्य यज्ञ में नहीं, वह अनर्थक है । ब्राह्मणों में केवल कर्मांश की व्याख्या है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय दो भागों में बांटा जाय तो वह दो भाग व्याख्यान और विधान कहलायंगे । उनमें से पहला भाग आगे चलकर पुराणों और अन्य देशों की Mythlogy की कल्पनाओं का कारण हुआ और दूसरा भाग कर्मवाद और Ritualism का मूल सिद्ध हुआ ।

२. उपनिषदों का ज्ञानवाद

कर्मवाद बहुत बढ़ गया—उसकी अत्यन्तता से असन्तुष्ट होकर तथा वेदों के ज्ञानांश की व्याख्या के लिये आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। पहली उपनिषद् ईशोपनिषद् है—वह यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। शेष उपनिषदों ने उन्हीं की विचार श्रृंखला का अनुसरण करते हुए गहरे ज्ञानतत्व की व्याख्या की है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपनिषदें साफ़ तौर से उस कर्मवाद का प्रतिषेध करती हैं, जो ब्राह्मण ग्रन्थों से झलकता है, और ब्राह्मण ग्रन्थों के मुख्यांश में कहीं ज्ञानकाण्ड की चर्चा नहीं, इसलिये स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों से पीछे उपनिषदों की रचना हुई।

उपनिषदों में ब्रह्म की व्यख्या है, और उसके ज्ञान को सब से मुख्य माना गया है। 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञ रूपा:' इत्यादि वाक्यों द्वारा उपनिषत्कारों ने स्थान २ पर कर्म की निर्बलता बताई है और 'निचाय्यतन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (कठ) 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम् (कठ) 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति व: पाराय तमस: परस्तात्' (मुण्डक) इत्यादि वाक्यों में ज्ञान का गौरव दिखाया है। उपनिषदों से ज्ञान की वह दार्शनिक लहर उत्पन्न हुई, जो वैशेषिक से प्रारम्भ होकर वेदान्त में, और फिर वहां से विकृत होकर "खण्डन खण्डखाद्य" और "पञ्चलक्षणी" में समाप्त हुई। जिस ज्ञान की गम्भीरता के लिए भारतवर्ष ने इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उसका प्रारम्भ यहीं से हुआ।

उपनिषदों की प्रारम्भ की हुई ज्ञान-लहर का कहां २ तक प्रभाव फैला, इस विषय की विस्तार पूर्वक विवेचना यहां आवश्यक नहीं है। हम देख चुके हैं कि भारतवर्ष के दार्शनिक विचारों का पहला विस्तारसहित आविर्भाव उपनिषदों में हुआ और पीछे जितनी दार्शनिक शाखायें आविर्भूत हुईं, उनका बीज यदि वेद में था, तो उनका मूल उपनिषदें थीं। भारतवर्ष से बाहिर भारत के दार्शनिक विचारों का कहां तक असर हुआ, इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिये यह स्थान बहुत छोटा है, परन्तु संक्षेप से इतना बता देना अनुचित न होगा कि पुराने ग्रीस आदि देशों के दार्शनिकों ने उनसे बहुत सा लाभ उठाया था। मि० रिचर्ड गार्बे अपनी 'Philosophy of Ancient India' नाम की पुस्तक में लिखते हैं—

'फारस द्वारा ग्रीक विचारों के भारत से प्रभावित होने की ऐतिहासिक सम्भवता को बिना सन्देह के मानना पड़ेगा, और इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनपर

लिखे हुए विचार भारत से ग्रीस को प्राप्त हुए।' * थेल्स, एम्पिडोक्लीज़, अनेक्टसागोरस, डिमोक्रिटस, और सबसे बढ़कर पाइथागोरस ने भारत के दार्शनिक विचारों को खूब ही अपनाया था। यह सर्वसम्मत बात है कि योरप के सब दार्शनिक विचार ग्रीस के दार्शनिक विचारों से प्रारम्भ होते हैं। इस प्रकार यह कह देना अयथार्थ नहीं कि योरप अपने दार्शनिक विचारों के लिये भारत का आभारी है।

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि धार्मिक विचारों के इतिहास में दार्शनिक विचारों की चर्चा क्यों डाली गई? इसका उत्तर यह है कि इन दोनों प्रकार के विचारों का आपस में बहुत गहरा सम्बन्ध है। ईश्वर की सत्ता एक धार्मिक सिद्धान्त है, परन्तु वह प्रत्येक दार्शनिक के विचार का पहला विषय है। जीवात्मा है या नहीं? मनुष्य करने में स्वतन्त्र है या परतन्त्र? कर्मों का फल मिलता है या नहीं? परलोक है या नहीं? यह सब प्रश्न एक धर्माचार्य के लिये उतने ही आवश्यक हैं, जितने आवश्यक कि एक तत्ववेत्ता के लिये हैं। धर्म के भिन्न २ रूपों पर दार्शनिकों के विचारों की छाप साफ नज़र आती है। इस कारण यह मानना पड़ेगा कि भारत ने योरप को यदि दार्शनिक उपहार दिया है, तो योरप के धार्मिक विचार यह नहीं कह सकते कि हमने कुछ नहीं लिया, ईश्वर जीव परलोक आदि विषयों में ग्रीक तत्ववेत्ताओं द्वारा योरप को भारत ने बहुत कुछ दिया है, और यह धर्म की आधारशिलायें हैं।

ब्राह्मणों और उपनिषदों द्वारा वेदों ने किस प्रकार संसार के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया है, यह नीचे के चित्र से स्पष्टतया प्रतीत हो जायगा—
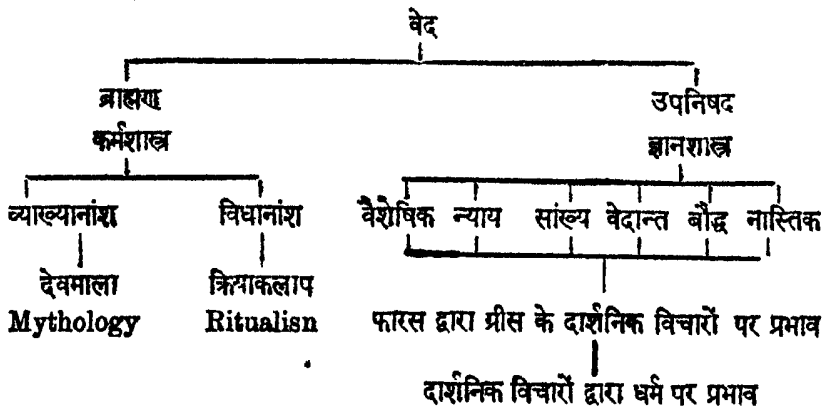
1. The Historical possibility of the grecian world of throught being influenced by India through the medium of Persia must inquestionably be granted, and with it the possibility of the above mentioned ideas benig transferred from India to Greece.

(Philosophy of Ancient India. Page 38.)

३. पारसी धर्म

आर्यपुरुषों की एक धारा मध्य एशिया से होती हुई ईरान में जा बसी। उस धारा के लोग पारसी कहाये। उन लोगों का धर्म पारसी धर्म कहाता है। वह अपने भाइयों के पुराने वैदिक धर्म के साथ लेगये थे—परन्तु समय और स्थान के व्यवच्छेद से वह बहुत विकृत होगया। उस समय पारसियों में एक धर्म का सुधारक उत्पन्न हुआ जिसने फिर से पुराने धर्म के उद्धार का यत्न किया। उस सुधारक का नाम स्पितामा ज़रदुस्त या पितामह जरदुस्त था। वह ध्यानावस्थित होने के लिये फारस से पूर्व की ओर गया और अपनी जाति के धार्मिक विचारों का सुधार करने का संकल्प करके वापिस हुआ। इस समय हमें जरदुस्त से पूर्व के विकृत पारसी धर्म के चिन्ह नहीं मिलते संशोधित हुआ पारसी धर्म विस्तारपूर्वक मिलता है। उसके देखने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि ज़रदुस्त जिस धर्म का प्रचार करता था, वह वैदिक-धर्म की एक शाखा थी।

यहां इस विषय पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। सर विलियम जोन्स, प्रो० मैक्समूलर, और डा० हाग आदि विद्वानों ने इस की बहुत विस्तार पूर्वक और मार्मिक व्याख्या की है—जिसके होते हुए सिद्ध करने को शेष कुछ नहीं रह जाता। उन लोगों ने बहुत अच्छी प्रकार से बतला दिया है कि पारसियों की धर्मपुस्तक ज़िन्द अवस्था की भाषा संस्कृत का रूपान्तर है, ज़िन्द अवस्था के उपदेश वैदिक उपदेशों से ८० फीसदी मिलते हैं, पारसियों के कर्तव्य धर्म और यज्ञ वैदिक क्रियाओं की छाया मात्र हैं। हम यहां थोड़े से प्रमाण देकर ही सन्तोष करेंगे, क्योंकि यद्यपि विषय बहुत ही लम्बा और मनोरंजक है, तथापि हमारे पास स्थान परिमित हैं।

(१) पहले भाषा को लीजिए। सर विलियम जोन्स ज़न्द भाषा के विषय में लिखते हैं—"जब मैंने ज़न्दभाषा के कोष को पढ़ा, तब मुझे वर्णनातीत आश्चर्य हुआ कि उसके दश शब्दों में से छः या सात विशुद्ध संस्कृत के हैं और कई तो व्याकरण से बने हुए रूप में भी समान ही हैं—जैसे युष्मद् का बहु वचन युष्माकम्।' (एशियाटिक रिसर्च) डा० हाग इस भाषा के बारे में लिखते हैं—

'ब्राह्मणों के और पारसियों के पवित्र सूक्तों की भाषायें एक ही जाति के दो भागों की भाषायें हैं' Essays.

दूसरे स्थान पर आप लिखते हैं—

"बिल्कुल बराबर न होती हुई भी, वह भाषायें इतनी समान हैं कि एक संस्कृत का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाला भी झटपट उन्हें पहिचान सकता है।"

प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं—

"उसकी (यूगन बर्नौफ की) किताबों से और बौपकी की तुलनात्मक व्याकरण की कीमती टिप्पणियों से स्पष्ट है कि व्याकरण और कोष की दृष्टि से ज़न्द भाषा अन्य इण्डो-योरपियन भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत के बहुत समीप है' Crips. Vol. 1

(२) अब सिद्धान्तों की समानता लीजिये। वैदिक-धर्म के मूल सिद्धान्तों में से एक मुख्य सिद्धान्त वर्णव्यवस्था का है। मनुष्य समाज को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र—इन चार भागों में बांटा गया है। पारसी धर्म में भी यह चार भाग रखे गये हैं।

प्रो० डार्मस्टाट अपनी ज़न्द अवस्था की भूमिका में लिखते हैं—

"हम इस (डिंकर्ट) में चार श्रेणियों का वर्णन पढ़ते हैं, जो ब्राह्मणों के जातियों के उत्पत्ति सम्बन्धी लेखों का बल पूर्वक स्मरण दिलाते हैं, और जो अवश्य भारत से लिया गया है"।

ज़न्द में जाति के पुरोहित, रथी, खेती करने वाला और हाथ से काम करने वाला-यह चार भाग किये गये हैं।

(३) पारसियों के उपास्य देवता वैदिक देवताओं से मिलते हैं—यद्यपि पारसी उन्हें देवता नहीं कहते। पारसियों का मुख्य ईश्वर अहुरमज़द या असुर महान् कहता है। अर्यमन् के स्थान में आयर्मन्, मित्र के स्थान में मिथ्र, नाराशंस के स्थान में नर्योसन्हा वृत्रघ्न के स्थान में वृत्रघ्न, और भग के स्थान में बघ—यह उनके उपास्य हैं। वेदों में जैसा वरुण देवता का वर्णन है, उसी प्रकार का ज़न्दावस्ता में महान् असुर का वर्णन है। वैदिक साहित्य में ३३ देवताओं का कथन है—(त्रयास्त्रिंशद्वै देवाः—ब्राह्मण) ज़न्दावस्ता में उनके स्थान पर ३३ रतु कहे गये हैं।

दोनों में एक भेद है। वैदिक परिभाषा में देव शब्द का प्रयोग उत्कृष्ट अर्थों में होता है, ज़न्द की परिभाषा में वह बुरे अर्थ देता हैं। वहां परमात्मा को असुर कहा गया है। वेद में देव और असुर दोनों ही शब्द ईश्वर के लिये आते हैं—और उत्तम अर्थ देते हैं। ब्राह्मणों में असुर शब्द बुरे ही अर्थों में आता है, उसका अच्छा अर्थ बिल्कुल लुप्त होगया है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने असुरों को देवताओं के सामने सदा नीचा दिखाया है। इस भिन्नता से दो बातें प्रतीत होती हैं। प्रथम तो यह कि पारसी धर्म के विचार वेदों से लिये गये हैं—ब्राह्मणों से नहीं। दूसरी बात यह कि ब्राह्मणों और ज़न्द के लेखकों के दिलों में एक दूसरे के लिये एक विशेष विरोध भाव था—यही कारण था कि वह दोनों एक दूसरे के उपास्यों को नीचा दिखाने का यत्न करते थे। यह विषय मनोरंजक है और इसकी विस्तृत विवेचना बहुत से ऐतिहासिक रहस्य उद्घाटित कर सकती है—परन्तु उसके लिए यह उचित स्थान नहीं है।

(४) दोनों के यज्ञों में बहुत समानता है। यज्ञों और यज्ञ की विधियों में बहुत सी बातें मिलती हैं। यज्ञ के लिये पारसियों के पास यस्त शब्द है। होता को वह ज़ोता कहते हैं, अथर्वन् के स्थान में उनके पास अथवा शब्द है। इष्टि और आहुति पारसियों की इष्टि और आज़ुति हैं। यज्ञों की विधियां तक एक सी है। ज्योतिष्टोम दर्श पौर्णमास आदि नामान्तर से ज़न्द में पाये जाते हैं। सोमवल्ली का नाम पारसियों में होम है।

(५) पारसी लोगों के लिये यज्ञोपवीत का विधान है। गौ मारने तथा मांस खाने का निषेध है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त ज़न्दावस्ता में पाया जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति का ज़न्दावस्ता में जो वर्णन है वह वेदों और उपनिषदों के सृष्टि प्रकरण का स्मरण कराता है।

ऊपर के लेख से सिद्ध है कि पारसियों का वह धर्म जिसका उपदेश ज़न्दावस्ता द्वारा ज़रदश्त ने किया था, वैदिकधर्म का रूपान्तर है। यह हम पहले दिखा आये हैं कि वेदों का समय ज़न्दावस्ता के समय से बहुत पहले का है। इससे स्पष्ट है कि जैसे भारत में वेदों से ब्राह्मण ग्रन्थों का धर्म उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार फारस में असुर-धर्म विस्तृत हुआ। दोनों में भेद इतना ही है कि एक ने अपने मूल को याद रखा और स्वीकार किया, दूसरे ने उसे भुलाने का यत्न किया और भुला दिया। *

* पारसीधर्म के बारे में हाग और डार्मस्टट के लेख प्रामाणिक समझे जाते हैं। हाग के निबन्ध और डार्मस्टट की ज़न्दावस्ता के अनुवाद की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। वैदिकधर्म और पारसीधर्म की तुलना के लिए बा० गंगाप्रसाद एम. ए. का 'धर्मों का मूल स्रोत' और महात्मा मुंशीराम जी का 'पारसीमत और वैदिकधर्म' यह ट्रैक्ट देखने योग्य है।

तीसरा परिच्छेद।

प्राचीन विश्वासों पर वेदों का प्रभाव

चीन और मिसर,

हम यह सिद्ध नहीं किया चाहते कि संसार में जितने मत सम्प्रदाय या धर्म उत्पन्न हुए हैं उन सब की प्रत्येक बात वेद से ली गई है। यह न केवल उपहास्य है—असम्भव भी है। न हम यही बताना चाहते हैं कि मनुष्यबुद्धि ने अभी तक धर्म के क्षेत्र में कोई नया काम नहीं किया। मनुष्य के दिमाग़ ने पहले विद्यमान मसाले के आधार पर बहुत सी धार्मिक और आत्मिक सचाइयां खड़ी की हैं। यहां यह दिखाना अभिप्रेत है कि कई मार्गों से होते हुए वेदों के विचार प्रायः मनुष्य जाति के हरेक भाग में पहुंच चुके हैं और अपना प्रभाव उत्पन्न कर चुके हैं। मूल स्रोत के नाले और नालियों का जल बड़े २ मत मतान्तरों की नदियों में मिलकर उन पर प्रभाव उत्पन्न करने का यत्न कर चुका है। जो धर्म सीधे वेदों से उत्पन्न हुए उनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं—एक बौद्ध धर्म रहा है—जिसकी चर्चा आगे की जायगी। यहां उन मतों और विश्वासों के बारे में कुछ कहना है जो वैदिक-धर्म से उत्पन्न नहीं—केवल प्रभावित हुए हैं। प्राचीन धर्मों में कई बातें इतनी समान पायी जाती हैं कि उनकी सत्ता आकस्मिक नहीं हो सकता। प्रतीत होता है कि अवश्य ही किसी समय इन सब जातियों के परस्पर सामीप्य तथा मेल जोल रहे होंगे, और जो प्राचीन धर्म था उससे शेष सब प्रभावित हुए होंगे। एक २ धर्म की वैदिक धर्म के साथ जो समानतायें हैं, उन्हें दिखाने के लिये यह स्थान उचित नहीं है। यहां तो हमें केवल धार्मिक विचारों का विकास और विस्तार देखना है। उसके लिये समानताओं का दिग्दर्शन मात्र पर्याप्त है।

चीन का प्राचीन धर्म

जब हम नीचे के प्राचीन सिद्धान्तों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें भारत के प्राचीन धार्मिक विचारों के साथ अपूर्व समानता दिखाई देती है। चीन की ईसा से २५१४ वर्ष पूर्व की धार्मिक अवस्था पर दृष्टि डालते हैं तो हमें दिखाई देता है कि वहां के लोग परमात्मा को पिता और पृथिवी को माता मान कर पूजते थे। परमात्मा धर्म और अधर्म का अच्छा और बुरा फल देने वाला था। सब से बड़ी बात यह है कि उस समय के चीन के धार्मिक विचारों में शैतान या नरक के लिये कोई स्थान नहीं था।

चीन के प्राचीन धर्म का वृत्तान्त देते हुए प्रो० हर्बर्ट ए. गाइल्स अपने Religions of Ancient China नाम की पुस्तक में लिखते हैं।

"In this primitive monotheism, of which only scanty, but no doubt genuine records remain, no place was found for any being such as the Budhist mara or the Devil of the old and new Testements."

"इस प्राचीन एकेश्वरवाद में, जिसके बहुत कम परन्तु असली सबूत मिलते हैं, बौद्धों के मार या पुराने वा नये अहदनामे शैतान के लिये कोई स्थान नहीं है।"

प्राचीन वैदिक विचारों में हम यह एक बड़ी विशेषता देखते हैं कि बुराई के पैदा होने के लिए किसी जुदा शैतान की आवश्यकता नहीं समझी गई। परमात्मा ही भलाई और बुराई का फलदाता है। कर्म करने वाला जीव है। वेद एक ही शक्ति को स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद कहता है 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" चीन के विश्वासों के विषय में प्रो० हर्थ अपने Ancien History of China नामक ग्रन्थ में लिखते हैं— From records of SU KING we are bound to admit that the ancient Chinese were decided nonotheists' प्राचीन शूकिंग के लेखों से मानना पड़ता है कि चीन के प्राचीन निवासी निश्चित एकेश्वरबादी थे।

विश्वासों को छोड़कर अब हम यज्ञों की ओर आते हैं। यज्ञों के सम्बन्ध में हमें चीन और भारत में अपूर्व सफलता दिखाई देती है। चीन के यज्ञ का डा० लैग (Dr. Legge) ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है—

The " ceremonies and the sacrifices" were preceded by fasting and various purifications on the part of the king and the parties who were to assist in the performances of them.

Libations of fragrant spirit were made to attract the spirits, and their presence was invoked by a functioncry who took his place inside the principal gate.

यज्ञों से पूर्व व्रत और अनेक प्रकार की शुद्धियों का करना राजा और उसके पुरोहितों के लिये आवश्यक होता था। सुगन्धित रसों की आहुति दी जाती थी ताकि देवता बुलाये जा सकें, और उनका आह्वान करने का काम एक कार्यकर्त्ता करता था, जो मुख्यद्वार के अन्दर की ओर खड़ा होता था।

हम दोनों यज्ञों के विस्तृत वर्णनों को पढ़कर इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि दोनो परस्पर बिल्कुल असम्बद्ध नहीं हैं।

भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन ही नहीं, मध्यकाल के बहुत से विश्वासों का भी चीन के उस समय के विचारों से बहुत सा सम्बन्ध प्रतीत होता है। चीन में मध्यकाल में हम यज्ञों के साथ वृषभ के बलिदान का वर्णन पढ़ते हैं। मरे हुए बुजुर्गों के जीवित रहने का विचार बहुत पुराना था। उसके साथ धीरे २ हम मनुष्यों के श्राद्ध की प्रथा को भी चलता हुआ पाते हैं। डा० लैग 'शीकिंग' के अनुवाद में लिखते हैं—

" A belief in the continued existence of the dead in a spirit state and in the duty of their descendants to mantain by religious worship a connection with them, have been chracteristics of the chinese people from their first appearance in history."

इतिहास के प्रारम्भ से ही हम देखते हैं कि चीनी लोग अपने मृतों के सूक्ष्म रूप में रहने, और सन्तानों के धार्मिक पूजा द्वारा उनके साथ सम्बन्ध स्थिर रखने में विश्वास रखते थे।"

यही विशेषता हमारे मध्यकाल के विचारों में पाई जाती है। यदि विचारों की पद्धति पर ध्यान दें तब भी हमें कुछ समानता दिखाई नहीं देती। प्रो० विनय कुमार सरकार ने इस विषय को अपनी "Chinesl Religion through Hindu Eyes" नाम की पुस्तक में बड़ी योग्यता से प्रतिपादन करते हुए बताया है कि चीन का धार्मिक विचार प्रवाह प्रायः उसी प्रकार चला है, जैसे भारतीय धार्मिक विचारप्रवाह। यह समानता किसी सम्बन्ध के विना नहीं हो सकती। यह अनुमान करना कुछ अनुचित नहीं प्रतीत होता है कि इतना सादृश्य और स्थान में इतनी समीपता रहते भी भारत ने चीन पर कोई प्रभाव नहीं डाला। भारत पर चीन का प्रभाव जानने के लिये हम कोई भी प्रमाण नहीं देखते। चीन के धार्मिक विचार समय की दृष्टि से भारत से अर्वाचीन हैं। चीन के प्राचीन लेखकों के कथनानुसार वहां का धार्मिक विकास ईसा से २९५३ वर्ष से पूर्व के लगभग प्रारम्भ होता है। उस समय फू-सी (Fu Hsi) नामक राजा ने यज्ञ और पूजा का संगठन किया था। ऋग्वेद का प्रारम्भ समय आज कल के योरपियन विद्वानों के मत में भी इससे बहुत पुराना है। इस कारण यह कल्पना निर्मूल नहीं है कि चीन के प्राचीनतम विचारों पर भी वेदों के विचारों का प्रभाव विद्यमान था।

मिश्र

जब चीन से चलकर हम मिश्र में पहुंचते हैं, और वहां के धार्मिक विचारों का अनुशीलन करते हैं तो हमें भारतीय विचारों से कुछ कम समानता नहीं मिलती। उस समानता को देखकर इस परिणाम पर पहुंचना कठिन नहीं है कि भारत तथा मिश्र के

विचारों का परस्पर सम्बन्ध अवश्य रहा है। भारत और मिश्र में धार्मिक विचारों का भिन्न २ रूप से विकास अवश्य दिखाई देता है—परन्तु प्रारम्भ एक सा ही है। हम दोनों देशों के विचारों के प्रवाहों के साथ २ ऊपर को जायं तो इसमें सन्देह नहीं रहता कि उनका मूल स्रोत कोई एक ही होगा। बहुत विस्तृत विवेचन के लिये हमारे पास स्थान नहीं है। हम कुछेक मुख्य २ सिद्धान्तों की तुलना पर ही सन्तोष करेंगे।

पहले हम मिश्र के ईश्वर सम्बन्धी विश्वासों को लेते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में, मिश्र के निवासी एक ईश्वर में विश्वास रखते थे। उनके ईश्वरसम्बन्धी विश्वास का "ईजिप्त का धर्म" (Egyption Religion) नामक पुस्तक में डा० बजने निम्न लिखित शब्दों में वर्णन किया है—

" A study of ancient Egyption religious texts will convince the readers that the Egyptions believed in one God who was self existent, immortel, invisible, eternal, omniscient, almighty and inscrutable, the maker of the heavens, earth, and underworld; the creator of the sky and sea, men and women, animals and and birds, fish and creeping things, trees and plants, and the incorporeal beings who were the messengers, that fulfilled his wish and word."

पुराने मिश्र के धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से पाठक को निश्चय हो जायगा कि मिश्र निवासी ऐसे एक ईश्वर में विश्वास करते थे, जो स्वयम्भू, अमर, अदृश्य, नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, और अज्ञेय हैं, जो द्युलोक पृथिवी और पाताल का निर्माता है, जो आकाश और समुद्र, पुरुष और स्त्री, पशु और पक्षी, मछली और सर्पणा शील जन्तु, वृक्ष और वनस्पति का निर्माता है और उन सूक्ष्म प्राणियों का भी उत्पन्न करने वाला है जो उसकी इच्छा और आज्ञा का पालन करने वाले दूत हैं।

पुराने मिश्र के ग्रन्थों में देवता रूप से, हापी (Hapi) नाम से, ईश्वर की निम्न-लिखित शब्दों में, स्तुति की गई है—

"He can not be figured in stone, he is not to be seen in the sculptured images upon which men place the united crowns of the South and the North furnished with uraei, and he can not be made to come forth from his secret place. The place where he liveth is unknown; he is not to be found in inscribed shrines; there existeth no habitation which can contain him, and thou canst not concieve his forms in thy heart.

वह पत्थरों में नहीं चित्रित किया जा सकता; दक्षिण और उत्तर के विशेष आभूषणों (uraei) से सुसज्जित मुकुट जिन मूर्तियों पर रखे जाते हैं, उनमें भी वह दिखाई नहीं दे सकता, उस तक न कार्य और न भेंटे पहुंचाई जा सकती हैं; और उसे उसके गुप्त स्थान से बाहिर नहीं निकाला जा सकता। उसके निवास का स्थान अविदित है, वह अंकित समाधों में नहीं ढूंढा जा सकता, ऐसा कोई स्थान नहीं है, जिसमें वह समा सके; तुम उसकी आकृति का अपने हृदय में ध्यान नहीं कर सकते"।

इन दो उद्धरणों में ईश्वर सम्बन्धी विश्वास का सारांश आजाता है। इन वाक्यों की निम्नलिखित वेद मन्त्रों से तुलना कीजिए, तो आपको अद्भुत समानता दिखाई देगी—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

यजु० । ४० । ८

वह परमात्मा व्यापक है, शरीर रहित है, उसके शरीर पर घाव नहीं होता, वह नाड़ी नस के बन्धन से रहित है। वह शुद्ध है। पाप का उसमें लेश नहीं है। सत्य ज्ञान का कहने वाला, ज्ञानी, साक्षी, स्वयं ही विद्यमान, और सब पदार्थों का सदा से निर्माण करने वाला वही है।

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।

जिसका अत्यन्त महान् यश है, उसकी मूर्ति नहीं हो सकती।

पुरुष एवेदंऽसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। यजु० । ३१ । २

जो कुछ है या होगी, वह सब कुछ ईश्वर ही में है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ० । १० । १९० । ३

परमात्मा ने सदा की भांती सूर्य चन्द्र आदि का निर्माण किया।

इस समानता के अतिरिक्त दो और बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं। पुराने मिश्र निवासी जहां एक ओर एक देवता वादी थे, वहां दूसरी ओर वह अनेक देवतावादी भी थे। उनके देवता भी गिन्ती में सैंकड़ों तक पहुंचते थे। अनेक देवताओं के होते हुए भी वह एक ही देवता को मुख्य मानते थे। सब देवताओं के नाम एक मुख्य देवता के नामवाची माने जाते थे। तेमू (Temu) आत्मू (atmu) आदि जो एक ओर सूर्य के नाम हैं, देवों के पिता और ईश्वर के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। ओसिरस आइसिस आदि नाम भिन्न २ देवताओं के होते हुए भी प्रायः ईश्वर के विशेष नामान्तर नतर (neter) के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं। बिल्कुल यही दशा वैदिक देवतावाची शब्दों की है।

ईश्वर का मुख्य नाम नतर (neter) है जिसका अर्थ ऐश्वर्य और बल है। नतर शब्द बिल्कुल इन्द्र का पर्याय वाची प्रतीत होती है।

दूसरी बड़ी भारी समानता जीव उसकी नित्यता और पुनर्जन्म में विश्वास है। यह विचार भारत और मिश्र का ख़ास अपना है। अन्य देशों में इस स्पष्टता से यह नहीं मिलता, जिस स्पष्टता से इन देशों में मिलता है। मिश्र के प्राचीन धर्म में मरे हुए प्राणी का पुनर्जन्म और न्याय माना जाता था। उसमें जीवात्मा "अनी" (Ani) कहाता था, जिसकी अन् धातु से उत्पत्ति प्रतीत होती है। प्र + अनी इन दोनों के मिलाप से प्राणी बनता है। हृदय का नाम 'क' था। 'क' नाम सुखमय आत्मा का है। मिश्र में भी 'क' शब्द चेतनता का पर्यायवाची प्रतीत होता है। हमारे साहित्य के स्वर्ग नरक यम तथा देवमालासम्बन्धी मध्यकालिक विचारों का प्रतिबिम्ब भी मिश्र के तत्कालीन धार्मिक साहित्य में पाया जाता है।

मिश्र में इन विचारों की चर्चा को देख कर डा० बज ने लिखा है कि यह कहना कठिन है कि मिश्र के धर्म के यह विशेषतायें कहां से आईं। उन्हें सन्देह है, परन्तु संदेह रखने की कोई बात नहीं। मिश्र में यह सिद्धान्त आगन्तुक थे, और जहां से वह गये वह स्थान भारत था। मिश्र के धार्मिक विचारों का मूलस्रोत भारत के वेदों में मिलता है।

चतुर्थ परिच्छेद

बौद्ध धर्म ।

ईसा से लगभग ४०० साल पूर्व बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्धधर्म के जन्म दाता गौतमबुद्ध का जन्म एक हिन्दू राजवंश में हुआ था। स्वभाव से ही वह विवेक शील और दयालु स्वभाव के थे। छोटी से छोटी बात उन पर असर डालती थी, और दूसरे का क्षुद्र से क्षुद्र दुःख उनके हृदय पर आघात पहुंचता था। उन्होंने संसार पर दृष्टि उठाई तो उसे दुःख का घर पाया। किसी को शारीरिक और किसी को मानसिक दुःखों का शिकार देखकर वह चिन्तित हुए और अपने तथा संसार के दुःख दूर करने के उपायों पर विचार करने लगे। उसी विचार की गम्भीरता में आकर गौतमबुद्ध ने राजपाट छोड़ा, पुत्र कलत्र का त्याग किया और इस दुःखमय संसार की गहरी वेदनाओं पर विचार करना प्रारम्भ किया। महात्मा ने जब मनुष्यजाति के दुःख के कारणों पर विचार किया तो उन्हें भान हुआ कि उसके कुछ ऐसे कारण हैं जो मनुष्यों के अपने व्यक्तिगत सामाजिक आचरणों से सम्बन्ध रखते हैं। जो २ कारण महात्मा बुद्ध को दिखाई दिये उनमें से मुख्य तीन थे। पहला यह कि मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करने के लिये पशुओं की हिंसा करते थे, और क्रूरता को बढ़ाते थे। दूसरा कारण यह था कि लोगों में झूठे जात पांत के अभिमान और भेद बढ़ गये थे, जो मनुष्यों की उन्नति को रोक रहे थे। तीसरा कारण यह था कि लोग भिन्न २ प्रकार के विश्वासों और विचार की बारीकियों पर बहुत अधिक ध्यान देते थे, और व्यक्तिगत आचरणों की उपेक्षा करते थे। पुराने वैदिक धर्म के आदर्श बिगड़ गए थे। समाज में कुरीतियों का जाल फैल गया था।

महात्मा बुद्ध ने इस बात को अनुभव किया कि मनुष्यों की दशा बिगड़ गई है। उनके जीवन में अनेक स्थान पर ऐसी चर्चा आती है कि जहां उन्होंने शिष्यों को पुराने धर्मात्माओं के उपदेश मानने की शिक्षा दी। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का प्रचार किया वह कोई नया नहीं था, बौद्धधर्म के विद्वान् टी. डब्लू. रिस डेविड्स ने 'बुद्धिज्म' नामक पुस्तक के दूसरे परिच्छेद में बुद्ध के चरित की घटनायें देकर अन्त में लिखा है—

"मुझे आशा है कि ऊपर दिया हुआ वर्णन इस प्रचलित मिथ्या विचार को निवृत्त करने के लिए पर्याप्त होगा, कि गौतम बुद्ध हिन्दू धर्म का शत्रु था, और यह सिद्ध करने के लिए भी पर्याप्त होगा कि उसने असमानता का अत्याचार और दम्भ का नाश करके अपने देशवासियों का धन्यवाद कमाया था। गौतम उत्पत्ति वृद्धि जीवन और मृत्यु में ठेठ हिन्दुस्तानी रहा। हिन्दुइज्म उस समय तक पैदा ही नहीं हुआ था। अपने सम्बन्ध में प्रचलित धर्म के साथ उसने कोई संग्राम नहीं किया। उसका उद्देश्य उसे (प्रचलित धर्म को) बनाने और मज़बूत करने का था, नष्ट करने का नहीं"।

मि० आर० सी० दत्त बुद्धदेव और बौद्धधर्म के बारे में लिखते हैं—

'उसने कोई नया आविष्कार नहीं किया, उसने कोई नया ज्ञान प्राप्त नहीं किया' एन्शयण्टइण्डिया। २।

दूसरे स्थान पर इसी पुस्तक में दत्त महाशय फिर लिखते हैं—

"यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से अशुद्ध होगा कि गौतमबुद्ध ने जान बूझकर कोई नया धर्म खड़ा करने का बीड़ा उठाया था। इससे उल्टा, उसे अन्त तक विश्वास था कि वह धर्म के उस पुराने और शुद्ध स्वरूप की घोषणा दे रहा है जो पुराने हिन्दू ब्राह्मण श्रमण और अन्यों में प्रचलित था, और पीछे से बिगड़ गया था"।

ऊपर दो विद्वानों की सम्मतियां दी गई हैं। बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन उन सम्मतियों की सर्वथा पुष्टि करता है। गौतम बुद्ध ने कर्तव्य धर्म पर बल दिया है, दार्शनिक विचारों को औरों के लिए छोड़ दिया है। जिन कर्तव्य धर्मों का बुद्धदेव ने उपदेश दिया है, वह कोई नये नहीं। यम नियम और धर्म के मनूक्त लक्षणों की अधिक गहरी और क्रियात्मक व्याख्या द्वारा गौतमबुद्ध ने मनुष्य जामि को अधिक प्रिय और अधिक शुद्ध बनाने का यत्न किया था।

बौद्ध धर्म के कुछ सिद्धान्तों पर दृष्टि डालिये। बौद्ध लोग संसार को परिवर्तनशील मानते हैं, पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। बौद्ध लोगों की वस्तुयें वही हैं-केवल उनका श्रेणि भेद जुदा है। भूत इन्द्रिय गुण लिंग संस्कार कर्म आदि का श्रेणिभेद भी समान है। वेदना स्कन्ध आदि का श्रेणिभेद नया है। बहुत गहरे दार्शनिक सिद्धान्तों पर महात्मा बुद्ध चुप ही रहे। ईश्वर या सृष्टि रचना आदि के सम्बन्ध में उनका जो व्यवहार था, वह नीचे लिखी दो घटनाओं से स्पष्ट हो जायगा।

"जब आन्तुक ने बुद्ध से पूछा कि संसार की रचना नित्य है या अनित्य तो उन्हों ने कोई उत्तर न दिया क्योंकि आचार्य ने इस प्रश्न को कुछ उपयोगी नहीं समझा" मझिम। १।

इसी प्रकार जब एक वार किसी शिष्य ने परमात्मा के बारे में पूछा तो आचार्य का उल्टा प्रश्न यह था कि 'क्या तू अपने आपको जान गया है ?' गौतम बुद्ध के समय प्रतीत होता है कि वेदों के बिल्कुल उल्टे अर्थ लिए जाते थे, इसलिये उन्होंने वेद का नाम नहीं लिया। कहीं २ वेद का उपेक्षा से नाम लिया है परन्तु वह गीता के इस वाक्य के सदृश ही है—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन'

हे अर्जुन ! वेद त्रिगुण विषय है, तू त्रैगुण्य से भी ऊपर उठ जा।

"यावानर्थ उद्पाने सर्वतः संप्लुतोदके
"तावान्सर्वेषु वेदेषु पुरुषस्य विजानतः"

चारों ओर पानी भरा हुआ हो—उसमें एक चुल्लू भर का पीना जो महत्त्व रखता है, ज्ञानी पुरुष के लिये वेदों में उससे अधिक कुछ नहीं।

गीता को कोई नास्तिक या वेद निन्दक नहीं कहता। गीता का तात्पर्य वेद की निन्दा में है भी नहीं—उसका तात्पर्य एक पूर्ण ज्ञानी के लिये शब्दमात्र की तुच्छता दिखाने में है। इसी प्रकार बुद्धदेव ने भी ईश्वर, सृष्टि रचना आदि गम्भीर विषयों को और ईश्वरीय ज्ञान के मसले को यह समझकर निरुत्साहित किया है कि लोग इनके झमेलों में पड़कर अपने जीवन का सुधार करना भूल जाते हैं। गौतम बुद्ध ने एक स्थान पर भी यह नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है, या वेद अप्रामाणिक है। इनके लिए बुद्ध का भाव विरोध का नहीं, उपेक्षा का था।

इस समय बुद्ध को नास्तिक मानने का दोष बौद्ध विद्वानों के सिर पर ही पड़ता है। साम्प्रदाय की पुष्टि के लिये आचार्य के पीछे बौद्ध गुरुओं ने यह आवश्यक समझा कि बौद्ध धर्म को सर्वांग सम्पूर्ण बनाया जाय। उसके लिए कटी छंटी हुई एक फिलासफी बनाई गई, जिसमें ईश्वर का खण्डन, वेद का खण्डन आदि रखकर छोटे २ भेदों पर बहुत अधिक बल दिया गया और समानताओं को बिल्कुल भुला दिया गया।

बुद्ध ने जीवन सम्बन्धी जिन सुनहरे धर्मों का उपदेश दिया है वह श्रौत उपदेशों से कुछ अधिक भिन्न नहीं है। भेद इतना ही है कि उनके लेबल बदल दिये गये हैं, श्रेणि-विभाग में कुछ भेद आगया है, शेष कुछ नहीं। हम नीचे कुछ सिद्धान्तों की तुलना करके दिखाते हैं। बुद्ध के बौद्ध उपदेशकों के लिये आठ मुख्य उपदेश यह हैं:—

'दूसरे का जीवन नष्ट न करना चाहिये' = अहिंसा

'विना दिये न लेना चाहिये' = अस्तेय

'झूठ न बोलना चाहिये' = सत्य

'मद्यपान न करना चाहिये
'अनुचित स्त्री सम्बन्ध वर्जित है
'रात्रि को ऐसा भोजन न करना चाहिये जो विकार उत्पन्न करे'
'माल्य या सुगन्ध का व्यवहार ठीक नहीं'
} = ब्रह्मचर्य्य

'भूमि पर चटाई बिछाकर सोना चाहिए' = अपरिग्रह

इसी प्रकार बुद्ध ने निम्नलिखित १० पाप गिनाये हैं—

(१) हिंसा (२) चोरी (३) व्यभिचार (४) झूठ (५) परनिन्दा (६) शपथ (७) व्यर्थवाद (८) मन का खोट (९) ईर्ष्या (१०) अविश्वास।

मन की १० भूले हैं, जिन्हें निवृत्त करना चाहिये—

१. सकाय-दित्थि (अपने आपको भूल जाना)

२. विचिकिच्छा (सन्देह)

३. काम

४. पतिघ (घृणा)

५. रूप राग (पार्थिव कामना)

६. अरूप राग (स्वर्गीय कामना)

७. सिलवत परमाशा (कार्यों पर आशा)

८. मानो (अभिमान)

९. उद्धच्च (औद्धत्य)

१०. अविज्जा (अविद्या)

इसी प्रकार के सदुपदेश है, जो मनुष्य जीवन के सुधार के लिये दिए गए हैं। इनमें कोई नवीनता नहीं, सुन्दरता है। भेद है तो केवल श्रेणि विभाग में।

गौतमबुद्ध का धर्म क्रियात्मक धर्म है। उसने अनुभव किया कि भारत की जनता बहुत गिर गई है, पुराने सदुपदेशों को भूल गई है। नया श्रेणि विभाग करके महात्मा ने लोगों को जीवन सुधार का उपाय बतलाया। वही पुरानी वैदिक सचाइयां नये ढंग पर कह सुनाई—और इस बात को छिपाया भी नहीं।

—:०:०:—

पांचवां परिच्छेद

यहूदी, ईसाई और मुहम्मदी धर्म्म

अब हम तीन ऐसे धर्मों की ओर आते हैं, जो समय में बहुत कुछ अर्वाचीन है। यहूदी धर्म के अनुयायी तो अपने धर्म्म का प्रारम्भ बहुत पुराना मानते हैं-परन्तु हम उसे ईसा से ४५० वर्ष से अधिक पूर्व का नहीं मान सकते। ईसाई धर्म को स्थापित हुए १६१६ के लगभग साल हुए हैं-और मुहम्मदी धर्म का संस्थापक ५७० ईस्वी में उत्पन्न हुआ था। जब हम इन तीनों धर्मों पर दृष्टि डालते हैं तो उनमें दो अंश पाते हैं। यह तीनों ही मानुषिक धर्म हैं-विशेष मनुष्य इनके संस्थापक हैं-इसलिये उनके व्यक्तित्व के साथ वह धर्म बंधे हुए हैं। इस कारण उन धर्मों का पहला भाग संस्थापक के साथ निजू सम्बन्ध रखता है। उनका दूसरा अंश सिद्धान्तांश है। उस हिस्से में हम देखते हैं कि इनमें से प्रत्येक अपने से पहले के किसी एक या किन्हीं दो तीन धर्मों पर ही आश्रित है। हरेक धर्म में हम उस पुराने धर्म की चादर को ढूंड सकते हैं जिस पर नया चित्र खेंचा गया। हर स्थान पर चादर पुरानी है और चित्र व्यक्ति का बनाया गया है। चित्र बनाने के लिए जो रंग काम में लाये गये हैं वह भी पुराने धर्मों के हैं। हम इन तीनों में से क्रमशः एक २ को लेकर अपने इस कथन को प्रमाणित करते हैं।

यहूदी धर्म

पारसी धर्म का संस्थापक ज़रदुस्त का जन्म 'आर्यनम् वीगा' नाम के स्थान में हुआ था। यह निश्चित बात है कि ज़रदुस्त ने वेदों के धार्मिक सिद्धान्तों का रूपान्तर करके फारस में प्रचार किया। उसे वेदों के धार्मिक सिद्धान्त यदि कहीं सुनने को मिले होंगे, तो आर्यनम् वीगा में ही मिले होंगे। आर्यनम् वीगा में सम्भवतः वेदों के जानने वाले कुछ विद्वान् होंगे जिनसे ज़रदुस्त ने वैदिक धर्म के सिद्धान्त सुने और समझे, और फिर उन्हें अपने ढंग पर, जाति की आवश्यकताओं के अनुकूल रूप देकर ईरान में प्रचार किया।

यहूदी धर्म के संस्थापक ने जिस नगर में बैठकर धार्मिक विवेचनायें कीं, उसका नाम हरन है। जर्मनी के डा० स्पीगल की सम्मति है कि यह हरन नाम का शहर वही

है, जिसका दूसरा नाम 'आर्यनम वीगा' है। डा० स्पीगल ने कई प्रमाणों से सिद्ध किया था कि पारसी धर्म के संस्थापक ज़रदुस्त और यहूदी धर्म के संस्थापक अब्राहम का समय एक ही है—और वह ईसा से लगभग १६२० वर्ष पूर्व है। दोनों का निवास प्रायः एक ही प्रदेश में था। यहां तक तो बात बहु सम्मत है—परन्तु आर्यनम् और हरन का एक होना बहुत लोग स्वीकार नहीं करते थे। प्रो० मैक्समूलर ने डा० स्पीगल के सिद्धान्त पर बहुत सी आशंकायें उठाई थीं। परन्तु उससे पीछे के विद्वानों ने स्थान और समय की तुलनायें करके इस सम्भावना को बहुत ज़बर्दस्त कहा है कि आर्यनम् और हरन एक ही स्थान है—और वहां दोनों आचार्य एक ही समय में रहे हों। पारसी और यहूदी धर्म में परस्पर समानता होने का पहला कारण यही सम्भव है कि उनके संस्थापक एक ही समय एक ही स्थान में रहे—और कोई आश्चर्य नहीं कि एक ही गुरु से पढ़े हों।

इन दोनों धर्मों का परस्पर सम्बन्ध यहीं समाप्त नहीं होता। ईसा से पूर्व पांचवीं सदी में ईरान के राजा साइरस ने बैबीलोनिया के साम्राज्य का नाश किया, और यहूदी लोगों को कैदखाने से छुड़ा कर जेरूसलम में फिर से स्थान दिया ताकि वह लोग हिब्रू साहित्य को पुनर्जीवित कर सकें। वहां, ईरान के राजा की संरक्षा में बैठकर इज़रा और नहमिया ने पुरानी बाइबिल का संस्करण किया और इसी समय 'पॅन्टाटयूक की' रचना हुई। क्या यह अधिक सम्भव नहीं कि ऐसी दशा में यहूदियों के धार्मिक सिद्धान्तों पर ज़िन्दावस्ता के प्रबल संस्कार हों?

इतना ही नहीं—इन दोनों धर्मों का परस्पर सम्बन्ध और भी आगे चलता है। ईसा से तीन सदियां पूर्व सिकन्दरिया में अवस्था और पुरानी इन्जील—दोनों का ग्रीक भाषा में अनुवाद हुआ। उस समय उस इतिहास प्रसिद्ध नगर में दोनों ही धर्मों के मानने वाले लोग एकत्र थे और यह कुछ असम्भव नहीं कि उस समय पारसी धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव यहूदी धर्म पर पड़ा हो।

दोनों के सिद्धान्तों को मिलाएं तो यह सम्भावनायें निश्चित ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती हैं। देखिए—

१. पारसी धर्म का आचार शास्त्र इस कल्पना के साथ शुरू होता है कि संसार में दो शक्तियां हैं--एक अच्छी है जिसका नाम अहुर मज़दा [अमतान् असुर] है। दूसरी बुरी है, जिसका नाम अंगिरा मन्यु [अंगारमन्यु—तीव्र क्रोध] है।

यहूदी धर्म का धर्म शास्त्र भी 'गौड' और 'डैविल' खुदा और शैतान से प्रारम्भ होता है। पारसी धर्म में अंगिरा मन्यु को 'जलता हुआ सांप' कहा है, यहूदी धर्म में भी वह मनुष्य को सांप के रूप में ही दर्शन देता है।

क्या पारसी, क्या यहूदी और क्या महम्मदी धर्म में, दो शक्तियों की कल्पना वेदों की वृत्रासुर युद्ध की कल्पना से ही प्रादुर्भूत होती है।

२. ईश्वर--पहली शक्ति अच्छी है, जिसका नाम अहुरमज़द या खुदा है। पारसी और यहूदी धर्मों में ईश्वर विषयक विचारों की जो समानता है वह नीचे दिये हुए डा० हाग के शब्दों में भली प्रकार दिखाई देगी। आप अपने Essays के ३० वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

'स्विताम ज़रदुस्त का परमात्मा सम्बन्धी विचार पुरानी टैस्टमैण्ट के इलोहियम या जहोवा सम्बन्धी विचारों के बिल्कुल समान हैं'।

डा० स्पीगल की तो यहां तक राय है कि अहुर और जहोवा शब्द भी समान ही हैं। आपका निम्नलिखित वाक्य प्रो० मैक्समूलर ने अपनी 'Chips from a German Workshop' नाम की पुस्तक में उद्धृत किया है—

'अहुर' और अहु इन दोनों शब्दों का अर्थ 'स्वामी' है, उसका धातु 'अह' (संस्कृत 'अस') होना चाहिये, जिसका तात्पर्य है—होना। जव्ह का अर्थ भी यही है कि 'जो हो''।

३. दोनों धर्मों के देवता भी समान हैं—और इसमें सन्देह नहीं कि वह यहूदी धर्म में पारसी धर्म से लिये गये है। इस सम्बन्ध में हम श्रीयुत् गंगाप्रसाद एम. ए. की 'The Fountain Head of Religions' से डा० सेल का एक वाक्य उद्धृत करते हैं। आप लिखते हैं—

"यहूदियों ने उन प्राणियों (देवताओं) के नाम और काम पारसियों से सीखे थे—जैसा कि वह स्वयं स्वीकार करते हैं (रोस्थाहान में टाल्मड हीरोज़), पुराने पारसी देवताओं की साधकता और अधिष्ठातृत्व में पूरा विश्वास रखते थे, जैसा मैगरियन लोग अब तक मानते हैं; इस लिये उन्हें जुदा २ काम और जुदा २ प्रांत दे देते थे, उनके नामों पर ही महीनों और महीनों के दिनों के नाम रखते थे। गैब्रील को वह सारुश पुकारते थे, और जिसे वह मदीद या मौत के देने वाले कहते थे, उससे बिल्कुल उल्टा वह रवनबख्श या प्राण देने वाला कहते थे।

माइकेल को वह बश्तर पुकारते थे, जो उनकी सम्मति में मनुष्य जाति के जीवन निर्वाह का सामान इकट्ठा करता है।" इत्यादि।

इस पर टिप्पणी व्यर्थ है।

४. दोनों ही धर्मों में माना गया है कि सृष्टि रचना छः दिनों में हुई। स्वर्ग नरक के विचार भी दोनों के प्रायः समान हैं। ज़रदुस्त और मोज़ज़ दोनों ही को परमात्मा ने पहाड़ पर धर्म का आदेश दिया था।

इस प्रकार बहुत सी समानतायें हैं जो डा० हाग और डा० ए. कोहट आदि विद्वानों के ग्रन्थों में बहुत विस्तार से पायी जाती हैं और जिनका अत्युत्तम सग्रह श्रीयुत् गंगा-प्रसाद एम. ए. की योग्यता पूर्ण पुस्तक The Fountain Head of Religions में किया गया है। इस पुस्तक से इस विवेचना में खुली सहायता ली गई है।

इस विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि पारसी धर्म और यहूदी धर्म एक ही तने की दो शाखायें हैं। वह न केवल समकालिक है--समदेशिक भी हैं। दोनों में समानता अन्यथा सम्भव नहीं। यह हम देख आये हैं कि पारसी धर्म वैदिकधर्म का एक रूपान्तर मात्र है। इस युक्ति शृंखला से यहूदी धर्म का वैदिक धर्म का रूपान्तर होना स्पष्ट सिद्ध है।

ईसाई धर्म

ईसा यहूदी धर्म में पैदा हुआ--और उसी में पला। वह पुरानी बाइबिल को मानता था--और ईसाई आज तक उसे पूज्य मानते हैं। ईसा ने यहूदियों के उस समय विद्यमान सिद्धान्तों को अपने नये विचारों का आधार बनाया। जो कुछ उसने कहा वह एक सुधारक की दृष्टि से था--निर्माता की दृष्टि से नहीं। यहूदी धर्म पर पोलिश कर देने से ही ईसाई धर्म बन गया--इसमें सन्देह नहीं।

यहूदी धर्म और ईसाई धर्म का परस्पर कारण कार्य भाव ऐसा सर्व सम्मत है कि उसके सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। असली वृक्ष यहूदी धर्म का ही था--जिस पर पैवन्द लगने से ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। यह विषय निर्विवाद है। विवाद है तो इस पर कि वह पैवन्द कौनसा था जिसने यहूदी धर्म को ईसाई धर्म बना दिया? हमें वह प्रभाव ढूंढना चाहिये जिसने इस नये विश्वव्यापी धर्म को जन्म दिया।

एक और भी ज़रूरी प्रश्न है। समझा जाता है, और बहुत से विद्वान् इस विचार की पुष्टि करते हैं कि बाइबिल से ईसा का जो जीवन चरित प्रतीत है वह ठीक नहीं है। कई विद्वान् कहते हैं कि क्राइस्ट कोई था ही नहीं--क्राइस्ट की कल्पना पीछे से की गई। इसी मत को मान कर कई विचारक--धुरंधरों ने तो क्राइस्ट को कृष्ण का रूपान्तर माना है जो विचित्र प्रकार के मत इस सम्बन्ध में पाये जाते हैं, यह हम Early Christianity के लेखक M. S. B. Slack के शब्दों में उद्धृत करते हैं। आप लिखते हैं—

The outher would, however not be justified in ignoring the fact that there is another group of critics who reject the Gospels as altogether unhistoricel. The first scientific historion who took up this position was Bruno Bauer, who hah the misfortue to live before his time Among other more or less pronounced opponets of the 'historical' school are Frazer (The Golden Bough) Robertson (Pagan christs) Mead (Did jesus live 100 B C. ?) Kalthoff, Jensen (who regards the Nem Testament narrative as a variation of the Babylonian myth of Gilgames and Tismat) Balland & W. B. smith (Der voreltristliche jesus.) Gurkel, who speaks with great moderation, says that christology of Paul and John can not have been derived from the Jesus of the Gospels, nor can it have been the product of their own reflections, on the contrary it existed before their time, and in all its essential elements parallels can be found in othere religions. Some ciritics go so for as to suppose that there never was any historical Jesus at all, others think that though the Jesus on whom the synoptical Gospels speak once lived, never the less the life of jesus. as there described, has only a remote resemblance to that of the real jesus.

"किन्तु ग्रंथकर्त्ता को यह लिखने की भी उपेक्षा न करनी चाहिये कि एक ऐसे समालोचकों का भी समूह है जो गौस्पल को ऐतिहासिक नहीं मानता। पहला वैज्ञानिक इतिहास वेत्ता जिसने यह स्थिति ली थी 'ब्रूनी' बायर था जो दुर्भाग्यवश अपने समय से पूर्व आगया था। इस ऐतिहासिक पक्ष के न्यूनाधिक अन्य स्पष्ट विरोधियों में से कुछ यह हैं। फ्रेज़र (दि गौल्डन बौ) राबर्टसन (पैगन क्राइस्ट) मीड (क्या जीसस ईसा से १०० वर्ष पहिले उत्पन्न हुआ था ?) कल्थौफ जंसन (जो न्यूटस्टामेन्ट की कहानी को बैबीलोनिया के गिलोसस और तियामत की कहानी का रूपान्तर कहता है) बौलैण्ड और बी. वी. स्मिथ (Der vorchristtiche jesus) गन्कल, जो बहुत नर्मी के साथ लिखता है, कहता है कि पाल और जान की ईसाइत ईसा और गौस्पल से नहीं पैदा हुई, और न ही वह उनके दिमाग़ का नतीजा थी। पुल्टाइस के, वह उस से पूर्व विद्यमान थी, और सभी आवश्यक विषयों में अन्य धर्मों में समानतायें मिल सकती हैं। कई लेखक तो यहां तक कहते हैं कि ईसा कोई था ही नहीं, दूसरे समझते हैं कि वह ईसा था तो सही जिसका हाल बाइबिल बताती है, किन्तु वहां ईसा की जैसी जीवनी लिखी है, वह असली जीवनी से थोड़ा ही साम्य रखती है'।

इस लम्बे उद्धरण के लिये हम क्षमा मांगते हैं, पर योरप के विचारों का प्रवाह दिखाने के लिए यह आवश्यक था। इस उद्धरण से दो बातें साफ प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि योरप के विचारकों की सम्मति हो रही है कि ईसा का जैसा चित्र बाइबिल में खेंचा गया है, वैसा वह न था। वह चरित पीछे से कल्पित किया गया है। वह किसी दूसरे ढांचे पर घड़ा गया है। दूसरी बात यह कि ईसाइयत के नाम से जो धर्म इस समय प्रसिद्ध है वह कोई स्वतन्त्र और नया धर्म न था—अपितु अपने से पूर्व धर्मों पर आश्रित था। हमें दो बातों का पता लगाना है। वह कौन सा ढांचा था, जिसके अनुसार ईसा के चरित की कल्पना की गई, और वह कौन २ से धर्म थे जिनसे मसाला लेकर ईसाई धर्म बनाया गया !

पहले ईसा के आत्मगत चरित को लीजिये। उसका पाठ करके देखिए कि वह किस नमूने पर बनाया गया है। यदि ईसा के पूर्ववर्तियों में से कोई भी उसके विद्यमान चरित का नमूना हो सकता है तो वह गौतमबुद्ध है। दोनों के चरितों में जो समानतायें हैं उनमें से कुछ हम यहां उद्धृत करते हैं—

दोनों की उत्पत्ति आश्चर्यदायक कही गई है। दोनों की उत्पत्ति के समय दिव्य लक्षण दिखाई देते हैं।

गौतमबुद्ध की उत्पत्ति के समय असित ऋषि उसके भविष्य की सूचना देने के लिये राजगृह में आते हैं, और क्राइस्ट के उत्पन्न होने पर जैरसलम के पूर्व से एक बुद्धिमान् पुरुष आता है और पूछता है कि वह कहां है जो यहूदियों का राजा बनकर पैदा हुआ है।

बुद्धदेव को मार काम के आक्रमणों का सामना करना पड़ा तो ईसा पर शैतान ने धावे किये, और परास्त हुआ। दोनों ही महापुरुषों के बारह शिष्य थे। दोनों का दया भाव समान था—दोनों के दया के कार्य सदृश थे।

दोनों के जीवनों में इतनी समानता है कि स्वतन्त्र विचारक कौण्ट कैमिली डि रैनिसी अपनी जीसस क्राइस्ट नाम की पुस्तक में निम्नलिखित शब्द लिखने पर बाधित हुआ है

'हिन्दू त्रिमूर्ति का एक देव कृष्ण कुछ सदियां पूर्व उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार ईसा से कुछ सदियां पूर्व भारत के गांव में, एक कुँआरी के पेट से एक देवता उत्पन्न हुआ, और उसी प्रकार ईसा भी बैथलहम में उत्पन्न हुआ। यह देवता—गौतम शाक्य मुनि जानता था कि मनुष्य जाति की स्थिति के साथ दुःख बंधा हुआ है; इन सब दुःखों का कारण हमारी बढ़ी हुई इच्छाएं और दुर्भावनायें हैं...........इत्यादि'।

"जीसस क्राइस्ट चालीस दिनों तक जंगल में रहा था, शाक्य मुनि ईसा से छः सदियां पूर्व, ४६ दिनों तक जंगल में बोधि वृक्ष के नीचे व्रत और ध्यान में लगा रहा था और मार के आक्रमणों और प्रलोभनों को सफलता पूर्वक रोकता रहा था। वहां से वह बनारस को गया—जैसे पीछे से ईसा गैलिली को गया और अपने सिद्धांतों का शिष्यों को उपदेश दिया, वही शिष्य बौद्ध धर्म नाम के नये धर्म के संस्थापक हुए।"

इस उद्धरण में कई ऐतिहासिक भूलें हैं। गौतमबुद्ध उस प्रकार ईश्वर के अवतार नहीं माने जाते, जैसे ईसा माना जाता है। कृष्ण और बुद्ध कुमारी के पुत्र नहीं थे, परन्तु इनके अतिरिक्त बुद्ध और ईसा के जीवनों में इतना साम्य है कि जिस पर विश्वास करना भी कठिन है। हम कुछ समानतायें यहां पर दिखाते हैं—

(१) दोनों की उत्पत्ति अद्भुत है। दोनों की उत्पत्ति के समय विलक्षण शकुन दिखाई दिए और दोनों का ही एक २ नक्षत्र स्वामी था।

(२) गौतमबुद्ध की उत्पत्ति पर असित ऋषि मंगल सूचना देने के लिये आया था और ईसा के उत्पन्न होने पर भी पूर्व से एक बुद्धिमान् का आना लिखा है।

(३) दोनों पर ही तपस्या के समय मार या शैतान के आक्रमण हुए जिनमें आक्रमणकारी नाकामयाब रहा।

(४) गौतम और ईसा दोनों ही के १२ शिष्य थे।

सिद्धान्तों की समानता

यह तो है संस्थापकों के चरितों में समानता। अब दोनों के धर्मों के मुख्य सिद्धांतों की आलोचना करें तो समानता और भी गहरी दिखाई देती है। हम कुछ समानतायें यहां उद्धृत करते हैं—

(१) बौद्ध और ईसाई धर्म में धार्मिक सिद्धान्तों के वर्णन की एक ही रीति का अवलम्बन किया गया है।

(२) दोनों धर्मों ने ही प्रेम-धर्म का प्रचार किया है।

(३) दोनों ही धर्म शब्दमय जीवन की अपेक्षा क्रियात्मक जीवन पर अधिक बल देते थे।

(४) दूसरों की भलाई का सिद्धान्त दोनों ही धर्मों को माननीय था।

(५) पुराने बौद्ध मन्दिरों की बनावट के साथ, रोमन कैथोलिक गिर्जों की बनावट, कई समानतायें रखती है।

(६) बौद्धों और रोमन कैथोलिक ईसाइयों के पूजा के रीति रिवाज आपस में बहुत मिलते हैं।

(७) बप्तिस्मा देने की रीति ईसा से पूर्व बौद्ध लोगों में विद्यमान थी।

यहां हमने बीजमात्र का उल्लेख किया है, मि० आर्थर लिली आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में बहुत ही विस्तार से इस विषय की विवेचना करके दिखाया है कि ईसाई धर्म बौद्ध धर्म का पुत्र था। दोनों धर्मों की समानता आकस्मिक नहीं हो सकती। यदि यह आकस्मिक मोजज़ा हो तो मि० रिसडेविड्स के कथनानुसार यह एक बड़ा भारी मोजज़ा, जो दस हज़ार मोजज़ों के बराबर है। लिली साइडल और आर. सी. दत्त आदि विद्वानों ने इस बात को कई प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि ईसाई मत ने बौद्ध मत से बहुत अधिक बातें सीखी हैं।

यहूदी धर्म और इस्लाम

इस्लाम कोई नया धर्म नहीं है। हज़रत मुहम्मद ने किसी बिल्कुल नवीन धार्मिक सचाई का आविष्कार नहीं किया। यह कोई नई बात नहीं है; स्वयं मुसलमान विद्वान् इसे स्वीकार करते आये हैं। मुहम्मद ने यहूदी धर्म की सचाइयों को नये रूप में प्रकाशित किया था। वह जब व्यापार के प्रसंग से दूर देशों में जाता था तब यहूदी लोगों से प्रायः मिलता था। उन्हीं के सिद्धान्तों को समय और देश की आवश्यकताओं के अनुसार हज़रत मुहम्मद ने प्रकाशित किया। स्थान और देश को मुहम्मद ने ऐसा समझा, और अपने प्रचार में इतना जोश डाला कि जो एक पुरानी चीज़ थी, वह नई होकर संसार में फैल गई, और इस ज़ोर से फैली कि संसार को आश्चर्यित कर दिया।

कुरान के सभी मुख्य २ सिद्धान्त यहूदियों के सिद्धांतों पर आश्रित हैं। कुरान के अनुवादकर्ता डा० सेल ने बड़ी सुन्दरता से दिखाया है कि कुरान के गौण और मुख्य सिद्धान्त नए नहीं हैं। जिस समय हज़रत मुहम्मद ने अरब में इस्लाम का प्रचार किया, उस समय अरब में यहूदी और ईसाई धर्म का ख़ासा प्रचार था, 'मुहम्मडनिज़्म' नाम की पुस्तक में मि० मार्गोलियौथ ने उस समय के अरब का वर्णन करते हुए लिखा है—

"अरब में और निःसन्देह कई सूबों में ईसाई धर्म और यहूदी धर्म—दोनों के ही प्रतिनिधि विद्यमान थे। एक तीसरा एकेश्वरवादी सम्प्रदाय भी, जो सेबियन या मण्डेन कहलाता था, विद्यमान था। यहूदी लोग अपने पलस्ताईन या पार्थिया के भाइयों से जुदा रहते थे। यदि इस्लाम का इतिहास न होता तो किसी को उनके होने का भी पता नहीं लगता। बाइज़ण्टाइ साम्राज्य ने ईसाई धर्म को राजधर्म बना लिया था—वह

इस्लाम के आने से कुछ समय पूर्व ही तिरोहित हुआ था, बहुत सी ईसाई जातियां अरब में विद्यमान थीं"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लाम की उत्पत्ति के समय अरब में यहूदी और ईसाई धर्मों का प्रभाव काफी था। इसके आगे हम संक्षेप से देखेंगे कि इस्लाम के सिद्धान्त का इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों से क्या सम्बन्ध है ?

(१) खुदा और शैतान—इस्लाम का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त यहूदियों से ही लिया गया है। ईश्वर के गुण दोनों में एक से ही माने जाते हैं। दोनों में ही ईश्वर के साथ एक दूसरी शक्ति भी मानी जाती है, जो ईश्वर की शक्ति को निकम्मा बनाती रहती है। वह शक्ति शैतान की शक्ति है। खुदा और शैतान का जोड़ा इस्लाम से पूर्व यहूदियों के यहां माना जाता था। यहूदियों ने यह सिद्धान्त ज़रतुस्त के सिद्धान्तों से लिया था।

(२) सृष्टि की उत्पत्ति—यहूदी धर्म सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में कुछ विलक्षण विश्वास रखता है। उनमें से कुछ यह हैं। सृष्टि कुछ नहीं से उत्पन्न हुई है, यह एक ही सृष्टि है जो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायगी। आदम और हव्वा अदन के बाग़ में रहते थे, पीछे वह स्वर्ग से गिर कर भूमि पर आये। फरिश्ते आस्मान में रहते हैं। यह सब यहूदी धर्म के विश्वास हैं। इनको जैसे का तैसा इस्लाम में ले लिया गया है।

(३) सृष्टि का अन्त—यहूदी धर्म सृष्टि के अन्त के बारे में यह विश्वास रखता है कि मनुष्य का आत्मा अमर है, वह मरने के पीछे बैठा रहता है, सृष्टि के अन्त में सब आत्मा अपने २ कर्मों का हिसाब देने के लिए ईश्वर के सामने आते हैं। जब वह दिन पास आयगा तब सूर्य पश्चिम से उदित होगा, एक विशेष जन्तु उत्पन्न होगा जो सचाई का प्रचार करेगा, एक ढोल तीन वार बजेगा-- तब खुदा अपने सिंहासन पर बैठकर न्याय करेगा। यह सब विचार यहूदी धर्म के हैं जिन्हें थोड़े से उलट फेर के साथ इस्लाम में ले लिया गया है।

(४) यहूदियों और मुसल्मानों के स्वर्ग और नरक भी प्रायः एक से ही हैं।

(५) मुसल्मानों के चार मुख्य धार्मिक कर्तव्य हैं। इबादत, रोजा, दान और हज या तीर्थ यात्रा। डा० सेल ने कुरान के अनुवाद की भूमिका में बड़े विस्तार से दिखाया है कि यह चारों बातें मुसल्मानों ने यहूदियों से सीखी हैं।

(६) बहु विवाह और तलाक--बहु विवाह और तलाक के सिद्धान्त मुसल्मानों ने यहूदियों से लिये हैं। मुहम्मद से पूर्व ही यहूदी लोग इन दोनों रीतियों को मानते और व्यवहार में लाते थे।

छठा परिच्छेद।

मध्यकालिक हिन्दू धर्म

हमने बताया था कि वेद की विचारपरम्परा तीन हिस्सों में बांटी गई है। १. ज्ञान २. कर्म्म और ३. उपासना। 'ज्ञान' और 'उपासना' का विस्तार उपनिषदों में और 'कर्म' का विस्तार ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया, और आगे बढ़कर 'कर्मांश' की पुष्टि के लिये गृह्य तथा श्रौत सूत्रों की रचना हुई। विचार धारा दो हिस्सों में बह निकली। समय पाकर दोनों ही धारायें कलुषित हो गई। 'ज्ञान धारा' विकृत हुई तो ऐसे मुमुक्षु पैदा हो गये, जो शुभ कर्मों के बिना ही परमात्मा के दर्शन करना चाहते थे, और कर्मधारा' विकृत हुई तो ऐसे याज्ञिकों का पन्थ चल गया जो जन्म भर यज्ञों की खटपट में ही लगे रहते थे, शेष सब सत्कर्म उनके लिये मानो रहे ही नहीं। इन्हीं दोनों बुराइयों के विरुद्ध महात्मा बुद्ध खड़े हुए, और कर्म प्रधान बौद्ध धर्म को उत्पन्न किया।

महात्मा बुद्ध ने भारत के मध्यभाग में घूम कर खूब प्रचार किया। उस समय भारत का केंद्र वर्त्तमान विहार प्रान्त था। वह महात्मा के जीते जी उनके धर्मोपदेशों से प्रभावित होगया, परन्तु देशव्यापी प्रभाव बिगड़े हुए रूप में प्राचीन आर्य धर्म का ही था। पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य का आधिपत्य हो जाने पर सारा देश एक ही छत्रच्छाया में आगया। उसके पौत्र अशोक वर्धन ने बौद्ध धर्म को भारत भर में फैलाने के अतिरिक्त देश विदेश में भी उसका प्रचार किया। उस समय से बौद्ध धर्म भारत का मुख्य धर्म होगया। ईसा से लगभग २४० वर्ष पूर्व भारत के प्राचीन धर्म का बौद्ध संस्कार पूरा हो चुका था।

यह कहना बहुत कठिन है कि बौद्ध धर्म के उत्पत्तिकाल में हिन्दू धर्म ठीक किस अवस्था में था। बौद्ध ग्रन्थों से थोड़ा बहुत अनुमान ही लगाया जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्र में ब्रह्म और जीव के ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता था। कर्महीन वैरागियों का पन्थ चल चुका था। शरीर को तपाने या क्लेश देने का नाम तपस्या रखा गया था। जन्म से ही जाति का महत्त्व माना जाता था। बहुत विस्तृत केवल क्रिया कलाप से युक्त यज्ञों को स्वर्ग का साधन मनाने वाले लोग कुछ कम नहीं थे। यज्ञों में पशु हिंसा होती थी। इतने संक्षिप्त वर्णन से ही प्रतीत हो सकता है कि उस समय का हिन्दू धर्म कैसा था ? और उसमें कैसे परिवर्तन पैदा हो चुके थे ?

देवमाला के विकास का प्रश्न हरेक साहित्य और धर्म के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। देवमाला के विकास की जांच करने से जाति के धर्म की जांच स्वयं ही हो जाती है। हम भारतवर्ष में धार्मिक विकास के इतिहास को देखना चाहें तो देवमाला के निर्माण की कथा हमारे लिए बहुत सहायक हो सकती है। वही अर्वाचीन में अर्वाचीन हिन्दू धर्म को प्राचीन से प्राचीन आर्य धर्म से जोड़ सकती है। मध्य कालीन हिन्दू धर्म की उत्पत्ति पर विचार करते हुए यदि हम देवमाला को केन्द्र बनालें तो कोई हानि नहीं हो सकती, उल्टा लाभ ही होगा।

पौराणिक देवमाला का बीज वेदों में ही मिल जाता है। बहुत विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त है कि पौराणिक देवमाला के मुख्य २ सभी नाम वेदों में मिलते हैं। विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, यम, मरुत् आदि पुराण प्रसिद्ध देवता वेदों के मन्त्रों में गाये गये हैं, भेद केवल इतना ही है कि वेद में यह जहां आध्यात्मिक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं वहां एक ही ईश्वर के भिन्न २ गुणों के कारण भिन्न २ नाम है। वेद का निम्नलिखित मन्त्र हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर देता है—

> इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
> एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः।

ऋ० । १ । १६४ । ४५

वह एक है, परन्तु उसे विद्वान् लोग भिन्न भिन्न नामों से स्मरण करते हैं। इन्द्र, मित्र वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा—यह सब उसी तेजस्वरूप पर-ब्रह्म के नाम हैं। वेदों के समझने के लिए यह मन्त्र चाबी का काम दे सकता है। इसे ध्यान में रखिये, सब कठिनाइयां हल हो जायंगी; इसे भुला दीजिए, वेद एक अजायबघर सा प्रतीत होने लगेगा। कहीं एकेश्वरवाद, कहीं अनेकेश्वरवाद, कहीं अनन्तेश्वरवाद—सभी परस्पर विरुद्ध बातें वेद में दिखाई देने लगेंगी।

वेद में एकेश्वरवाद है। भिन्न २ शक्तियों के कारण एक ही ईश्वर की भिन्न २ नामों से स्तुति और प्रार्थना पाई जाती है। यह एक आवश्यक प्रश्न है कि स्वयं वेद में एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन रहते हुए धीरे २ अनेकेश्वरवाद और देवमाला की कल्पना कैसे होगई? ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें वेद के देवता शब्दों की व्युत्पत्तियां मिलती हैं, और उनकी व्याख्या भी मिलती है। साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थवाद और इतिहास भी मिलते हैं। हम पहले बता आये हैं कि उन अर्थवादों और इतिहासों से ही देवमाला की

बुनियाद पड़ी। छोटी २ बातों को—यज्ञ की प्रत्येक विधि को समझाने या संगत सिद्ध करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में छोटे २ दृष्टांत दिये गये, जिनमें स्वभावतः परन्तु दुर्भाग्यवश वैदिक परिभाषाओं का ही प्रयोग किया गया। देव असुर अग्नि वरुण इत्यादि के नाम देकर ही दृष्टांत वड़े गए, यही अनर्थ का मूल हुआ। छोटे २ दृष्टान्तों पर कल्पनाशील कवियों की कल्पना का पैवन्द लगा, और जो केवल कल्पित दृष्टान्त थे, वह धार्मिक सिद्धान्तों के रूप में आने लगे। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के समय देवता सम्बन्धी कल्पना की क्या दशा थी, यह निश्चय पूर्वक कहना कठिन है; क्योंकि उस समय के कोई ऐतिहासिक या केवल धार्मिक ग्रन्थ भी अपने विशुद्ध रूप में प्राप्त नहीं होते। व्याकरण तथा दर्शन के ग्रन्थ मिलते हैं, परन्तु वह केवल इशारा दे सकते हैं, पूरा समाचार नहीं सुना सकते। महाभारत और रामायण अवश्य ही कुछ सहायता दे सकते यदि पौराणिक काल में उनका पूरा २ नया संस्कार न होगया होता। हम जानते है कि ईसा से तीन चार सौ वर्ष पीछे उन दोनों महाकाव्यों का पुनः संस्कार हुआ, ऐसी दशा में उन्हें बौद्ध धर्म से पहले के धार्मिक विचारों का चित्र नहीं समझ सकते। जहां तक बौद्ध ग्रन्थों के देखने से विदित होता है, उस समय वेदों के देवताओं की जुदा २ सत्ता अवश्य मानी जाने लगी थी। महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले जातक ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। उनमें इन्द्र आदि देवताओं की काफी चर्चा है, उसके देवता बिल्कुल मनुष्य देहधारी प्रतीत नहीं होते। अभी तक अवतारों की कल्पना का कहीं पता नहीं है। प्रतीत होता है कि देवताओं के मनुष्यलोक की छोटी छोटी बातों में दखल देने की कल्पना भी अभी नहीं घड़ी गई थी। मनुष्यसदृश देव कल्पना एक सन्दिग्ध या विवादग्रस्त सिद्धान्त के रूप में पैदा हो चुकी थी, यह नहीं कह सकते।

बौद्ध धर्म देश भर में फैल गया। उसने कर्मवाद पर बल दिया और आध्यात्मिक कल्पना को शिथिल करने का यत्न किया। गौतमबुद्ध ने ईश्वर जीव और प्रकृति के सूक्ष्म विचारों की उपेक्षा करके श्रेष्ठ जीवन की आवश्यकता पर बल दिया। थोड़ी देर के लिये बहुत गहरी कल्पनायें धर्म के क्षेत्र से निर्वासित कर दी गईं परन्तु असम्भव को बुद्धदेव भी सम्भव न बना सके। अध्यात्म और अतीत कल्पना के विना मनुष्य-जीवन पूरा नहीं होता। उसके हृदय और दिमाग़ में परोक्ष के लिये एक खाली जगह विद्यमान है। वह किसी न किसी तरह अवश्य पूरी होगी। जो बौद्ध धर्म परोक्ष कल्पनाओं की उपेक्षा करके जीवन सुधार के लिये पैदा हुआ था, उसमें भर पेट अतीत कल्पना की गई। उस समय की प्रचलित देवमाला को गौतमबुद्ध के चरित में शामिल कर दिया गया। विष्णु और रुद्र के स्थान पर बुद्ध को रख दिया गया। अनेक देवताओं का स्थान गौतम बुद्ध के अनेक जन्मों और अनेक रूपों ने ले लिया। धीरे २

ईश्वर का स्थान बुद्ध ने ले लिया, और शेष देवताओं के स्थान पर बुद्ध के अनेक रूप स्थापित किये गये। एक प्रकार से बिगड़ हुए आर्य धर्म का बौद्ध–भाषा में अनुवाद कर दिया गया। धर्म को और भी अधिक मानव रूप में लाकर जनता के सामने रखा गया।

बौद्ध धर्म के प्रचार ने एक और परिवर्तन पैदा कर दिया। संस्कृत के स्थान पर मगध की प्रचलित लोकभाषा का प्रयोग होने लगा। भारत में बौद्ध धर्म का युग संस्कृत की अवनति का युग है।

मौर्य साम्राज्य के क्षय के साथ भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास आरम्भ हुआ। पाटलिपुत्र के अन्तिम मौर्य राजा को मार कर शुंग वंश का राजा पुष्यमित्र राजगद्दी पर बैठा। वह प्रतिक्रिया का अग्रदूत था। प्रतीत होता है कि उसे नए साम्राज्य के जमाने में धार्मिक विद्रोह ने भी काफी सहायता दी। राजा पुष्यमित्र के सम्बन्ध में पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में जो इतिवृत्त मिलते हैं, उनसे प्रतीत होता है कि उसने राजसूय यज्ञ किया, और बौद्ध धर्म के विरोध में संस्कृत भाषा और बुद्धदेव से पहले का जो धर्म था उसे जगाने का यत्न किया। इस समय (१८५ ई० पू०) से लेकर गुप्त साम्राज्य के अन्त (५५० ई०) तक हमें उसी धर्म का प्राधान्य मिलता है।

पुष्यमित्र के समय बौद्ध धर्म के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, उसने पुराने बिगड़े हुए वैदिक धर्म पर अपना स्थिर सिक्का छोड़ दिया है। बौद्ध धर्म धीरे २ भारत से विलुप्त होगया, परन्तु अपने प्रभाव से आर्यों के धर्म को आच्छादित कर गया। बुद्ध से पहले का वैदिक धर्म बिगड़े हुए रूप में भी कुछ और था, पुष्यमित्र के काल से वैदिक धर्म जिस रूप में आने लगा वह बिल्कुल दूसरा था। बौद्ध धर्म ने उस पर जो २ स्थायी प्रभाव छोड़े, उनमें से कुछेक का यहां परिगणन किया जाता है।

(१) बौद्ध धर्म ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की पूजा चलाई। बौद्धों में गौतम बुद्ध की मूर्ति की पूजा होने लगी थी; इस पूजा ने अशिक्षित लोगों के हृदयों पर असर किया। जब प्रतिक्रिया आरम्भ हुई तब बौद्धधर्म के विरोधियों को आवश्यक प्रतीत हुआ कि वह एक चिन्ह के स्थान पर दूसरा चिन्ह रखें ताकि अशिक्षित जनता को खींच सकें। इस प्रकार मनुष्यदेहधारी देवताओं की कल्पना हुई, और मूर्ति पूजा का बीज बोया गया।

(२) बौद्ध जातकों में गौतमबुद्ध के महत्व को बढ़ाने के लिए जन्म जन्मान्तर की कल्पना की गई थी। यह कल्पना लोगों के दिलों में घर कर गई। अवतारवाद का स्पष्ट रूप में जन्म इसी समय से हुआ है।

(३) मनोरंजक जातक ग्रन्थों के जवाब में मनोरञ्जक पुराण लिखे गये। यहां

अधिक ऐतिहासिक प्रमाण देने अनावश्यक हैं। पुराणों के अन्दर ऐसी गवाहियां पड़ी हुई हैं जिनसे सिद्ध होता है कि पुराण ग्रन्थों की रचना मुख्यतया इसी काल में हुई।

(४) संस्कृत भाषा का भाग्य इस काल में खूब ही चमका। साधु गद्य का दृष्टांत पातञ्जल महाभाष्य बहुत से विद्वानों की राय में इसी समय लिखा गया। भास, कालिदास आदि साहित्यगुरु इसी युग में हुए। अलंकृत संस्कृत ने इस समय जन्म लेकर यौवन प्राप्त किया। प्रतीत होता है कि इसी काल में बदली हुई दशाओं के अनुसार रामायण और महाभारत के भी पुनः संस्कार हुए। इस प्रकार बौद्ध धर्म के उत्तर में, उसके प्रभावों से प्रभावित होकर पुराना वैदिक धर्म विकृत होकर पौराणिक धर्म के रूप में परिणत होगया।

भारतीय धर्मों में 'उदारता' का अंश सभी जगह पाया जाता है। बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ परन्तु पुराणों ने विष्णु के दस अवतारों में बुद्ध की भी गिन्ती कर डाली। उधर राजा कनिष्क के समय में (७८ ईस्वी) बौद्ध धर्म ने भारत के, तथा बाहिर के भी, कई धर्मों को मिश्रण द्वारा अपनाने का सूत्रपात कर लिया था। महायान बौद्ध धर्म मिश्रण का नतीजा है।

यही उदारता थी जिसने धर्मों का परस्पर संघर्ष होते हुए भी धर्म के कारण अत्याचार नहीं होने दिये, परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि इसी उदारता ने भारतवर्ष के धर्म को खिचड़ी और अशुद्ध बनाने में मदद दी। जो कुछ आया, बीच में शामिल हो गया। उदारता का गुण भारतवर्ष के लिये दोष साबित हुआ। विशुद्ध वैदिक धर्म इधर उधर के मिश्रणों के कारण एक ख़ासा अदभुतालय बन गया। राजा हर्ष (६०६ ईस्वी) के राज्य काल में धर्म का खूब ही नाटक दिखाई देता है। श्रद्धालु राजा एक रोज़ शिव की पूजा करता है, दूसरे दिन सूर्य को अर्घ देता है और तीसरे दिन बुद्ध की मूर्ति के सामने सिर झुकाता है।

इस खिचड़ी धर्म को विशुद्ध करने का श्री शंकराचार्य ने यत्न किया। उनके दार्शनिक धर्म ने बौद्धों को नास्तिक के रूप में चित्रित करके आर्यकोटि से जुदा कर दिया। उस समय (८०० ईस्वी) से बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत कम होगया। इसमें सन्देह नहीं कि श्री शंकराचार्य ने नास्तिकवाद के सामने एकेश्वरवाद को खड़ा करके धर्म की शुद्धता की रक्षा करने का यत्न किया, परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि आचार्य ने व्यावहारिक दुनिया को अस्पृष्ट ही छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि उनका विशुद्ध धर्म कुछेक पण्डितों के लिए रह गया, और लौकिक पुरुषों के आचरणों पर उसका कोई असर न हुआ। अद्वैतवाद की कल्पना तार्किक लोगों के लिये बहुत मनोरञ्जक थी, परन्तु एक देशी होने के कारण व्यवहार से दूर थी, और जातीय जीवन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकती थी।

रामानुजाचार्य ने (१०७० ई०—१११८ ई०) अद्वैत या वेदान्त धर्म की एकदेशिता को दूर करके उसे कुछ अधिक व्यावहारिक रूप देने का यत्न किया। भिन्न २ जातियों को मिलाने में भी उन्हें कुछ सफलता हुई परन्तु शीघ्र ही भारतवर्ष को उत्तर से आते हुए इस्लाम के तूफ़ान ने घेर लिया जिससे आर्य धर्म की प्रगति बिल्कुल रुक गई। जैसे बाज़ को देखकर चिड़िया अपने आपको संभाल कर बैठ जाती हैं, और सिवाय आत्मरक्षा के और कुछ नहीं सोचती, इस्लाम के बवंडर ने भारतवासियों की वही दशा करदी। धर्म की स्वतन्त्र उन्नति (कुछेक दक्षिण के हिस्सों को छोड़कर) रुक गई। आर्य धर्म, जिसे अब हम हिन्दू धर्म कह सकते हैं (क्योंकि मुसल्मानों ने ही हिन्दू शब्द को प्रारम्भ किया) आत्म रक्षा के साधन सोचने में लग गया।

१००० ईस्वी से आज तक आर्य धर्म को लड़ाई करनी पड़ी है। उसे इस्लाम और ईसाइयत के मुकाबिले में आकर अपनी रक्षा के अनेक उपाय करने पड़े हैं। इस युग में बड़ी २ किताबें लिखी गईं। व्याकरण और न्याय के धुरंधर पण्डित हुए परन्तु विना किसी आशंका के कहा जा सकता है कि उनका जाति के धर्म पर या विचारों पर कोई भी व्यापी और स्थायी असर नहीं हुआ। वेदों के मानने वाली जाति एक ऐसी आफ़त में पड़ गई, जिसमें उसे फ़िलासफ़ी की सुध रखना असम्भव प्रतीत होने लगा।

दूसरा खण्ड

ऋषि ानन्द

अवतरणिका

वैदिक धर्म किस दशा तक पहुंच चुका था, यह हम पहले भाग में दिखा आये हैं। उसका विशुद्ध जल प्रवाह किन २ नदी नालों में से होकर बह निकला था, उसका भी दिग्दर्शन कराया जा चुका है। धर्म की दशा पुकार २ कर कह रही थी कि 'कोई आओ और मेरी सुध लो' उस पुकार को भगवान् ने किस प्रकार सुना? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे भाग में पढ़िये।

पहला परिच्छेद

जन्म और वैराग्य

—:o:—

काठियावाड़ प्रान्त में मौरवी राज्य के टंकारा नामक छोटे से ग्राम में अम्बाशंकर नामक एक औदीच्य ब्राह्मण रहता था। १८८१ विक्रमी के पौष मास में उसके यहां एक बालक ने जन्म लिया। बालक का नाम मूल शंकर रखा गया। सन्यास लेने पर इसी मूल शंकर का नाम दयानन्द हुआ। अम्बाशंकर के यहां औदीच्य ब्राह्मण होने पर भी भिक्षावृत्ति नहीं थी, लेन देन का व्यवहार होता था, और रियासत की ओर से जमादारी भी प्राप्त थी, जो तहसीलदारी के बराबर थी।

इस प्रकार एक पुराने ढंग के सामान्य घर में दयानन्द का जन्म हुआ। यह जानने का कोई भी उपाय नहीं है कि दयानन्द के माता पिता किस स्वभाव के थे। यह भी नहीं जाना जा सकता कि बालक मूल शंकर पर प्रभाव डालने वाले गुरुओं में से कोई ऐसा भी था, जिसे 'असाधारण' कह सकें। प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं के बारे में हमें जो कुछ भी पता चलता है, स्वामी दयानन्द का अपना कथन ही उसका साधन है, दूसरा कोई नहीं। गुजरातियों में सन्तान प्रेम बहुत अधिक होता है। परमहंस दयानन्द डरा करते थे कि 'कहीं मेरा परिचय पाकर सम्बन्धी लोग न घेर बैठें।' इस डर से वह अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग का अधिक परिचय नहीं दिया करते थे। यदि उनके परिवार और शैशवावस्था के वृत्तान्त जानने का कोई साधन होता तो निःसन्देह हमें कई मनोरञ्जक बातें जानने का अवसर मिलता। संसार में आकस्मिक कुछ भी नहीं है। जिन घटनाओं को हम आकस्मिक कहते हैं, उन्हें समझने की शक्ति नहीं है, या साधन नहीं हैं। शक्ति या साधन के अभाव से बाधित होकर हम अपने अज्ञान को 'आकस्मिक' शब्द के आवरण में छिपाने का यत्न करते हैं। दयानन्द के चित्त में जो २ विचार तरंगें उत्पन्न हुईं, जो २ क्रान्तियां खड़ी हुईं, वह आकस्मिक नहीं थीं, परन्तु हमें यह मान लेना चाहिये कि उनके कारणों पर पूरा प्रकाश डालने के साधनों का अभाव है। हम नहीं जानते कि मूल शंकर के प्रारम्भिक गुरु कौन थे, और न हमें

यही ज्ञात है कि उसके खेल के साथी किस श्रेणी के थे ? यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि दयानन्द में जो दृढ़ता और निर्भयता थी, वह माता की ओर से प्राप्त हुई थी, या पिता की ओर से ? अस्तु । जो नहीं जाना जा सकता, उसे छोड़ कर हम उसकी ओर दृष्टि डालते हैं, जो जाना जा सकता है ।

आठवें वर्ष में मूल शंकर का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया, और गायत्री, सन्ध्या रुद्री आदि कण्ठस्थ कराये गये । प्रतीत होता है कि मूल शंकर की स्मरण शक्ति प्रारम्भ से ही अच्छी थी । वह स्मरण शक्ति प्रचार के दिनों में दयानन्द को प्रतिपक्षियों के लिये असह्य बना देती थी । प्रचार के कार्य में वह ऋषि की कई पंडितों की अपेक्षा अधिक सहायता करती थी । मूलशंकर के पिता स्वभाव में कुछ रूखे और कड़े प्रतीत होते हैं । सम्भव है, रियासत की ओर से उन्हें तहसीलदारी का कार्य सौंपा गया था, उसके प्रभाव से उनके स्वभाव में उग्रता आगई हो । उधर मूलशंकर की माता प्रेममयी प्रतीत होती हैं । वह बच्चे से वैसा ही लाड़ करती थी, जैसा लाड़ प्रायः मातायें किया करती हैं । मूलशंकर के अन्य सम्बन्धियों के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि उस का एक चचा था, जो बहुत स्नेह करता था, और अपनी छोटी बहिन से भी बालक का बहुत प्रेम था ।

एक ब्राह्मण के बालक को जैसी प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए, वह मूल शंकर को प्राप्त होती रही । १४ वर्ष की आयु तक वह यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ कर चुका था, व्याकरण में भी उसका प्रवेश होगया था । इतना पढ़ लिख लेने पर मूलशंकर के गुरुओं ने यह सम्मति बनाई कि अब वह इस योग्य होगया है कि कुल क्रमागत धार्मिक कृत्यों में भी भाग लेने लगे । १८६४ विक्रमी की माघ वदी १४ को शिवरात्रि का व्रत था । शायद ही कोई पुराने ढंग का हिन्दू घराना होगा, जहां यह व्रत न माना जाता हो । शिवरात्रि की रात को शिव का अर्चन होता है, और लंघन करना पड़ता है । अन्न और नींद—दोनों का इकट्ठा ही लंघन अधिक पुण्यजनक समझा जाता है । अनुभवी लोग जानते हैं, कि बालकों के लिए इनमें से एक चीज़ का लंघन भी सम्भव नहीं है, फिर जब दोनों का यत्न किया जाय तो कैसा डरावना बन जाता है । मूल शंकर के सामने जब शिवरात्रि का व्रत रखने का प्रस्ताव किया गया, तब वह पहले राज़ी नहीं हुआ । कोई ख़ास लाभ दिखाई दिये बिना कोई बालक भूख और नींद से लड़ने को तैयार नहीं होता । इन दो शत्रुओं से युद्ध करना तो जवानों और बूढ़ों के लिए भी दुष्कर है—मूल शंकर तो अभी १४ साल का विद्यार्थी था । माता ने बालक की अनिच्छा में दो एक युक्तियां देकर सहायता की । 'लड़का अभी छोटा है, इसे दिन में चार बार खाने की आदत है, यह कैसे भूखा रहेगा ? रात को यह अंधेरे से पहले ही सो

जाता है, रात भर कैसे जागेगा ?, हम कल्पना कर सकते हैं कि माता ने प्रेमवश होकर ऐसी ही युक्तियां दी होंगी।

तब पिता ने बालक की कल्पना शक्ति को अपना सहायक बनाने का यत्न किया। शिव का माहात्म्य सुनाया, शिवरात्रि की पुराणों में गाई हुई महिमा बताई, और स्वर्ग के सुन्दर दृश्य खेंचकर कोमल प्रतिभा को उत्तेजित करने का यत्न किया। यत्न में सफलता हुई। मूलशंकर शिवरात्रि का व्रत लेने के लिए तय्यार होगया। नियत समय पर पुजारी और गृहस्थ लोग मन्दिर में पहुंचकर पूजा आदि कार्यों में लग गये। मूलशंकर अपने पिता के साथ बैठा हुआ सब कुछ देख और सुन रहा था। उसका हृदय दिन में सुनी हुई कहानियों से पूर्ण था, विश्वास और श्रद्धा का अंकुर उत्पन्न होगया था, आशा और सम्भावना से प्रेरित होकर वह व्रत का पूरा पुण्य लूटने के लिए तयार हो बैठा था।

पूजन होगया। पुजारी और गृहस्थ लोग जागरण के लिए बैठ गये। धीरे २ आंखें मुंदने लगीं, सिर झुकने लगे, लोग एक दूसरे के कन्धे या छाती पर सिर धर के लुढ़कने लगे। कुछ ही घण्टों में मन्दिर में सन्नाटा होगया, और जो लोग रात भर जाग कर पुण्य लूटने का संकल्प किये बैठे थे, वह निद्रा देवी की सुखमयी गोद का आनन्द लेने लगे। सब सोगये—केवल एक भक्त जागता रहा। वह भक्त बालक मूल शंकर था। उस की दृष्टि बराबर शिव लिंग पर गड़ी हुई थी। वह उस अद्भुत शक्ति सम्पन्न देवता की ओर चावभरी नज़र से देख रहा था। देखता क्या है कि मन्दिर में सन्नाटा पाकर चूहे बिलों से निकल आये हैं, मूर्ति के इर्द गिर्द चावल आदि के जो दाने पड़े हैं, उन्हें खा रहे हैं, और बीच २ में ऊपर भी चढ़ जाते हैं। मूल शंकर ने सोचा कि जो महादेव बड़े २ दानवों के व्यतिक्रम को नहीं सह सकता, और त्रिशूल लेकर उन का संहार करता है, वह इन चूहों को सिर पर चढ़ने से तो अवश्य रोकेगा। और कुछ नहीं तो सिर हिला कर ही उन्हें भगा देगा। परन्तु उसने आश्चर्य और विस्मय से देखा कि वह पत्थर पत्थर ही रहा, हिला जुला नहीं। तब क्या यह पत्थर ही वह शिव है, जो कैलास पर निवास करता है, जिसमें संसार का संहार करने की शक्ति है, जिसके त्रिशूल की ज्योति से दानवों के कलेजे कांप जाते हैं ? वह कोई और ही शिव होगा—इसमें और उसमें अवश्य भेद है। ये सब विचार मूलशंकर के, तीव्र प्रतिभा से संस्कृत मन में उठने लगे। वह दिन में शिव-माहात्म्य सुन चुका था, उसे वह याद आने लगा, और जो कुछ देखा, उसकी रोशनी में सुना हुआ महात्म्य निर्मूल प्रतीत होने लगा।

चिन्तित मूल शंकर ने शंका निवृत्त करने के लिये पिता को जगाया। पिता के पास प्रतिभाशाली पुत्र के गहरे प्रश्नों का उत्तर कहां था ? वह जिज्ञासु की जिज्ञासा को तृप्त न कर सका। मूल शंकर निरुत्साहित होकर मन्दिर से घर चला आया, और प्रेम

मयी मां से अपनी भूख की शिकायत की। 'मैं तो पहले ही कहती थी कि तू भूखा न रह सकेगा' इत्यादि बहुत सी बातें माता ने कही होंगी। माता ने पुत्र को पेट भर कर खिला दिया और बिस्तर पर सुला दिया।

यह घटना मूल शंकर के जीवन में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न करने का कारण हुई। मूर्ति पूजा पर से उस की श्रद्धा उड़ गई। कई लोग आशंका किया करते हैं कि इतनी छोटी सी बात—और वह भी इतनी छोटी सी अवस्था में—इतना भारी परिणाम कैसे उत्पन्न कर सकती थी? अनुभव से देखा गया है कि ऐसी छोटी बातें छोटी अवस्था में ही इतना प्रभाव उत्पन्न करती है। उस समय बालक की बुद्धि बड़ी नर्म होती है। उस पर छोटा सा भी आघात प्रतिक्रिया को उत्पन्न करता है। बड़ी अवस्था में बुद्धि कठोर हो जाती है, प्रतिभा अनुभवों के बोझ से दब जाती है, और बहुत सी घटनायें जो बालक के हृदय में नई होने के कारण उत्तेजना उत्पन्न करती है, प्रौढ़ के हृदय में बार २ देखी हुई होने के कारण कुछ भी प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं। इस घटना के पीछे मूल शंकर की मूर्तिपूजा से श्रद्धा उठ गई। उसने चचा और माता की सिफारिश पर पिता से पूजापाठ के कार्यों से छुट्टी ले ली और पठन पाठन में जी लगा दिया। इस समय दो ऐसी घटनायें हुईं, जिन्होंने मूल शंकर के स्वच्छ दर्पण के समान हृदय पर स्थायी प्रतिबिम्ब छोड़ दिया। उन घटनाओं का वर्णन चरित नायक की अपनी भाषा में ही सुनाना उत्तम होगा। ऋषि ने आत्म-चरित में उनका इस प्रकार वर्णन किया है—'मेरी १६ बरस की अवस्था के पीछे मेरी १४ बरस की बहिन थी, उसको हैजा हुआ, जिसका वृत्तान्त यों है। एक रात जब कि हम एक मित्र के घर नाच देखने गये हुए थे, तब अचानक नौकर ने आकर खबर दी कि उसे हैज़ा होगया। हम सब तत्काल वहां से आये। वैद्य बुलाये गए, औषधि की, मगर कुछ फायदा न हुआ। चार घन्टों में उसका शरीर छूट गया। मैं उसके बिछौने के पास दीवार से आसरा लेकर खड़ा था। जन्म से लेकर इस समय तक मैंने पहिली वार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे दिल को बड़ा कष्ट हुआ और मुझे बहुत डर लगा, और मारे डर के सोचने लगा कि सारे मनुष्य इसी प्रकार मरेंगे, और ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा। सोच विचार में पड़ गया कि जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा, इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे जन्म मरण रूपी दुःख से यह जीव छूटे और मुक्त हो। अर्थात् इस समय मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ जम गई।''

सब लोग रोने लगे, परन्तु वैराग्य की लहर में बहते हुए मूल शंकर की आंख से आंसू न निकले। बालक मूल शंकर रोने की चिन्ता में नहीं था, वह सदा के लिये

रोने से बचने का उपाय ढूंड रहा था। इस घटना से मूल शंकर के हृदय में वैराग्य का अंकुर उत्पन्न हो गया।

दूसरी घटना का चरित नायक ने इस प्रकार वर्णन किया है—"जब मेरी अवस्था १६ वर्ष की हुई तब जो मुझ से अत्यन्त प्रेम करने वाले बड़े धर्मात्मा तथा विद्वान् मेरे चचा थे, उनको हैज़े ने आ घेरा, मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया, लोग उनकी नाड़ी देखने लगे, मैं भी पास ही बैठा हुआ था, मेरी ओर देखते ही उनकी आंखों से आंसू बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहां तक कि रोते २ मेरी आंखें फूल गईं। इतना रोना मुझे पहले कभी न आया था। उस दिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचा जी के सदृश एक दिन मरने वाला हूं।" तपे हुए लोहे पर चोट लगी। मूल शंकर का हृदय बहिन की मृत्यु के दृश्य से पहले ही नर्म हो चुका था, इस दूसरी चोट ने उसे पूरी तरह वैराग्य की ओर झुका दिया।

शिव लिंग पर चूहों को कूदता हजारों लोग देखते हैं, परन्तु उसे एक साधारण घटना समझ कर तरह दे जाते हैं। बहिनें और सम्बन्धी किस से नहीं मरते? परन्तु वैराग्य सब को नहीं होता। छोटी सी घटना से इतना बड़ा परिणाम निकालना हरेक बुद्धि के लिये सम्भव नहीं है, और असाधारण बुद्धि के लिए भी सदा छोटी बात से बड़ा परिणाम निकालना असम्भव है। एक फल को गिरते देखकर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का अनुमान सब नहीं कर सकते; पोप की सवारी न जाने कितने पादरियों ने देखी होगी, परन्तु ईसाई धर्म में सुधार की इच्छा सब के हृदय में उत्पन्न नहीं हुई। विशेष प्रतिभायें ही विन्दु से विश्व का अनुमान कर सकतीं हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि बहुत प्रचण्ड प्रतिभायें भी हरेक विषय में, या हर समय एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं होतीं; बुद्धदेव ने रोगी या बूढ़ों को देखकर अमर होने का यत्न आरम्भ कर दिया परन्तु बहुत सी भौतिक घटनायें देखकर भी वैज्ञानिक परीक्षण आरम्भ नहीं किये। न्यूटन ने छोटी सी बात से विज्ञान के बड़े २ सिद्धान्त निकाल लिये परन्तु बूढ़ों या मरतों को देखकर वैराग्यवान् नहीं हुआ। यह विचित्रता पूर्व के संस्कारों को सिद्ध करती है। पूर्व संस्कार और अद्भुत प्रतिभा-यह दोनों मिलकर संसार में आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। भगवान् के अभीष्ट बड़े २ कार्य इन्हीं दो शक्तियों के मेल से हो सकते हैं। मूल शंकर में भी इन दोनों का पूरा समावेश था।

मूल शंकर के हृदय में यह विचार उत्पन्न होने लगा कि 'मुझे भी कभी मरना पड़ेगा। क्या इस से किसी प्रकार बच सकता हूं?" वह विद्वानों और वृद्धों से अमर होने के उपाय पूछने लगा। जब उसके माता पिता को यह पता लगा तो वह उसे बांधने के लिये विवाह कर देने का संकल्प दृढ़ करने लगे। विचारों का द्वन्द्व युद्ध होने लगा।

मूलशंकर ने इस कारागार से बचने के लिये कभी काशी जी जाने का प्रस्ताव किया और कभी पड़ोस में विद्याभ्यास समाप्त करने की बात उठाई। उसके माता पिता वैराग्य से डरते थे, इस कारण उनकी ओर से विवाह की शीघ्रता होने लगी। ऐसी दशाओं में माता पिता अपनी अधीरता से प्रायः अपना काम बिगाड़ लिया करते हैं। वह छूटने का यत्न करने वाली सन्तान को बहुत शीघ्र बांधने का यत्न करते हैं। यह अधीरता प्रायः दुःखान्त सिद्ध होती है। मूलशंकर के माता पिता ने भी अपनी अधीरता से बिगड़ते काम को शीघ्र से शीघ्र बिगाड़ दिया।

दूसरा परिच्छेद

अमृत की तलाश

मूल शंकर के जीवन में यह समय विषम परीक्षा का था । वह एक पहाड़ की ऐसी चोटी पर खड़ा था, जिसके एक ओर नीचे उतरने की शाही सड़क बनी हुई थी, और दूसरी ओर, जिस चोटी पर वह खड़ा था, उससे भी अधिक ऊंची चोटियां दिखाई दे रही थीं । बीहड़ जंगल था, कंटीली पगडंडियां थीं, और नुकीले पत्थर थे । शाही सड़क पर होकर नीचे उतर आना बहुत ही सहल था, परन्तु दूसरी ओर जाना जान को खतरे में डालना था । सरल मार्ग मृत्यु लोक को जाता है; उस पर अनगिनत प्राणी बड़ी सरलता से चले जा रहे हैं । दुर्गम मार्ग कहा का है ? क्या वह अमर लोक का मार्ग है ? कह नहीं सकते । कई लोग उस मार्ग पर चलना आरम्भ करके ऐसी उलझनों में फंसे कि न इधर के ही रहे और न उधर के ही हुए । बहुत से लोग बीहड़ जंगल में कुछ कदम चलकर यह कहते हुए लौट आये, कि 'बस, जाने दो, यह सब ढोंग है' राजमार्ग का उद्देश्य निश्चित है, दूसरी ओर जाना अन्धेरे में कूदने के समान हैं । विश्वासी जीव कहते हैं कि दूसरी ओर की चोटियो पर अमर लोक है, परन्तु वह किसी ने देखा नहीं । उद्देश्य संदिग्ध—मार्ग विकट । क्या इससे अधिक विषम समस्या भी हो सकती है ?

परन्तु मूल शंकर को इस विषम दशा में अधिक भटकना नहीं पड़ा । उसने इस प्रकार विचार किया "एक ओर राजमार्ग है, वह मृत्यु का रास्ता है । यह निश्चित है । वह मार्ग नीचे को जाता है, यह भी निश्चित है । इस कारण वह हेय हैं । दूसरी ओर अमरता की सम्भावना है । नाश के निश्चय से बचाव की सम्भावना बहुत अच्छी है । यह विचार कर मूलशंकर ने निश्चित मृत्यु की ओर लेजाने वाले राजमार्ग का एकदम त्याग कर दिया और सम्भावित अमरपद की तलाश के लिये कमर कसली । विवाह का झंझट देखकर उसने समझ लिया है कि इस ससार का तिलिस्मी द्वार खुल गया है । यह तिलिस्मी द्वार हरेक युवा और युवती को अपनी ओर बड़े वेगसे खेंचता है । जहां द्वारके अन्दर पांव धरा कि पीछे के किवाड़ स्वयं ही बन्द हो जाते हैं । पीछे लौटने के लिये सीधा रास्ता बिल्कुल बन्द हो जाता है । दयानन्द ने देखा कि द्वार खुल गया है । उसमें एक पग रखने की देर है । द्वार बन्द होते ही अमरलोक एक हल्का सा सपना रह जायगा—पैर ज़ंजीरों में बंध जावंगे ।

अमृत के प्यासे मूलशंकर ने, प्रेममय घर, और सरल राजमार्ग को लात मार कर २१ वर्ष की उमर में बीहड़ बन का रास्ता लिया। वह ज्येष्ठमास की एक सांझ को घर से भाग खड़ा हुआ।

मूलशंकर १९०२ विक्रमी के ज्येष्ठ मास में घर से बाहर हुआ, और १९१७ विक्रमी के कार्तिक मास में दण्डी जी के पास मथुरा में पहुंचा। इन बीच के १५ वर्षों में उसने एक सच्चे जिज्ञासु का जीवन व्यतीत किया। घर से सम्बन्ध तोड़ दिया। घर छोड़ने से कुछ मास पीछे केवल एकवार सिद्धपुर के मेले में एक वैरागी से पुत्र का समाचार पाकर मूलशंकर के पिता ने उसे आ पकड़ा था। जब पिताने कई सिपाहियों के साथ आकर पकड़ लिया जब सिवा पिता के चरणों में सिर झुकाने के क्या चारा था? पिता सिपाहियों के पहरे में रखकर मूलशंकर को घर की ओर वापिस ले चले, परन्तु जिसे धुन समाई थी, वह अब कैद में फंसने वाला न था। रात के समय सिपाहियों को सोते देख मूलशंकर फिर भाग निकला। दूसरा दिनभर उसने एक बड़े पेड़ पर छिप कर बिताया। पिता ऐसे बेमुरव्वत पुत्रसे निराश होकर घर वापिस चले गये, और मूशंकर ने अपना रास्ता लिया। इसके पीछे मूलशंकर का घरवालों से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ।

मूलशंकर को एकही धुन थी कि मृत्यु से छूटने का उपाय जाना जाय। इसे बताया गया था कि मृत्यु से छूटने का उपाय 'योग' है। मूलशंकर योगी की तलाश में शहर गांव और जंगल में भ्रमण करने लगा। पहले पहल तो नया होने के कारण उसे ठग साधुओं ने खूब लूटा। ठग ने रेशमी वस्त्र धरा लिये, परन्तु धीरे २ कुछ विवेक होता गया, और जिज्ञासु ठगों और सन्तों में भेद करने लगा। घर से भागने पर पहला काम मूलशंकर ने यह किया था कि सामले नामक ग्राम में एक ब्रह्मचारी की प्रेरणा से दीक्षा लेकर अपना नाम 'शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी' रक्खा। बहुत समय तक जिज्ञासु ने ब्रह्मचारी रहकर भ्रमण किया परन्तु ब्रह्मचारी को उस समय गुजरात में सन्यासियों की भांति बना बनाया भोजन नहीं मिलता था, हाथ से बनाना पड़ता था। इससे शुद्ध चेतन के पठन पाठन में बहुत विघ्न होता था। उसने कई सन्यासियों से सन्यास लेने का यत्न किया परन्तु थोड़ी आयु देखकर वह लोग संकोच करते रहे। नर्मदा नदी के तट पर घूमते हुए उन्हें पूर्णानन्द सरस्वती नामके विद्वान् साधु के दर्शन करने का अवसर मिला। उनसे भी शुद्ध चेतन ने सन्यास देने की प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने कुछ संकोच किया परन्तु और साधुओं की सिफ़ारिश आने पर सन्यास देना स्वीकार कर लिया। पूर्णानन्द सरस्वती से सन्यास लेकर शुद्ध चेतन स्वामी दयानन्द सरस्वती बन गया।

घर से निकल कर कुछ समय तक स्वामी दयानन्द ने गुजरात में ही भ्रमण किया, वहां से बड़ौदा होते हुए चेतन मठ होकर नर्मदा के तटपर चिरकाल तक भिन्न २ स्थानों में निवास किया। नर्मदा तट से आबू ठहर कर सं० १९१२ के कुम्भपर स्वामी दयानन्द हरिद्वार आये और वहां के मठों और महन्तों की माया का पहली बार दिग्दर्शन किया। हरिद्वार से आप हिमालय की ओर चल दिये और सच्चे योगी की तलाश में कठिन से कठिन चोटियों पर चढ़ कर, गुफाओं में घुसकर और घाटियां पार करके सच्चे जिज्ञासु होने का परिचय दिया।

इस भ्रमण में दयानन्द ने कई सच्चे और झूठे योगियों के दर्शन किये। झूठे योगियों से उन्हें घृणा उत्पन्न होजाती थी, और सच्चे योगियों से वह कुछ न कुछ सीख ही लिया करते थे। चाणोद कल्याणी में वास करते हुए आपका योगानन्द नाम के एक योगी से परिचय हुआ। देर तक स्वामी ने उनसे योग की क्रियायें सीखीं। अहमदाबाद में दो और योगियों से उन्हें योगविद्या सीखने का अवसर मिला। इस प्रकार मिले हुए अवसरों से जिज्ञासु ने पूरा लाभ उठाया।

हरिद्वार से टिहरी राज्य की ओर जाते हुए स्वामी जी को तन्त्र ग्रन्थ देखने का अवसर मिला। उन ग्रन्थों को देखकर आपके चित्त में इतनी घृणा हुई कि वह फिर अनेक नई व्याख्यायें सुनकर भी दूर नहीं हुई। टिहरी से विद्या और योग की धुन में मस्त स्वामी ने केदारघाट रुद्र प्रयाग सिद्धाश्रम आदि का भ्रमण करते हुए मठों और मन्दिरों की दुर्दशा को अच्छी तरह देखा। तुंगनाथ की चोटी पर चढ़ते हुए उन्हें आशा थी कि ऊपर कुछ अच्छा दृश्य देखने को मिलेगा। वहां पहुंच कर भी देखा तो वैसा ही मन्दिर, वैसे ही पुजारी—सब लीला मैदान जैसी ही थी। गुप्त काशी का दौरा लगाकर श्री दयानन्द सरस्वती ओखी मठ में पहुंचे। ओखी मठ हिमालय का बड़ा प्रसिद्ध मठ है। वहां की गुफाओं में जिज्ञासु और सच्चे महात्माओं की बहुत तलाश की, परन्तु वहां भी चरस और सुल्फे के धुएं से सब कुछ आच्छन्न ही दिखाई दिया।

यहां के एक महन्त ने स्वामी जी से बात चीत करके यह संकल्प किया कि उन्हें अपना मुख्य चेला बना कर उत्तराधिकारी बनाये। ऐसा भव्य और पठित शिष्य उसे कहां मिलता। उसने अपना भाव दयानन्द के सामने प्रकाशित किया और यह भी बताया कि मठ के साथ द्रव्य की राशि भी कुछ कम नहीं है। दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'यदि मुझे धन की अभिलाषा होती तो मैं अपने बाप की सम्पत्ति को, जो तुम्हारे इस माल और दौलत से कहीं बढ़ कर थी, न छोड़ता' फिर दयानन्द ने कहा कि 'जिस उद्देश्य से मैंने घर छोड़ा, और सांसारिक ऐश्वर्य से मुंह मोड़ा, न तुम उसके लिए यत्न कर रहे हो, और न तुम्हें उसका ज्ञान है। फिर तुम्हारे पास मेरा रहना किस

प्रकार सम्भव है।' यह सुनकर महन्त ने पूछा कि 'वह कौनसी वस्तु है जिसकी तुम्हें खोज है और तुम इतना परिश्रम उठा रहे हो ? दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'मैं सत्य योग-विद्या और मोक्ष की खोज में हूं और जब तक यह प्राप्त न होंगे, तब तक बराबर देशवासियों की सेवा करता रहूंगा।'

मठ के महन्त के पास धन था, मकान था, ऐश्वर्य था, परन्तु न सत्य था, न योग था, और न मोक्ष का उपाय था—इस कारण वह जिज्ञासु दयानन्द को न बांध सका। ओखीमठ से जोशीमठ होते हुए आप बदरीनारायण गये। आपने सुन रखा था कि बदरीनारायण के आस पास योगी रहा करते हैं। बदरीनारायण को योगियों से बिल्कुल शून्य पाकर योग के अभिलाषी दयानन्द ने आस पास की चोटियों और गुफाओं में खोज करने का संकल्प किया। चारों ओर बर्फ पड़ी हुई थी। नदियों का पानी नुकीले पत्थरों में से होकर बहता हुआ रास्तों को रोक रहा था। दयानन्द ने इन कठिनाइयों की पर्वाह न करते हुए खोज जारी रखी। घूमते २ आप अलकनन्दा नदी के किनारे पहुंचे और उसे पार करने के लिये पानी में घुस गये। इसी नदी में किसी २ ठिकाने घुटने तक जल था, और कहीं २ गहराई बहुत अधिक थी। चौड़ाई कोई १० हाथ के अनुमान होगी। पानी बर्फ के समान ठंडा था, और बीच २ में नोकदार पत्थर और बर्फ के टुकड़े भी बिखरे हुए थे। शरीर पर कपड़ा बहुत हलका था, और पांव बिल्कुल नंगे थे। स्वामी दयानन्द की दशा बहुत ही शोचनीय होगई। पानी के अन्दर कुछ समय के लिये तो वह बिल्कुल मूर्छित से होगये, परन्तु धैर्य से अपने आपको बचाये रखा। किसी प्रकार पार तो हुए पर एक ओर सर्दी, दूसरी ओर भूख। पांव पत्थरों से छिल गये थे, और लहू जारी होगया था। आगे जाने की हिम्मत न रही—परन्तु वहां ठहर कर रात बिताने में भी मृत्यु का सामना था। उस समय परमात्मा की कृपा से भक्त को सहायता मिली। दो पहाड़ी राही उधर आ निकले, यद्यपि वह पहाड़ी दयानन्द को साथ न ले जा सके, तो भी कुछ ढारस अवश्य बंध गया। थोड़ी देर सुस्ता कर स्वामी जी उठ खड़े हुए, और बसुधा तीर्थ पर कुछ विश्राम करके बदरीनारायण को लौट गये।

बदरीनारायण के आस पास योगी के दर्शन करने की अभिलाषा में निराश होकर जिज्ञासु ने स्थल की ओर मुंह मोड़ा। रामपुर, द्रोण सागर, और मुरादाबाद होते हुए आप गढ़मुक्तेश्वर पहुंच गये। गंगा के किनारे घूम रहे थे। प्रवाह में बहता हुआ एक मुर्दा उन्हें दिखाई दिया। दयानन्द ने हठ योग प्रदीपिका आदि में शरीर के आभ्यन्तर अंगों के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ रखा था। उसके सत्यासत्य निर्णय का उचित अवसर देखकर आप पानी में कूद पड़े और मुर्दे को किनारे पर खैंच लिया। लाश किनारे पर रख चाकू से चीर फाड़ की तो उन ग्रन्थों में लिखे हुए शरीर वर्णन को बहुत अशुद्ध

पाया । असत्य से भरे हुए ग्रन्थों का बोझ उठाने से कोई लाभ न देख कर दयानन्द ने उन सब को फाड़ कर गंगा--प्रवाह के अर्पण कर दिया ।

गंगा तट का भ्रमण करके स्वामी जी दक्षिण की ओर जा निकले और बहुत दिनों तक नर्मदा के तट पर घूमते रहे। वहां बड़े २ घने जंगल हैं। एक जगल में आप का एक बड़े भालू से सामना होगया । भालू को देखकर वह डरे नहीं प्रत्युत अपना सोंटा उठाकर उसकी ओर को बढ़ाया । सोटे से डर कर चिंघाडता हुआ वह भालू जंगल में भाग गया । एक वार घने जंगल में घूमते २ आपको रात होगई । अंधेरे में कहीं ठहरने का स्थान ढूंढते २ जंगल में कुछ कुटिया दिखाई दीं । पास जाने पर कोई जागता हुआ प्राणी न मिला । तब रात भर आप ने एक वृक्ष पर बैठ कर गुज़ारी । प्रातःकाल जब ग्रामवासियो ने एक सन्यासी को देखा तो रात के कष्ट के लिये बहुत क्षमा मागी और उचित आदर सत्कार किया ।

नर्मदा के तट पर दयानन्द ने लगभग तीन वर्ष भ्रमण किया। भ्रमण में आपने सुना कि मथुरा में एक योगी और विद्वान् दण्डी रहते है । योग और विद्या के अभिलाषी ने यह समाचार सुनते ही मथुरा की ओर मुह मोड़ा और कार्तिक सुदी २ सं० १९१७ तदनुसार १४ नवम्बर १८६० के दिन मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी का दरवाज़ा जा खटखटाया ।

पन्द्रह वर्षों तक जिज्ञासु दयानन्द ने पहाडों और मैदानों को नाप डाला, इतने शारीरिक कष्ट सहे, और तपश्चर्या की—यह सब किस लिये ? सत्य योग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये । परन्तु न हिमालय की सर्दी में दिल की आग बुझी, और न गंगा और नर्मदा के जलों ने ज्वाला को शान्त किया । अब जिज्ञासु दण्डी स्वामी के द्वार पर विद्या के स्रोत में हृदय का ताप बुझाने पहुंचता है—चलो पाठक ! देखें कि उसे कहा तक सफलता प्राप्त होती है ?

तीसरा परिच्छेद।

विद्या के स्रोत में स्नान

यह स्वामी विरजानन्द जी कौन हैं ? पंजाब में कर्तारपुर के समीप गंगापुर नाम का एक ग्राम था, उसमें नारायणदत्त नाम का सारस्वत ब्राह्मण रहता था। दयानंद के गुरु श्री विरजानन्द दण्डी ने उसी के घर जन्म लिया था। बचपन से ही बालक पर आपत्तियों का आक्रमण आरम्भ हुआ। ५ वर्ष की आयु में चेचक ने चाम की आंखें शक्ति हीन कर दीं, और १२ वें वर्ष में बालक के माता पिता होनहार बच्चे को अनाथ छोड़ कर परलोक की यात्रा कर गये। बालक के पालन पोषण का बोझ बड़े भाई के कन्धों पर पड़ा। बडा भाई साधारण दुनियादार भाइयों की भांती नासमझ था। वह एक अन्धे और अत एव अनुपयोगी भाई की पेट पालना में कोई विशेष लाभ नहीं देखता था। भाई और भावज की कृपा से तंग आकर शीघ्र ही बालक को घर छोड़ना पड़ा।

घर से भाग कर प्रतिभाशाली युवक हृषीकेश और हरिद्वार में पहुंचा और वर्षों तक विद्याध्ययन तथा तपश्चर्या द्वारा अपनी आत्मा को संस्कृत करता रहा। हरिद्वार में ही स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती की दया से उसे सन्यास मिला। सन्यासी विरजानन्द विद्या की तलाश में हरिद्वार कनखल काशी गया आदि में चिरकाल तक घूमते रहे और विद्वानों से व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। अमृत के प्यासे ऋषि दयानन्द के गुरु बनने का अधिकार उसी तपस्वी को हो सकता था, जिसने एक उद्देश्य के लिये तपस्या की हो, किसी उत्तम पदार्थ की खोज में कोने २ छान मारे हों। इस दृष्टि से देखें तो स्वामी विरजानन्द जी ऋषि के गुरु बनने के पूर्णतया अधिकारी थे।

विद्याध्ययन कर लेने पर दण्डी जी ने विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया। उनके यश का विस्तार चारों ओर होने लगा। विशेष कर व्याकरण में उनका पाण्डित्य बहुत ऊंचे दर्जे का समझा जाता था। उनके पाण्डित्य और मधुर श्लोकगान से प्रसन्न होकर अलवर के राजाने कुछ दिनों तक उन्हें अपने यहां रखा। राजा की प्रार्थना पर दण्डी जी यह शर्त करके अलवर गये थे कि प्रतिदिन राजा ३ घन्टे तक तक अध्ययन किया करेगा। विलासी राजा अपने प्रण को निभा न सका, परन्तु सन्यासी ने अपना प्रण निभाया। जिस दिन राजा पढ़ने नहीं आया, उससे अगले दिन दण्डी का आसन अलवर से उठ गया।

कुछ समय रजवाड़ों में बिताकर स्वा० विरजानन्द जी ने मथुरा में अपना आसन जमाया। व्याकरण पढ़ने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी दूर देशों से—यहां तक कि काशी से भी—दण्डी जी के पास आते थे। व्याकरण में दण्डी जी का पाण्डित्य अपूर्व हो गया था। इस समय उनके जीवन में एक विशेष परिवर्तन करने वाली घटना संघटित हुई। पड़ोस में एक दक्षिणी पण्डित रहता था। वह प्रतिदिन मूल अष्टाध्यायी का पाठ किया करता था। दण्डी जी उस समय तक सिद्धान्त कौमुदी मनोरमा और शेखर को ही व्याकरण का आदि और अन्त समझते थे। मूल अष्टाध्यायी का पाठ सुनकर मानों उनकी आंखें खुल गई। उन्हें प्रतीत हुआ कि व्याकरण का ऋषिनिर्णीत क्रम कुछ और ही है। अष्टाध्यायी के सूत्र क्रम को देखते ही उनके हृदय में धारणा हो गई कि कौमुदी कार का बनाया हुआ क्रम अस्वाभाविक है और अष्टाध्यायी के महत्त्व को कम करने वाला है। यह धारणा होते ही दण्डी जी ने दीक्षित के ग्रन्थों का और उनके साथ ही अन्य सब अर्वाचीन व्याकरणग्रन्थों का त्याग कर दिया। जनश्रुति है कि उनका यमुना में प्रवाह कर दिया। अष्टाध्यायी का क्रम दण्डी जी को इतना पसन्द आया कि उन्हों ने अपने शिष्यों के पास जितने अर्वाचीन ग्रन्थ थे वह फिकवा या जलवा दिये। अष्टाध्यायी और महाभाष्य -बस इन दो को हृदय के आसन पर बिठा लिया।

क्रिया प्रतिक्रिया का सिद्धान्त संसार में सभी जगह पाया जाता है। पानी एक ओर को बह रहा है। सामने पहाड़ की भारी चट्टान आ जाती है। पानी उल्टे पांव भागता है। उसके उल्टे भागने का वेग आगे बढ़ने के वेग के अनुपात से होगा। यदि पानी धीमी गति से आगे बढ़ रहा था, तो धीमी चाल से ही पीछे को लौटेगा परन्तु यदि जल का प्रवाह वेगवान् था, तो उल्टी ठोकर भी ज़ोर की लगेगी। दण्डी जी के विचार प्रवाह में भी ज़ोर की ठोकर लगी। वह कौमुदी मनोरमा और शेखर के प्रवाह में बड़े वेग से बहे जा रहे थे। अष्टाध्यायी का मूल सूत्रक्रम सुनकर, और उसका सरल सौन्दर्य देखकर प्रज्ञाचक्षु की आखें खुल गईं। उन्हें भान होने लगा कि ऋषिकृत व्याकरण का क्रम कौमुदी के घड़े हुए क्रम से बहुत उत्कृष्ट है। इतना उत्तम होते हुए भी सूत्र क्रम गुम क्यों होगया? व्याकरण का पठनपाठन अष्टाध्यायी के क्रम से क्यों नहीं होता? कारण यही प्रतीत होता था कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी बनाकर सूत्र क्रम को पीछे फेंक दिया। इससे दण्डी जी का सारा असन्तोष भट्टोजिदीक्षित पर केन्द्रित होगया। अष्टाध्यायी और महाभाष्य से उनका प्रेम ज्यों २ बढ़ता जाता था, भट्टोजिदीक्षित से त्यों २ उन्हें घृणा होती जाती थी। धीरे २ उनके हृदय में यह निश्चय सा होगया कि जब तक कौमुदी और उससे सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों का प्रचार नहीं रुक—तब तक व्याकरण की ऋषिकृत पद्धति का उद्धार नहीं हो

सकता। यह विचार दण्डी जी के मन में समा गया, उनके दिल पर सवार होगया। यही विचार दिन का चिन्तन और रात का सपना होगया। एक वार जयपुर के राजा रामसिंह ने दण्डी जी को दर्बार में बुलाकर अपने यशस्वी होने का उपाय पूछा। ऋषिकृत ग्रन्थों के भक्त दण्डी जी ने उत्तर में यह आदेश किया कि एक बड़ी सभा करके देश भर के विद्वानों को एकत्र करो। सभा में इस विषय पर शास्त्रार्थ हो कि व्याकरण का ऋषिकृत क्रम अच्छा है या कौमुदी का? दण्डी जी ने कहा कि मैं उस सभा में सिद्ध करके दिखा दूंगा कि ऋषिकृत क्रम ठीक है और कौमुदी आदि ग्रन्थ अशुद्धियों से भरपूर हैं। दूसरे एक अवसर पर मथुरा के कलेक्टर मि० पोस्टली दण्डी जी से मिलने आये। मि० पोस्टली ने सभ्यता के तौर पर पूछा कि 'आप क्या चाहते हैं, जो हम कर सकें?' दण्डी जी ने उत्तर दिया कि 'यदि आप हमारी इच्छा पूरी किया चाहते हैं तो भट्टोजिदीक्षित के सब ग्रन्थों को इकट्ठा करके जलवादें।' यह भी प्रसिद्ध है कि दण्डी जी दीक्षित के ग्रन्थों पर शिष्यों के हाथों से जूते लगवाया करते थे।

क्या यह उचित था? अष्टाध्यायी या कौमुदी के सम्बन्ध में स्वतन्त्र सम्मति रखना दण्डी जी के लिये सर्वथा उचित था। यह उनका अधिकार था। ग्रन्थों की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता के विषय में स्वतन्त्र सम्मति रखने का विद्वानों को पूरा अधिकार है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उनकी सम्मति निर्मूल थी। अष्टाध्यायी की पद्धति का निर्माण पाणिनिमुनि ने किया है। सूत्रों का क्रम अष्टाध्यायी का जीवन है। यदि क्रम की उपेक्षा करदी जाय तो सूत्र व्यर्थ हैं। अनुवृत्ति असम्भव हो जाती है, 'विप्रतिषेधे परं कार्यं' बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है, और 'पूर्वत्रासिद्धम्' का कुछ बल ही नहीं रहता। अष्टाध्यायी के सूत्रों का इतना लघुकाय होना क्रम पर ही आश्रित है। उसका सौन्दर्य, उसका गौरव, बहुत कुछ क्रम पर अवलम्बित है। क्रम को छोड़ कर यदि सूत्रों को कार्य में लाया जाय, तो अनुवृत्ति के लिये स्मृति पर बोझ डालना पड़ता है। 'परंकार्य' और 'असिद्ध' का तो अनुमान-मात्र लगाया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि जो आदमी संस्कृत व्याकरण का विद्वान् बनना चाहे, वह यदि सिद्धान्त कौमुदी को साद्यन्त पढ़ जाय तो भी सूत्रक्रम के परिचित हुए बिना वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। अष्टाध्यायी और उसके सूत्रों के क्रम का अटूट सम्बन्ध है।

मुनि विरजानन्द ने देखा कि लोग सिद्धान्त कौमुदी को पढ़कर सूत्रक्रम की उपेक्षा करते हैं। भट्टोजिदीक्षित के देखने में सरल परन्तु वस्तुतः दुर्गम ग्रन्थ ने ऋषिकृत व्याकरण का लोप कर दिया है। उनकी अन्तरात्मा इससे खिन्न होकर प्रचलित पद्धति के विरुद्ध विद्रोह करने लिये खड़ी होगई। विद्रोह के समय प्रायः सीमा का उल्लंघन हो जाता है। दण्डी जी के क्षोभ ने भी जब उग्र रूप धारण किया तब मर्यादा का

अतिक्रमण कर दिया इसमें सन्देह नहीं। ग्रन्थ को नदी में बहाने से कभी उसका लोप नहीं हुआ, और न कभी जूतों या पांव के तले रोंदने से उसका प्रचार रुका है। परिणाम प्रायः उल्टा ही होता है। आज भारतभूमि में सिद्धान्त कौमुदी की छपी हुई प्रतियां दण्डी जी के समय की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दण्डी जी का यत्न व्यर्थ गया। जिस सत्य का अनुभव उन्होंने किया, और अपने शिष्यों को कराया, उसे देश के एक बड़े भाग ने अंगीकार कर लिया है। आज सूत्रक्रम पर श्रद्धा रखने वाले विद्वानों की संख्या, और मूल अष्टाध्यायी की प्रकाशित प्रतियों की संख्या भी दण्डी जी के समय से बहुत अधिक है। सत्य ने अपना प्रभाव पैदा किया है, उसकी सहायता में यदि कहीं सीमा का उल्लंघन होगया था, तो वह फल का महत्त्व देखते हुए अब विस्मरण करने योग्य है। जहां एक ओर उसका अनुकरण बिल्कुल त्याज्य है, वहां दूसरी ओर बारम्बार उसे दोहरा कर शिकायत करना बुद्धिमत्ता में शामिल नहीं है।

अस्तु। ऐसे दण्डी विरजानन्द जी थे, जिनके द्वार पर कार्तिक सुदी २ सं० १९१७ (१४ नवम्बर १८६०) के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाकर आवाज़ दी। परिचय हो जाने पर दण्डी जी ने पूछा कि 'क्या कुछ व्याकरण पढ़ा है?' दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'सारस्वत पढ़ा हू' इस पर आज्ञा हुई कि पहले सब अनार्ष ग्रन्थ यमुना में बहा आओ तब आर्ष ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी हो सकोगे। दयानन्द ने आज्ञा का पालन किया और योग्य गुरु के चरणों में बैठ कर विद्यामृत-पान का यत्न आरम्भ किया।

स्वामी जी का विद्यार्थी जीवन अनुकरणीय था। प्रातः काल उठ कर नित्य क्रिया से निवृत्त हो कर पहले गुरु के लिये नदी से जल लाते थे, फिर अपने सन्ध्योपासन के पीछे पढ़ने में लग जाते थे। प्रातः काल के समय कुछ चने चबा लेते थे, जो उन्हें दुर्गा खत्री की कृपा से प्राप्त होते थे। मथुरा के बहुत से विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध बाबा अमर लाल जोशी की ओर से था, स्वामी जी के भोजन का प्रबन्ध भी वहीं पर था। रात्रि के समय भी सोने से पहले कुछ न कुछ अभ्यास किया करते थे, जिसके लिये तेल का मासिक खर्च ।) ला० गोवर्धन सर्राफ से प्राप्त होता था। इसी प्रकार उदार महानुभावों की सहायता से आवश्यकतायें पूरी होती थीं, और शिष्य को गुरुसेवा करते हुए विद्याध्ययन करने का खुला अवसर मिलता था।

दण्डी जी का स्वभाव उग्र था। कभी २ बहुत नाराज़ हो जाते थे। शिष्यों के हाथों पर लाठी भी जमा देते थे। एक वार स्वामी जी की भी मारी खा गई। कहते हैं कि लाठी की [illegible] का निशान स्वामी जी के हाथ पर मरण पर्यन्त बना रहा।

देख कर वह गुरु के उपकारों का स्मरण किया करते थे। एक वार छोटे से अपराध पर ड्योढ़ी बन्द कर दी गई तब योग्य शिष्यने दो हितैषियों से सिफारिश कराई। सिफारिश से सन्तुष्ट हो कर गुरु ने शिष्य को क्षमा कर दिया।

स्वामी दयानन्द का जीवन पूरे यति का जीवन था। जिस दिन से वह जिज्ञासु बने, उस दिन से मन वाणी और कर्म से ब्रह्मचारी रहने का कठोर व्रत धारण किया। विद्यार्थी जीवन में दयानन्द ने पूर्ण ब्रह्मचारी रहने का उद्योग किया। एक दिन की घटना है कि आप नदी के तट पर सन्ध्या कर रहे थे। ध्यान खुला तो क्या देखते हैं कि एक युवती चरणों का स्पर्श कर रही है। चरणस्पर्श भक्ति से था, परन्तु पूर्ण ब्रह्मचारी ने उतने स्त्रीस्पर्श को भी पाप समझा, और कई दिनों तक एकान्त में जा कर निराहार व्रत द्वारा हृदय को शुद्ध किया।

दण्डी जी से स्वामी ने अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इस से यह न समझना चाहिये कि आप ने गुरु से केवल ग्रन्थों की विद्या ही प्राप्त की, उस ग्रन्थ विद्या से कहीं बढ़कर वह भाव थे, जो उन्हें गुरु से प्राप्त हुए। आधुनिक या अर्वाचीन ग्रन्थों को छोड़ कर प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में श्रद्धा, मूर्ति पूजा आदि कुरीतियों से वैराग्य, और कठोर संयम इन सब के लिये योगी दयानन्द गुरु का आभारी था।

विद्याध्ययन समाप्त हुआ। रीति के अनुसार शिष्य कुछ लोगों की भेंट लेकर गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ और निवेदन करने लगा कि महाराज मेरे पास और कुछ नही है जो भेंट करूं, इस कारण केवल आध सेर लौंग लेकर उपस्थित हुआ हूं। गुरु ने कहा "कि मैं तेरे से ऐसी चीज़ मांगूगा जो तेरे पास उपस्थित है" दयानन्द के बद्धांजलि होने पर गुरू ने आदेश किया। बड़े दुःख की बात है कि गुरु के उस समम के शब्द यथार्थ रूप में प्राप्त नही होते। जीवन चरित्र लिखने वालों ने दण्डी जी के वाक्य अपनी २ रुचि के अनुसार घड़े हैं। पं० लेखराम जी के संपादित किए जीवन चरित्र में जो शब्द दिए है वह बहुत कुछ स्वाभाविक हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि दण्डी जी ने ठीक वह शब्द नहीं कहे थे तो कम से कम भावार्थ नही होगा। वहां दण्डी जी के निम्न लिखित शब्द दिये गये है।

"देश का उपकार करो। सत् शास्त्रों का उद्धार करो। मत मतान्तरों की अविद्या को मिटाओ, और वैदिकधर्म फैलाओ" दयानन्द ने आदेश को अंगीकार किया, अन्त में आशीर्वाद देते हुए दण्डी जी ने और भी कहा। 'मनुष्य कृत ग्रन्थों में पर-और ऋषियों की निन्दा है, और ऋषिकृत ग्रन्थों में नहीं, इस कसौटी को हो।

इस अमूल्य उपदेश को शिरोधार्य करके श्री दयानन्द संन्यासी गुरू के द्वार से विदा हुए। जो वस्तु पर्वत की चोटी पर, वन की गहराई में, नदियों के प्रवाह में और महन्तों के डेरों में ढूंडी, पर न मिली, वह अमृत के प्यासे दयानन्द को मथुरापुरी में दंडी विरजानन्द के चरणों में मिली। वह वस्तु विद्या और विवेक बुद्धि थी। उस वस्तु को पाकर, ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी ब्रह्मचारी संसार क्षेत्र में प्रवेश करता है। पाठक! चलिये हम देखें कि वह कैसा संसार क्षेत्र है, जिसमें उसे को कार्य करना है?

चौथा परिच्छेद

खाण्डव वन

जिस समय गुरु से आशीर्वाद लेकर दयानन्द ने कार्यक्षेत्र में पांव धरा, आर्य जाति की दशा उस समय मुक्त कण्ठ से चिल्ला चिल्ला कर कह रही थी कि मुझे एक वैद्य की ज़रूरत है। भारत देश अज्ञान पराधीनता शत्रु और दुःखों के कारण सर्पों और कांटेदार झाड़ियों से भरे हुए खाण्डव वन के समान दुर्गम और बीहड़ हो रहा था। उसे आवश्यकता थी एक अर्जुन की, जो एक ओर अरणियों की रगड़ से आग निकाल कर दावानल को प्रज्वलित करे, और दूसरी ओर आग बुझाने का यत्न करने वाले देवों और असुरों के आक्रमणों का उत्तर दे सके। आर्य जाति की दुर्दशा उस समय एक सुधारक को बुला रही थी—एक ऐसे परखय्ये को बुला रही थी जो उसके पीड़ित अंगों पर शान्ति देने वाला हाथ रख सके। इस परिच्छेद में हम देखेंगे कि उस दुर्दशा का क्या इतिहास और क्या स्वरूप था, अगला सम्पूर्ण ग्रंथ, ऋषि दयानन्द ने उस दुर्दशा के सुधारने का जो यत्न किया, उसके अर्पण किया जायगा।

बहुत पूर्व—ऐतिहासिक काल से भी पहले—वेद और प्रधानतया वैदिक साहित्य केवल भारत की सीमाओं में परिमित हो चुका था। जो लोग ईरान में बसे, या ग्रीस में पहुंचे वह भारतीय आर्यों के बन्धु थे, परन्तु यह विषय कल्पनात्मक यद्यपि यथार्थ इतिहास का है। जिस समय इतिहास के प्रकाश में दुनिया अपना मुंह उघाड़ती है, भारतवर्ष का धर्म और सामाजिक संगठन और सब देशों से भिन्न ही मिलता है। ऐतिहासिक काल से पूर्व भारतवर्ष एक जुदा इकाई बन चुका था। यही कारण है कि इतिहास हमें भारतवर्ष के धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों का जितना ब्यौरा सुनाता है, वह देश की सीमाओं से परिमित है। भारत के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव सीमाओं से बाहिर बहुत ही कम पड़ता है—और बाहिर के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर तभी पड़ता है जब उन धर्मों के अनुयायी लोग विजेताओं के रूप में देश में आ जाते हैं।

भारत का धन, उसका विस्तार, और उसकी अन्दरूनी भिन्नता—यह सब बातें बाहिर के विजेताओं को खेंचती रही हैं। समय २ पर बाहिर की लड़ाकू जातियां सस्ता ...र मारने के लिये इस स्वर्ण देश पर छापा मारती रही हैं। भारत पर मुख्य २ ... श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। पहला धावा सिकन्दर का ... धावा

उत्तर की अनेक जातियों का था जो सदियों तक जारी रहा। कभी हूण, कभी सीथियन और कभी पारसीक लोग भारत को जीतने का यत्न करते रहे। तीसरा धावा इस्लाम का हुआ, जो पहले के सब धावों से ज़बर्दस्त, सबसे अधिक स्थायी और सबसे भारी असर उत्पन्न करने वाला हुआ। चौथा धावा योरपियन जातियों का है, जो यद्यपि बहुत पुराना नहीं है तो भी बड़ा गहरा है, बड़ा ज़बर्दस्त है, बड़ा भयंकर है।

भारत के धार्मिक परिवर्तनों पर यह चारों आक्रमण बड़ा गहरा असर उत्पन्न करते रहे हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये कि केवल बाहिर के प्रभाव ही भारत के धार्मिक विचारों को हिलाते रहे हैं। समय २ पर आवश्यकता होने पर आन्तरिक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती रही है। जाति की जरूरत के अनुसार बदलते हुए वायुमंडल के साथ अनुकूलता पैदा करने के लिए या बिगड़े हुए ढांचे को सुधारने के लिये ऐसे सुधारक पैदा होते रहे हैं जो बिगड़ी के बनाने का यत्न करते रहे हैं। यदि भारतवर्ष के धार्मिक परिवर्तनों का इतिहास देखा जायगा, तो हमें ज्ञात होगा कि उसमें आंतरिक प्रतिक्रिया और बाह्य आक्रमण—दोनों का ही प्रभाव है।

यूनानियों के आक्रमण से पूर्व जो बड़े २ धार्मिक परिवर्तन हुए, वह मुख्यतया आंतरिक प्रतिक्रिया के ही परिणाम थे। ब्राह्मणग्रन्थों के याग-प्रधान धर्म के विरुद्ध उपनिषदों के ज्ञानवाद की प्रतिक्रिया हुई। फिर वही विकार उत्पन्न होने पर बौद्धधर्म प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। यह दोनों बड़ी २ प्रतिक्रियायें बाहिर के प्रभाव से शून्य थीं। यह केवल अन्दर से उत्पन्न हुई थीं। यही कारण था कि वह सब एक ही शरीरी के अंगों के समान परस्पर पूर्णता उत्पन्न करती थीं। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थ एक दूसरे के हाथ में डालकर चलते रहे और एक ही पुरुष के आंख कान के सदृश जीवित रहे। उपनिषदों का ऊंचा ब्रह्मज्ञान धीरे २ क्रियाहीन ईश्वर विश्वास के रूप में परिणत हो गया और ब्राह्मण ग्रन्थोंका कर्मकांड हिंसापूर्ण यज्ञ प्रक्रिया की पद्धतियों में तबदील होगया। उस समय महात्मा बुद्ध ने क्रियात्मकधर्म का उपदेश देते हुए प्रेम और त्याग का संदेश सुनाया और एक सार्वभौम धर्म की नींव डाली।

बुद्ध के पीछे भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ। सिकन्दर का भारत में निवास बहुत थोड़े समय तक हुआ। उसका कोई गहरा प्रभाव दिखाई नहीं देता, तो भी हम दो बड़ी घटनाओं में उसके दृष्टांत की छाया देख सकते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य—यत्न सिकन्दर के उदाहरण से प्रभावित हुआ था, और अशोक का धर्म-साम्राज्य स्थापित करने का उद्योग भी सिकन्दर के सार्वभौम विजय के यत्न से प्रभावित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैसे चन्द्रगुप्त का भारतीय साम्राज्य यूनान के [illegible] भारतीय [illegible] उत्तर था इसी प्रकार अशोक का धार्मिक आक्रमण सभ्य [illegible] आक्रमण का प्रत्युत्तर था।

यही दशा हम गुप्त-काल में देखते हैं। गुप्तों का राजनीतिक साम्राज्य हूणों और सथियनों के आक्रमणों से देश की रक्षार्थ एक प्रकार का किला था। राजनीतिक संगठन प्राय: बाहिर से आने वाली चोटों के कारण ही उत्पन्न हुआ करते हैं। गुप्त साम्राज्य उत्तर की जातियों की विजय कामना का फल था। साथ ही पुराने ब्राह्मण धर्म का पौराणिक धर्म के रूप में संगठन जहां एक ओर आर्य जाति की आन्तरिक स्थिति को सूचित करने वाला बाह्य चिन्ह था, वहां साथ ही वह उत्तर दिशा के असभ्य आक्रमणकारियों के प्रभाव से भी हीन नहीं था। पौराणिक धर्म के सगठन में अन्दर की हलचल और बाहिर की क्रिया दोनों ही स्पष्ट दिखाई देती हैं।

बहुत काल पीछे, लग भग ११ वीं शताब्दि के आरम्भ में मुसलमानों का भारत पर पूरा आक्रमण प्रारम्भ होता है। इस्लाम का भारत पर राजनीतिक आक्रमण नहीं था। वह आक्रमण प्रधानतया धार्मिक था, राजनीतिक राज्य उसका केवल आनुषंगिक फल था। इस्लाम की तलवार भारत को मुसलमान बनाने आई थी। आकर देखा तो शिकार को निर्बल पाया। छिन्न भिन्न भारत थोड़े ही यत्न में राजनीतिक पराधीनता में आ गया। तलवार का असली उद्देश्य भारत को धार्मिक दृष्टि से सर करना था। यह निश्चय से कहा जा सकता है कि उद्देश्य में इस्लाम को काफी सफलता नहीं प्राप्त हुई। कारण यह कि जहां भारत कई सदियों तक पराधीन रह कर भी अपनी सम्मिलित राजनीतिक शक्ति को मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति के विरोध में खड़ा न कर सका, वहां उसने प्रारम्भ से ही अपने धार्मिक संगठन को समयानुकूल परिवर्तित करके *आत्मरक्षा के लिये खड़ा कर दिया था।*

मुसलमानों के सुदीर्घ काल में भारत के धर्म में हमें जो उतराव चढ़ाव दिखाई देते है, वह दो प्रकार के हैं। एक ओर बाह्य आक्रमण को रोकने के लिये खाइयां खुद रही है, दूसरी ओर कई स्थानों पर एक विश्वव्यापी सिद्धान्त में इस्लाम और हिन्दू धर्म को सम्मिलित करने के प्रयत्न कर रहे है। इन दोनों ही में हमें बाहिर का असर दिखाई देता है। सतीप्रथा पर्दा खानपान के बन्धन, जाति के कड़े विभाग, छूत छात, यह बाड़ें थीं, जिनका उद्देश्य भारतीय धर्म का इस्लाम से रक्षा करना था। सदियों तक भारतीय धर्म इस्लाम के प्रभाव को रोकने के लिये चेष्टा करता रहा और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जैसी असफलता धार्मिक दृष्टि से उसे भारत में हुई, वैसी कहीं नहीं हुई।

परन्तु जो बन्द इस्लाम की गति को रोकने के लिये बन रहे थे, वह हर प्रकार लाभदायक ही सिद्ध नहीं हुए। उन्होने शुद्ध हवा का प्रवेश रोक दिया, उन्नति और विकास के लिये गुंजायश न छोड़ी, और धर्म के बलवान् किनारों में

घेर कर काई मच्छर और कीचड़ का घर बना दिया। शत्रु के धावे को रोकने के लिये शहर के निवासी चारों ओर खाई खोद लेते हैं, ऊंची दीवार चुन देते हैं, बाहिर जाना आना रुक जाता है। शत्रु अन्दर न आ सके परन्तु शहर के निवासी भी बाहिर नहीं जा सकते। उन्नति रुक जाती है, खाना पीना कम हो जाता है, महामारी पड़ जाती है। यदि कोई नगर अपनी रक्षा भी करना चाहे, और महामारी से भी न मरना चाहे, तो उसके लिये एक ही मार्ग है। वह किले से निकल कर शत्रु पर जा टूटे और उसे मार भगाये। दुर्भाग्य से उस समय हिन्दू धर्म में जान नहीं थी। वह आत्म रक्षा में लगा रहा, इस्लाम पर प्रत्याक्रमण करने का उसने विचार नहीं किया। फल यह हुआ कि घर में महामारी पड़ गई। १९ वीं शताब्दि के मध्य में हम भारत के असली धर्म को ज़ंजीरों से बंधा हुआ, दीवारों से घिरा हुआ, और शहतीरों से दबा हुआ पाते हैं।

मुसल्मान काल के अन्तिम भाग में, अकबर की उदार धर्म नीति के प्रभाव से कुछ ऐसे भी यत्न हुए जिनका उद्देश्य धर्म के विश्वरूप को आगे रखकर हिन्दू मुसल्मान के भेद को मिटाना था। भक्त कबीर ऐसे यत्न करने वालों में से मुख्य था। कबीर के शिष्य उसके सिद्धान्त का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन करते हैं—

सबसे हिलिये सब से मिलिये सब का लीजिये नाऊं।
हांजी हांजी सब से कीजिये बसे आपने गाऊं॥

भक्त कबीर के वचनों से ज्ञात होता कि वह धर्म के व्यापक रूप में भेदों को किस प्रकार तिरोहित करना चाहता था।

कबीर के शिष्य बुल्ला साहिब ने अपने भूलने में यह कविता लिखी है।

जहं आदि न अन्त न मध्य है रे जहं अलख निरंजन है मेला।
जहं बेद किते बन भेद हैरे, नहिं हिन्दू तुरक न गुरु चेला॥
जहं जीवन मरन न हानि हैरे, अगम अपार में जाय खेला।
बुल्ला दास अतीत यों बोलयारी सत गुरु सत शब्द देला॥

मारवाड़ के भक्त दरिया साहिब ने हिन्दू मुसलमान दोनों को एक ही पलड़े में डाल दिया है।

मुसलमान हिन्दू कहा, षट दरसन रंक राव।
जन दरिया निज नाम बिन सब पर जम का दाव॥

दूलनदास जी अपने भूलने में कहते हैं—

हिन्दू तुरक दुइ दीन आलम, आपनी तासीन में।
दूलन खूब है, करु ध्यान दशरथनन्द का॥

वहीं कवि सत्तनाम में वेद के विषय में कहते हैं:—

तीन लोक तो वेद बखाना। चौथ लोक का मर्म न जाना॥

भक्तराज धरनीदास जी कहते हैं:—

एक धनी धन मोरा हो।
आ धन ले जन भये धनी बहु हिन्दु तुरुक कठोरा हो।
सो धन धरनी सहजहिं पायो केवल सतगुरु के निहोरा हो॥

कबीर तथा अन्य भक्तों का यह यत्न चाहे कितना ही उत्तम था, परन्तु उसमें सफलता नहीं हुई। सफलता न होने का कारण स्पष्ट है। भक्त लोग दो ऐसे धर्मों को मिलाना चाहते थे, जिनके मिलन में दो बड़ी २ रुकावटें थीं। पहली रुकावट राजनीतिक थी। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित थे। जहां एक ओर विजेता विजित के धर्म को तुच्छ मान कर उसके साथ सन्धि करने को उद्यत नहीं होता वहां विजित जाति यदि इतिहास और आत्माभिमान रखती हो तो कभी विजेता के धर्म को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं होती। राजनीतिक पराजय में गये हुए आत्मसम्मान को वह धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में चौगुने हठ के साथ संभालने का यत्न करती है। कबीर और उसके साथियों की असफलता का दूसरा कारण यह हुआ कि वह ऐसे दो धर्मों को मिलाना चाहते थे, जो मौलिक रूप से भिन्न हैं, जिनकी आधार भूत कल्पनायें ही जुदा २ हैं।

मिलाने के यत्न निष्फल हुए। हिन्दू धर्म ने प्रत्याक्रमण करने का यत्न न करके आत्मरक्षा के लिये खाई पर खाई खोदी, दीवार पर दीवार चुनी। यहां तक कि दम घुटने लगा, उचित भोजन के अभाव से ढांचा ढीला होने लगा, अंग से अंग जुदा होगया। हारे हुए, घिरे हुए, भूखे किले में सदा फूट पड़ जाया करती है। हिन्दू धर्म के घिरे हुए किले में भी फूट पड़ गई। परिणाम में अनगिनत मत और सम्प्रदाय उत्पन्न होगये जिनकी अधिक संख्या का अनुमान इसी से लग सकता है कि वैष्णव, शैव, और शाक्त इन तीन बड़े पन्थों में से केवल वैष्णव के ही निम्नलिखित २० सम्प्रदाय थे जो एक दूसरे को झूठे मानते और कहते थे।

(१) श्री सम्प्रदाय (२) बल्लभाचारी (३) मध्वाचारी या ब्रह्म सम्प्रदाय (४) सनकादिक सम्प्रदाय या 'नीमावत' (५) रामानन्दी या रामावत (६) राधाबल्लभी (७) नित्यानन्दी (८) कबीरपन्थी (९) खाकी (१०) मलूकदासी (११) दादूपन्थी (१२) रमदासी (१३) सेनाई (१४) मीराबाई (१५) सखीभाव (१६) चरणदासी (१७) हरिश्चन्द्री (१८) सधनापन्थी (१९) माधवी (२०) वैरागी और नागे सन्यासी।

शैवों के ७ बड़े भेद थे:—

(१) सन्यासी दण्डी आदि (२) योगी (३) जंगम (४) ऊर्ध्व बाहु (५) गूदड़ (६) रूखड़ (७) कड़ालिंगी।

शाक्तिकों के बड़े भेद निम्नलिखित थे:—

(१) दक्षिणाचारी (२) वामी (३) कानचेलिये (४) करारी (५) अघोरी (६) गाणपत्य (७) सौरपत्य (८) नानकपन्थी (९) नाचावाली (१०) पागनाथी (११) साध (१२) सन्तनामी (१३) शिवनारायणी (१४) शून्यवादी।

(आर्यदर्पण। जून १८८० ई०)

तालिका यह दिखाने के लिये उद्धृत की गई है कि १९ वीं शताब्दि के मध्य में हिन्दू धर्म का ढांचा किस प्रकार से बिगड़ चुका था। भेद बेढब बढ़ गये थे। अनाचार पूरे ज़ोर पर था। धर्म की प्रेरिका शक्ति जाती रही थी।

भारत का प्राचीन आर्य धर्म इस सड़ाँद की दशा में था जब देश पर चौथे विदेशी तूफ़ान का आक्रमण हुआ। यूरोपियन जातियां आर्यवर्त्त भूमि की टोह लगाती हुई भारत के समुद्र समीपवर्त्ती सीमाप्रान्तों पर आ पहुंची। उन्हें किस प्रकार देश में प्रवेश मिला, किस प्रकार देश की बिगड़ी हुई दशा ने उन्हें यहां आधिपत्य जमाने में सहायता दी, किस प्रकार अन्य शक्तियों को परास्त करके अंग्रेजों ने प्रभुत्व जमाने में सफलता प्राप्त की—यह सब विषय राजनैतिक इतिहास के हैं। हमें यहां यह देखना है कि यूरोपियन सफलता का प्रभाव भारत के धार्मिक विचारों पर किस प्रकार पड़ा। यूरोपियन जातियां अपने साथ दो वस्तुएं लाईं—एक ईसाइयत, और दूसरी पाश्चात्य सभ्यता। इन दोनों का भारत पर एक साथ असर हुआ। इस्लाम तलवार के साथ आया था, वह बड़े वेग से फैला, परन्तु उसका प्रतिरोध भी उसी वेग से हुआ। ईसाइयत का प्रचार दूसरी विधि से हुआ। उस विधि में शिक्षणालय, प्रचार का संगठन और प्रलोभन—यह तीन साधन प्रधान थे। ईसाइयों ने स्कूल और कालिज खोलकर भारत के शिक्षित समाज को खा जाने का यत्न किया। कुछ काल तक उस यत्न में सफलता भी हुई। ईसाइयों का प्रचार सम्बन्धी संगठन पहिले ही बहुत बढ़िया था—भारत के अनुभव से उसमें और भी अधिक पूर्णता आगई। जो भारतवासी ईसाई बन गये, वह चाहे किसी भी दर्जे के हों, सरकारी नौकरियों में उन्हें तर्जीह दी जाने लगी। इस प्रकार ईसाई धर्म धीरे २ परन्तु निश्चित रूप से देश की गहराई में प्रवेश करने लगा।

जब तक इस्लाम का प्रचार तलवार के ज़ोर से होता रहा, हिन्दू धर्म बचने के लिये [illegible] के चारों ओर खाईं खोदता रहा, परन्तु अकबर तथा

दो उत्तरवर्त्ती राजाओं ने गहरे शान्त उपायों से इस्लाम की जड़ पाताल में पहुंचाने का उद्योग किया, तब ऐसे भक्तजन उत्पन्न हुए जिन्होंने हिन्दू मुसलमानों के परस्पर भेदों को दूर करके एकेश्वरवाद के झण्डे तले लाने का यत्न किया। फिर जब औरंगजेब ने शान्त नीति का परित्याग किया, तब उत्तर और दक्षिण में हिन्दू धर्म तलवार लेकर खड़ा हुआ। यह स्मरण रखना चाहिये कि औरंगजेब की अनुदार धार्मिक नीति से पहिले सिक्खमत भी हिन्दू मुसलमान के भेद को मिटाने का ही एक यत्न था।

ईसाइयत का प्रचार अकबर की नीति से शुरू हुआ। परिणाम भी वैसा ही हुआ। विश्वासी भारतवासियों के हृदयों ने बिना किसी आशंका के ईसाइयत के प्रभावों का स्वागत किया। कई बड़ी प्रतिष्ठा और योग्यता रखने वाले भारतवासी, जो शायद तलवारी धर्म का सामना करने में तलवार के घाट उतरने को सहर्ष उद्यत होते, इस शान्त धावे के शिकार हुए। कुछ ही समय पीछे ईसाई काल के कबीर भी जन्म लेने लगे। धर्म के विश्वरूप में ईसाइयत और हिन्दूपन के भेद को खपा देने का उद्योग बंगाल में ब्रह्मसमाज ने उठाया। यदि ब्रह्मसमाज के इतिहास को विस्तार से पढ़ें तो हमें प्रतीत होगा कि उसके नेताओं का उद्योग ईसाइयत और हिन्दू धर्म की मध्यमावस्था निकालकर दोनों को साथ २ दीर्घजीवी बनाने के लिये था। हिन्दूपन को ईसाइयत की कलम लगा कर उस रगड़ को दूर करने के लिये था, जिसका शीघ्र या देर में उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था।

शान्त परन्तु गहरे और पेचदार उपायों से ईसाइयत भारत के धार्मिक दुर्ग में प्रवेश कर रही थी। वह दुर्ग बड़ी शोचनीय दशा में था। रीति और बन्धन की जो बाड़ें इस्लाम के धावे को रोकने के लिये बनाई गई थीं, वह अपनी ही वृद्धि को रोक रही थीं। चारदीवारी से घिर जाने के कारण हवा गन्दी हो गई थी, पानी सड़ गया था, अन्न कष्ट के कारण दुर्ग के निवासियों में फूट पड़ी हुई थी। दुर्ग की दशा को यदि संक्षेप में कहना हो तो हम कहेंगे कि भारत के निजधर्म-हिन्दू धर्म—को रूढ़ि और तुच्छ भेदों के रोग लगे हुए थे। एक ओर बन्धन और रीति रिवाज का ज़ोर दूसरी ओर तुच्छ भेदों के कारण एकता का नाश—यह दो रोग थे, जिनसे भारत का धर्म रूपी शरीर पीड़ित हो रहा था। चुपचाप ईसाइयत के कीटाणु हवा और पानी के साथ उस शरीर में प्रवेश कर रहे थे। ब्रह्मसमाज ने इस दशा का अनुभव तो किया परन्तु रोकने का जो यत्न किया वह यह था कि ईसाइयत के कीटाणुओं से युक्त जलको कुछ स्वादु रूप दे दिया। इस उपचार से रोग दूर होगा या नहीं—कीटाणुओं से युक्त जल शरीर में प्रविष्ट होने से रुकेगा या नहीं—उन प्रश्नों का उत्तर हम नहीं देंगे, क्योंकि इतिहास दे चुका है।

यह दशा थी जब दयानन्द ने गुरु से विदायगी ली। उसने इस दशा के सुधार का क्या किया? यह अगले परिच्छेदों का विषय है।

पांचवां परिच्छेद

सुधार की प्रारम्भिक दशा ।

(ई० १८८३ से १८८६)

यह समझना भूल है कि स्वामी दयानन्द ने गुरु के पास से आते ही सुधार का पूरा कार्यक्रम विस्तीर्ण कर दिया था । गुरु के पास से विदा होने के समय स्वामी जी के पास ये वस्तुयें थीं । (१) उनके पास संस्कृत व्याकरण और दर्शनों का पाण्डित्य था (२) अखण्ड ब्रह्मचर्य, प्रतिभा, उत्साह और व्याख्यान शक्ति-यह गुण विद्यमान थे (३) विद्वानों साधुओं और पन्थाइयों की दशा देख कर निश्चय हो चुका था कि धर्म की दशा बिगड़ी हुई है । सुधार करने और विशुद्ध धर्म का प्रचार करने की अभिलाषा विद्यमान थी । एक सुधारक में जिन गुणों की बीजरूप से आवश्यकता होती है, वह स्वामी दयानन्द में विद्यमान थे । साथ ही यह भी निश्चित है कि सुधार कार्य के यौवन में स्वामी दयानन्द के शस्त्रागार में जो २ साधन सन्नद्ध हो गये थे, अभी उन में से कुछेक का विकास होना बाकी था । (१) अभी स्वामी जी को वेद पूर्णतया प्राप्त नहीं हुए थे । वेदों की पुस्तकों तक की खोज अभी शेष थी, उनकी व्याख्या या उनमें एकान्त भावना की अभी चर्चा तक नहीं थी , (२) विस्तृत संसार का ज्ञान संसार में भ्रमण करने पर ही प्राप्त होता है । अभीतक गृहस्थों और पुजारियों की सृष्टि में अधिक प्रवेश का अवसर नहीं मिलने से रोग का पूरा २ ज्ञान भी नहीं हुआ था (३) रोग का ज्ञान होने पर भी सुधार रूपी दवा का ठीक प्रयोग तभी हो सकता है, जब वैद्य कुछ परीक्षण कर ले । वैद्य पहले एक दवा का प्रयोग करता है, फिर उसके फल यदि सन्तोष दायक हों तो उसी को जारी रखता है अन्यथा बदल देता है । चतुर से चतुर वैद्य ठीक परीक्षण करके ही ठीक औषध पहुंचता है ।

पहले तीन साल तक स्वामी दयानन्द ने जो सुधार का कार्य किया, वह एक प्रकार से परीक्षणात्मक था । वह उस भारी और सर्वतोगामी सुधार का प्रारम्भिक पड़ाव था, जो कुछ वर्ष पीछे भारत के विशाल कार्य को प्रकम्पित कर देने वाला था, हम इस प्रारम्भिक कार्य में भी उन सब गुणों को बीज रूप में पाते हैं, जो पीछे से वृक्षरूप में परिणत हो कर सफलता के साधन हुए; परन्तु पीछे से सुधार के प्रौढ़ पूर्णता [illegible] ी नहीं दिखाई देती । सुधार रूपी चित्र की बाह्य रेखायें [illegible]

परन्तु उसमें रंग और छाया का स्थान खाली था, जिसे भरने के लिये समय और और अनुभव की आवश्यकता थी।

इन प्रारम्भिक तीन सालों में स्वामी जी ने जो सुधार उपस्थित किये, उनमें से पहला और मुख्य स्थान मूर्ति पूजा के खण्डन का है। मूर्ति पूजा में उनका विश्वास उसी क्षण से हिल चुका था, जिस क्षण उन्होंने शिवरात्रि की अंधियारी में शिवलिंग के ऊपर से मूसे को चावल उठाते हुए देखा था। उस समय जो अश्रद्धा उत्पन्न हुई, वह सत्संग विद्याभ्यास और विचार से विरोधी विश्वास के रूप में परिणत होगई। मूर्ति पूजा को अधार्मिक मान कर परमात्मा के निराकार निर्दोष अद्वितीय स्वरूप का प्रतिपादन स्वामी दयानन्द का प्रारम्भ से ही लक्ष्य था। सुधारकों की कसौटी ईश्वरसम्बन्धी विश्वास है। कोई सुधारक या धर्म संस्थापक उपास्य देव का जिस स्वरूप में प्रतिपादन करता है, उसीसे उसका ऊंच नीच परखा जाता है। ईश्वर-स्वरूप-सम्बन्धी विचार धर्मों के नपैने हैं। कोई भी धर्मोपदेशक जनता में कोई भारी परिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता, जब तक वह उनके मूल धार्मिक विचारों को नये रंग पर नहीं मोड़ देता। मूल धार्मिक विचारों में प्रथम स्थान ईश्वरविश्वास का है। कई सुधारक यत्न करते हैं कि वह आम के पेड़ की पत्तियों में पैबन्द लगा कर फल को मीठा बना सकेंगे, परन्तु निश्चय है कि वे निराश होंगे। ऐसे यत्न हुए, और निष्फल हुए। जब तक तने में पैबन्द नहीं लगता। तब तक फल मीठे नहीं हो सकते। स्वामी दयानन्द के हृदय में सुधारों की भावना का प्रारम्भ मूर्ति की सत्ता में अश्रद्धा होने से हुआ था। ईश्वर सम्बन्धी अशुद्ध विचारों की जड़ में यह पहला कुठाराघात था। ज्यों २ विद्या की वृद्धि होती गई, ज्ञान के चक्षु खुलते गये, सदगुरुओं से उपदेश सुनने का अवसर मिलता गया वही प्रारम्भिक भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई। विद्याभ्यास समाप्त करने के अनन्तर स्वामी दयानन्द ने जो पहला संन्देश जनता को सुनाया वह निराकार ईश्वर की उपासना का था। मथुरा से सीधे आप आगरे गये, और यमुना के किनारे [illegible] के पास वाले गल्लामल्ल रूपचन्द के बगीचे में ठहरे। वहां अन्य सदुपदेशों के साथ २ मूर्ति पूजन का खण्डन बराबर जारी रहता था। स्वामी जी ने वहां पंचदशी की कथा प्रारम्भ की। उसकी १६ वीं कारिका का उत्तरार्द्ध यह है 'मायां बिम्बो वशी कृत्य तांस्यात्सर्वज्ञ ईश्वर:' माया में चिदात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह माया को वश में कर लेता है और ईश्वर कहाता है। कहां निराकार ब्रह्म—और कहां उसका प्रतिबिम्ब पड़ना। ईश्वर प्रतिबिम्ब मात्र है—तत्त्व नहीं। जिस दयानन्द ने वेदों में 'अकायमव्रणमस्नाविरं' इत्यादि शब्दों से विशेषित ब्रह्म का अध्ययन किया था, और ब्रह्म तथा ईश्वर एक ही चिदात्मा के नाम हैं—यह निर्णय किया था, उसे पञ्चदशी के लेखों ने धक्का दिया। स्वामी दयानन्द ने उस समय से पञ्चदशी और अद्वैत ग्रन्थों को त्याज्यों की श्रेणी में लिख लिया।

जीवन चरितों के लेखकों ने लिखा है कि इन पहले तीन सालों में स्वामी दयानन्द वैष्णव मत का खण्डन करते थे, और शैव मत का प्रतिपादन करते थे। उस समय, (और अब भी यही दशा है) मथुरा के आस पास वैष्णव सम्प्रदायों का बड़ा ज़ोर था। मथुरा कृष्ण जी की पुरी है। वह वैष्णवों का गढ़ है। वहां रहते हुए आपने उस अन्ध परम्परा को देखा जो कृष्ण के नाम पर चलाई गई थी। रामानुज और बल्लभ सम्प्रदाय की लीलाओं को देखने का भी आपको अवसर मिला। भागवतकार ने योगिराज कृष्ण के चरित को कई अंशों में कैसा बिगाड़ा है, यह भी आपने भली प्रकार देखा। इस कारण उस समय स्वामी जी के हृदय में वैष्णवों के विचारों के प्रति बड़ा क्षोभ था। वृन्दावन की लीलायें उन्हें प्रेरित करती थीं कि वह वैष्णव मत का खण्डन करें। आगरे से धौलपुर ठहरते हुए स्वामी जी ग्वालियर पहुंचे। वहां रियासत की ओर से भागवत की कथा का प्रबन्ध हो चुका था। एक विद्वान साधु आया है, यह सुनकर महाराज ने स्वामी जी को भी निमन्त्रण भेज दिया। स्वामी जी ने कहला भेजा कि भागवत की कथा से दुःख के सिवा कुछ न मिलेगा, यदि सुख चाहते हो तो गायत्री का पुरश्चरण कराओ। राजा यह सुनकर केवल हंस दिया। भागवत की कथा प्रारम्भ होगई। उधर स्वामी जी ने संस्कृत में भागवत के खण्डन में व्याख्यान देने प्रारम्भ किये। स्वामी जी कुछ समय भ्रमण और उपदेश में बिता कर जयपुर पहुंचे और वहां चार मास तक रहे। यहां आप उपनिषदों की कथा करते थे, और मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे। भागवत के खण्डन में जयपुर में आपने एक विज्ञापन भी प्रकाशित किया, जिसमें बतलाया कि भागवत के कर्ता व्यासदेव नहीं, अपितु बोपदेव नाम का पण्डित है, जिसने कृष्ण के निष्कलंक चरित को कलंकित कर दिया है। पुष्कर के मेले में पहुंचकर स्वामी जी ने रामानुज सम्प्रदाय का खूब खण्डन किया, और कण्ठी भी तुड़वाई। इस प्रकार स्वामी जी मूर्ति पूजा और अन्य सब कुरीतियों के विरुद्ध जो भारी तूफ़ान खड़ा करने वाले थे, उसकी पहली चोटें वैष्णवों पर पड़ी। प्रतीत होता है कि वैष्णवों के विरोध में प्रारम्भिक काल में वह कभी २ शैव मत का पक्ष ले लिया करते थे। उसके विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि अभी तक स्वामी जी का सुधार का पूरा प्रोग्राम बना नहीं था—बन रहा था। दूसरी यह बात कि स्वामी जी कहा करते थे कि 'शिव परमात्मा का नाम है, पार्वती के पति को मैं नहीं मानता।'

आपको गोरक्षा की प्रारम्भ से ही धुन थी। १८६६ ई० के मई मास में स्वामी जी अजमेर पहुंचे, और बंसीलाल जी सरिश्तेदार के यहां ठहरे। यहा आप मेजर ए. जी. डेविडसन, कमिश्नर और कर्नल ब्रुक, असिस्टेंट कमिश्नर, से मिले और उनके सन्मुख गोरक्षा का प्रश्न रखा। स्वामी जी ने उन्हें समझाया कि गौओं की हत्या बन्द

राजा और [illegible] लाभ है। सरकारी अफसर तो सरकारी अफसर ही ठ

असिस्टेंट कमिश्नर साहिब ने स्वामी जी को लाट साहिब के नाम एक चिट्ठी लिख दी और कह दिया कि आप "लाट साहिब से अवश्य मिलें, जिस साहिब को आप मेरी चिट्ठी दिखायंगे, वह आप से अवश्य मिलेगा" सरकारी अफसर का मीठा इन्कार स्वामी जी ने शान्ति से अंगीकार कर लिया। यह स्वामी जी के हृदय की शुद्धता और सादगी का सबूत है।

प्रारम्भ से अपने विचारों को प्रगट करने के लिए स्वामी जी तीन उपाय काम में लाते थे। व्याख्यान देते थे, विज्ञापन निकालते थे, और शास्त्रार्थ के लिये ललकारते थे। व्याख्यान तो सभी स्थानों पर देते थे, जयपुर आदि में लिखित विज्ञापन भी प्रकाशित किये। पहले पहल आपने ग्वालियर में भागवत के विषय में वैष्णव पण्डितों को चैलेंज दिया। जीवन चरितों में लिखा है कि सब पौराणिक पण्डित इधर उधर खिसक गये, कोई सामने नहीं आया। फिर जयपुर में महाराज के सामने व्यास बख्शीराम जी आदि से स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें भी पौराणिक पण्डित निरुत्तर होगये। शास्त्रार्थों की बहुत धूम तो पुष्करराज में रही। यहां आप देर तक ब्रह्मा जी के मन्दिर में निवास करते रहे। कभी पण्डों से, कभी ब्राह्मणों से, और कभी सन्यासियों से शास्त्रार्थ की चर्चा चलती ही रहती थी। एक वार बहुत से पण्डे लट्ठ लेकर स्वामी जी पर चढ़ आये। यों तो स्वामी जी अकेले ही पर्याप्त थे, परन्तु एक सहायक भी आ पहुंचा। ब्रह्मा जी के मन्दिर के पुजारी मानपुरी जी मोटा डण्डा लेकर पहुंच गये और पण्डों को भगा दिया। अजमेर में लौटने पर आपका पादरी रोबिन्सन और पादरीशूलब्रेड से ईश्वर जीव आदि विषयों पर ३ दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। पादरियों को निरुत्तर होना पड़ा। वह स्वामी जी के सुथरे हुए विचारों और वाक् चातुरी से इतने प्रसन्न हुए कि स्वामी जी को एक पत्र लिख कर दे दिया, जिसमें लिखा कि हमने जीवन भर में ऐसा संस्कृत का विद्वान् नहीं देखा। ऐसे मनुष्य संसार में कम होते हैं।

इस प्रकार वह तीनों उपाय, जिनसे एक प्रचारक को काम लेना चाहिये, प्रारम्भ से ही ऋषि दयानन्द ने अंगीकार कर लिये थे। आगे इन्हीं साधनों का विकास होता गया यहां तक कि स्वामी जी वाणी लेख और शास्त्रार्थ–इस तीन प्रकार की युद्ध सामग्री के पूरे अधीश्वर हो गये।

छठा परिच्छेद।

सुधार की मध्यमदशा का आरम्भ।

१८६७ ईस्वी के अप्रैल मास में हरिद्वार का बड़ा कुम्भ था। देश भर के साधु सन्यासी इस मेले में एकत्र होते हैं। हिन्दू जाति की भलाई और बुराई, सुन्दरता और कुरूपता, दोनों का ही स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन करना हो, तो दस पांच दिन इस विख्यात समारोह की सैर कर लेना पर्याप्त है। हिन्दू जाति श्रद्धामयी है। उस श्रद्धा का कुम्भ के मेले में मानों समुद्र उमड़ पड़ता है। जहां एक ओर ऐसे बूढ़े पुरुष लठिया टेक कर स्टेशन से धर्मशाला की ओर जाते दिखाई देंगे, जिनकी कमर झुक गई है, दांत मुंह को छोड़ भागे हैं, एक पांव यमपुरी की दलीज़ पर धरा जा चुका है, वहां दूसरी ओर दुधमुंहे बच्चे, धूप और प्यास का कष्ट सहन करती हुई असूर्यम्पश्या हिन्दू ललनाओं की गोद में रह कर भारत की माताओं के अतुल विश्वास और तप की सूचना देते हैं। गृहस्थ लोग लाखों की संख्या में एकत्र हो कर साधु सन्तो के दर्शन करते हैं, गंगा के विशुद्ध शीतल जल में स्नान करके अपने को धन्य मानते हैं, और अब तक भी हिन्दूपन जीवित है, इसकी सूचना देते हैं। ऐसे ही मेले भारत की आर्य जाति की मौलिक एकता को सिद्ध करते हैं। भीड़ में दृष्टि उठा कर देखिये कहीं अन-घड़ पंजाबी साफा दिखाई देता है, तो कहीं लखनऊ के शौकीन की दुपल्ली टोपी में से घुंघराले बाल दृष्टि गोचर होते हैं। कहीं मद्रासी के नंगे सिर पर गोखुर से दुगनी शिखा नज़र आती है, तो कहीं नाज़ुक गुजराती के नाटे शरीर के शिरो-भाग पर लाल पगड़ी सुहाती है। सारांश यह कि भारत भर के हिन्दू निवासी एक डोरी में बन्धे हुए हैं—कुम्भ के मेले पर अविश्वासी से अविश्वासी हृदय भी इस बात पर विश्वास किये बिना न रहेगा।

यह तस्वीर का उज्वल पहलू है। अंधेरा पहलू भी कुछ कम गहरा नहीं है। छल कपट आलस्य तथा स्वार्थ के शरीर बिना ढूंढे ही मिल जायगे। भोगमय त्याग, दुराचारमय साधुभाव, और हृदय का विरोधी रूप आपको पग पग पर दिखाई देगा। जिनके गृहस्थ नहीं है, उनके अन्तःपुर में पुत्र कलत्र, जिनकी आमदनी का कोई साधन नहीं है, उनके डेरों पर हाथी और घोड़े, और जो त्यागी कहलाते हैं उनके सन्दूकों में लाखों के तोड़े—यह सब कुछ बिना विशेष यत्न के ही दीख जायगा। सरल भक्त और भक्त [illegible] विश्वास का घात करने वाले भगवां वेशधारी मठेश्वर [illegible]

उपायों से अपने इन्द्रिय सुख की साधना में मग्न दिखाई देते हैं। जिसे हिन्दू धर्म की गिरी हुई दशा देखनी हो, वह आंखें खोल कर एक बार हरिद्वार के कुम्भ की सैर कर आवें। जहां एक ओर कुम्भ पर एकत्र हुआ जन समूह देश भर के हिन्दुओं की मौलिक एकता को सूचित करता है, वहां साथ ही वह हिन्दुओं की नासमझी और अन्धी श्रद्धा में एकता को भी सूचित करता है।

स्वामी दयानन्द कुम्भ--स्नान से एक मास पूर्व ही हरिद्वार पहुंच गये, और सप्तस्रोत के पास गंगा की रेती में कुछ छप्पर डाल कर मध्य में पाखण्ड-खण्डनी झण्डी गाड़ दी। सप्तस्रोत में खड़े हुए युवक सुधारक के सामने जो परस्पर विरोध उपस्थित हुआ होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है। एक ओर संसार में अनूठे हिमालय और भागीरथी का प्राकृतिक चित्र, दूसरी ओर अज्ञान और छल के मानुषिक चमत्कार-क्या यह आश्चर्य और खेद उत्पन्न करने वाला दृश्य नहीं है? सप्तस्रोत पर खड़े हो कर जरा उत्तर की ओर दृष्टि उठाइये। पर्वत के पीछे पर्वत, जंगल के ऊपर जंगल, यही क्रम बराबर चला गया है, यहां तक कि हिमालय की गगनभेदिनी चोटियां चांदी के सदृश चमकते हुए बर्फ के मुकुट में अन्तर्धान हो गई हैं। इस चांदी का पिघला हुआ प्रवाह, घाटियों कन्दराओं और तलैटियों में से होकर हरिद्वार के पास से गुज़रता है। जल क्या है—नील मणियों की छवि से प्रतिबिम्बित शुद्धता अमृत है, जिसकी शीतलता सोने में सुगन्ध के समान है। एक ओर यह मन और तन को प्रसन्न और उन्नत करने वाला दृश्य—दूसरी ओर स्वार्थ अज्ञान और दम्भ की लीला से बिगड़ी हुई मनुष्य प्रकृति। जिसे परमात्मा ने इतना सुन्दर बनाया है, उसे मनुष्यने कितना बिगाड़ दिया है। जिसे मनुष्य नहीं बिगाड़ सका, वही सुन्दर है। ईश्वरीय सुन्दरता और मानवीय नीचता के दृश्य देख कर यदि युवक दयानन्द के हृदय में एक उग्र ज्वाला न भड़क उठती तो निःसन्देह वह पाषाणमय सिद्ध होता।

स्वामी दयानन्द ने मेले पर एकत्र हुए हिन्दू समाज को देखा, और सम्पूर्ण समाज को एक ही बीमारी का शिकार पाया। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या सन्यासी क्या वैरागी, सब एक ही धुन में मस्त हैं, सब एक ही लीक के राही है। सुधार की प्रारम्भ-दशा में स्वामी जी ने शैवों को वैष्णवों से कुछ ऊंचा ठहराया था, कुम्भ पर देखा कि सब एक ही थैली के चट्टेबट्टे हैं। न वह पूरे ज्ञानी हैं, और न यह अधिक अज्ञानी हैं। जो थोड़ा सा साम्प्रदायिक भेद हृदय में विद्यमान था, गंगा के विमल जल से वह भी धुल गया।

कुम्भ के समारोह में शास्त्रपारंगत-स्वामी दयानन्द [illegible] शीघ्र ही फ़ैल [illegible]ई। गृहस्थ और साधु लोग निडर सुधारक के [illegible] ने के लिए

आने लगे। कई विद्वानों ने योग्यता की परीक्षा करके उत्सुकता को दूर किया। यहां पहले पहल, स्वामी दयानन्द जी की काशी के प्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द जी से मुठभेड़ हुई। विवाद पुरुषसूक्त पर था। स्वामी विशुद्धानन्द जी ने 'ब्राह्मणो-ऽस्यमुखमासीत्' इत्यादि मन्त्र से ब्राह्मण आदि वर्णों की ब्रह्मा के मुख से उत्पत्ति बतलाई, और स्वामी दयानन्द जी ने शब्दार्थबल से यह सिद्ध करने का यत्न किया कि इस मन्त्र में ब्राह्मण को मुख के समान कहा है, मुख से उत्पन्न नहीं कहा। काशी के दिग्गज पण्डित के साथ एक युवक साधु की ऐसी बढ़िया टक्कर का जनता पर अवश्य ही बड़ा प्रभाव हुआ होगा।

कुम्भ का मेला होगया। इस मेले में स्वामी जी के डेरे पर कई साधु और शिष्य ठहरे हुए थे। सबके लिए भोजन आदि का वहीं प्रबन्ध था। उस समय की रीति के अनुसार एक संघ के मुखिया साधु को सब प्रकार की जिस सामग्री की आवश्यकता होती थी, स्वामी जी के पास भी इस समय तक वह विद्यमान थी। मठधारियों और महन्तों की दुर्दशा देखकर स्वामी जी का विशुद्ध हृदय जल उठा। उन्हें अपनी थोड़ी सी सामग्री भी बोझल प्रतीत होने लगी। उनके हृदय ने कहा कि यदि त्यागियों की विलासिता का नाश करना है, तो पहिले स्वयं सर्वत्यागी बनना होगा। धर्म की बिगड़ी हुई दशा का अनुभव करके उन्हें अपने शरीर पर धारण करने के थोड़े से कपड़े भी बहुत प्रतीत होने लगे। साधु की संचित सामग्री भी कैदखाने की जंजीर प्रतीत होने लगी। गृहत्यागी दयानन्द ने सर्वत्याग करने निश्चय कर लिया।

डेरे पर जो कुछ भी था, भिखारियों को बांट दिया गया। स्वामी दयानन्द ने एक कौपीन रख ली, शेष सब सामग्री दरिद्रों में वितीर्ण करदी। मलमल का थान और महाभाष्य का ग्रन्थ गुरू जी की सेवा में मथुरा भेज दिया। इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं के इस हलके से बन्धन को काट कर सर्वत्यागी स्वतन्त्र दयानन्द मनुष्य जाति के बन्धनों को काटने के लिये सन्नद्ध हुआ। गंगा के पार, चांडी के पर्वत के नीचे रेतीले किनारे पर कुछ समय तक तपस्या करके उन्होंने अपने आपको उस महायुद्ध के लिए और भी अधिक तय्यार किया, जिसकी ओर भगवान् की इच्छा उन्हें खींचे ले जा रही थी।

पाठक वृन्द! यहां सुधार की दूसरी दशा का आरम्भ होता है। सुधारक की दृष्टि अधिक विस्तृत हो गई है, रहे सहे रूढि के बन्धन टूट गये हैं, और निसर्ग से ही उज्ज्वल प्रतिभा वास्तविक संसार की घटनाओं से रगड़ खाकर और भी अधिक उज्ज्वल हो उठी है।

सातवां परिच्छेद ।

गंगातट पर सिंह नाद ।

(सन् १८६७ से १८६९ के सितम्बर मास तक)

त्यागी दयानन्द हिन्दू जाति में फैली हुई कुरीतियों का नाश करने के लिये कटिबद्ध होकर गंगा तट पर भ्रमण करने लगे। सुधार की पहली दशा में जो दृष्टि सम्प्रदाय की रेखाओं से परिमित थी, वह इस दूसरी दशा में सम्पूर्ण आर्य (हिन्दू) जाति तक विस्तृत हो गई। इस समय स्वामी दयानन्द के प्रोग्राम में सम्पूर्ण आर्य जाति के रोगों को नष्ट करना और धर्म के स्वरूप को प्रकाशित करना था। जहां कहीं जाते थे, निम्न लिखित आठ गप्पों का खण्डन करते थे। यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस समय स्वामी जी प्रायः संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। गप्पें यह हैं—(१) अठारह पुराण (२) मूर्ति पूजा (३) शैव, शाक्त, रामानुज आदि सम्प्रदाय (४) तन्त्र ग्रन्थ वाम मार्ग आदि (५) भंग शराब आदि सब नशे की चीजें (६) परस्त्रीगमन (७) चोरी (८) छल अभिमान झूठ आदि। वह इन आठ गप्पों का खण्डन करते थे और यह उपदेश देते थे कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की एक ही गायत्री है। इन तीनों ही वर्णों को गायत्री के पाठ का समान अधिकार है, और उनमें से कोई वर्ण भी ऐसा नहीं जो यज्ञोपवीत का अधिकारी न हो।

इस समय के कार्यक्रम पर ध्यान देने से निम्न लिखित बातें स्पष्ट होती हैं।

(१) इस समय स्वामी जी का कार्यक्रम खण्डनात्मक था। आर्य जाति की दुर्दशा देख कर स्वामी जी का हृदय रो रहा था। उनका परोपकारी हृदय अपने सजातीयों की दशा देख कर शान्त नहीं रह सकता था। दुःख का मूल बुराइयों में था, इस कारण आपने बुराइयों को तर्क और ज्ञान के दावानल से जला कर राख कर देने का निश्चय किया। आपके जीवन का यह खण्डम युग कहा जा सकता है।

वह

(२) ऊपर दिये हुए कार्यक्रम को देखने से यह भी [illegible] कि स्वामी जी की दृष्टि जहां सम्प्रदायों की सीमा से बाहि[illegible] वहां आर्य

जाति की सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकी थी। इसका कारण यह नहीं था कि संसार मात्र से उनके हृदय में स्नेह का भाव नहीं था, या वह केवल आर्य जाति को ही धर्म की अधिकारिणी समझते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि किसी भी सुधारक को लीजिये, वह सार्वभौमसिद्धान्तों का प्रचारक होता हुआ भी अपने वातावरण के अन्दर ही रह सकता है। ईसा को एक सार्वभौम सुधारक कहा जा सकता है, परन्तु बाइबिल में यहूदियों के पादरियों के दुर्व्यवहारों का खण्डन है, भारतवर्ष के ब्राह्मणों या बौद्धों में प्रचलित रीतियों का खण्डन नहीं। चाहे मनुष्य कितना ही बड़ा हो, वह सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचार अपने दृष्टि क्षेत्र में आये हुए विषय की अपेक्षा से ही कर सकता है। उसकी बुद्धि वहीं तक फैल सकती है, जहां तक मनुष्य की बुद्धि का फैलना सम्भव है। इस समय तक स्वामी जी के दृष्टिक्षेत्र में आर्य जाति की आन्तरिक दशा ही आई थी। सार्वभौम सिद्धान्तो का प्रयोग करके स्वामी जी ने उस बिगड़ी हुई दशा के कारणों पर विचार किया, उनका अनुसन्धान किया। जो उपाय उन्हे प्रतीत हुआ, उसका प्रयोग करने का यत्न किया। वह इस समय प्रधानतया खण्डनात्मक था।

कौपीन मात्रधारी स्वामी दयानन्द हरिद्वार से ऋषिकेश और लंढौरा होते हुए कर्णवास पंहुचे। हरिद्वार के कुम्भपर्व पर प्राप्त किया हुआ पांडित्य का यश स्वामी जी के आगे २ जाता था। कुम्भ पर प्रायः सारे देश के साधु और यात्री एकत्रित होते हैं। उन लोगों ने युवक सन्यासी के तेजस्वी भाषणों को और उनकी ख्याति को सुना था। वह लोग स्वामी जी के यश को उनके पहुंचने से पूर्व ही भिन्न २ स्थानों पर पहुंचा चुके थे। जहां स्वामी जी जाते, शीघ्र ही चारों ओर धूम मच जाती कि एक त्यागी सन्यासी आये हैं, जो धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हैं, जिन्होंने हरिद्वार में स्वा० विशुद्धानन्द जी से टक्कर ली थी, जो पुराण और मूर्त्ति-पूजा आदि का खण्डन करते हैं। स्वामी जी गंगा के तट पर रेती में विश्राम करते। रात को बालू का सिरहाना बनाकर सो रहते। दिन में गप्पों का खण्डन करते और सदुपदेश देते। शीघ्र ही चारों ओर चर्चा फैल गई। गृहस्थ लोग स्वामी जी के उपदेशों को सुनते, पहले आश्चर्यित होते और फिर सन्देह करने लगते। सन्देहनिवृत्ति के लिये अपने गुरु ब्राह्मणों के पास जाते। वहां स्वामी दयानन्द के लिये गालियां तो मिलतीं, परन्तु सन्देह का समाधान न मिलता। पण्डित लोग स्वामी जी के सम्मुख आकर प्रश्नोत्तर करने का साहस न करते। अनूपशहर में पं० अम्बादत्त वैद्य और पं० हीरावल्लभ पर्वती स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने आये। शास्त्रार्थ का उद्देश्य मूर्त्ति-पूजा का मण्डन करना था, परन्तु फल [illegible] निकला। [illegible] [illegible]बादत्त ने स्वयं निरुत्तर होकर एक दूसरे पण्डित की ओर [illegible] दिया। [illegible] पराजित होकर अपनी पहिले की हुई प्रतिज्ञा के

सामने रक्खी हुई शालिग्राम की मूर्त्ति का गंगा में प्रवाह कर दिया। फिर क्या था, प्रजा ने मूर्तियां गंगा प्रवाह के अर्पण करदीं, कण्ठियां तोड़ डालीं—मानों अज्ञान को बहा दिया, और बन्धनों को काट डाला। क्षत्रियों और वैश्यों के समूह आ आकर स्वामी जी से गायत्री और यज्ञोपवीत का प्रसाद लेने लगे। गंगातट पर अखण्ड यज्ञ होने लगा, और सदियों से अधिकार वञ्चित भारतीय प्रजा अपने धार्मिक अधिकारों को प्राप्त करके स्वामी दयानन्द का जय जयकार करने लगी।

कुछ दिनों तक इसी प्रकार भ्रमण करके स्वामी जी २० मई सन् १८६८ के दिन फिर कर्णवास आये, और अपनी कुटिया में आसन जमाया। स्वामी जी अत्यन्त निर्भय थे। यदि वह निर्भय न होते तो सुधार के काम में हाथ ही न डालते। सुधार का कार्य शेरों का है, गीदड़ों का नहीं। जो मनुष्य लोक-निन्दा से, किसी पागल के आक्रमण से या किसी शक्तिशाली के शास्त्र से डरता है, वह सदियों से जमी हुई कुरीति रूप काई को उखाड़ने का प्रयत्न नहीं कर सकता। कुरीति और रूढ़ि के कंटीले जंगलों को तर्क और सुबुद्धि के कुठार से वही काट सकता है, जिसके हृदय में वाणी या बाण का भय नहीं है। स्वामी दयानन्द ने सदियों से प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के खण्डन का बीड़ा उठाया था, उन्होंने कुछेक महन्तों और पुरोहितों और टीकाधारियों द्वारा कुचले हुए जनता के अधिकारों को फिर से जगाने और अधिकारियों को सौंपने का संकल्प किया था। यदि ऋषि शेर न होता, तो भारत भर के सम्प्रदायाचार्यों को न ललकार सकता।

कर्णवास में स्वामी जी की निर्भयता का एक दृष्टान्त संघटित हुआ। बरोली के रईस राव कर्णसिंह गंगास्नान के लिए कर्णवास आये। कर्णसिंह वृन्दावन के वैष्णवाचार्य रंगाचार्य के शिष्य थे, और तिलकछाप लगाते थे। स्वामी जी की प्रसिद्धि सुनकर वह उनके स्थान पर पहुंचे। कर्णसिंह की प्रकृति बहुत उग्र थी। उसने सुना था कि स्वामी जी तिलकछाप का खण्डन करते हैं, इस लिए पहिले से ही उसके क्रोध का पारा चढ़ा हुआ था। स्वामी जी ने आदरपूर्वक पास के आसन पर बैठने के लिये कहा। कर्णसिंह ने उत्तर दिया कि 'हम वहीं बैठेंगे, जहां तुम बैठे हो' इस पर स्वामी जी ने जिस सीतलपाटी पर वह बैठे थे, उसका कुछ भाग खाली कर दिया। यहां तो झगड़ा न बढ़ा। झगड़ा पैदा करने पर तुला हुआ कर्णसिंह निराश हुआ, तब नया ढंग प्रारम्भ हुआ। राव साहिब बोले कि 'तुम गंगा जी को नहीं मानते ?' स्वामी जी ने कहा कि 'जितनी गंगा जी हैं उतनी मानते हैं,'

र्णसिंह 'कितनी ?'

ामी जी 'हम लोगों का तो गंगा जी कमण्डलु ही हैं

इस पर कर्णसिंह ने गंगास्तुति के कुछ श्लोक पढ़े।

स्वामी जी—'यह सब तुम्हारी गप्प है। वह केवल पीने का पानी है, उससे मोक्ष नहीं हो सकता, मोक्ष तो केवल कर्मों से होता है, तुमको पोपों ने बहकाया है"। फिर स्वामी जी ने उसके माथे पर तिलक छाप देख कर कहा--

'तुमने क्षत्रिय होकर मस्तक पर यह भिखारियों का चिन्ह क्यों धारण किया है?'

कर्णसिंह—'हमारे स्वामी के सामने आपसे बात चीत भी न होगी, तुम उनके सामने कीड़े के तुल्य हो, तुम से उनके जूते उठाते हैं'।

स्वामी जी ने हंसकर उत्तर दिया कि 'अपने गुरु को शास्त्रार्थ के लिये बुलाओ, यदि उनमें आने का सामर्थ्य न हो तो हम वहां चलें'।

इस पर क्रोध में आकर कर्णसिंह बेतुकी कहने लगा और स्वामी जी को धमकाने लगा। धमकी में आने वाले व्यक्ति दूसरे ही होते हैं। स्वामी जी ने धमकी के उत्तर में चक्रांकित सम्प्रदाय का बड़े बल से खण्डन किया, और अन्त में कहा कि 'तुम क्षत्रिय हो, जो रामलीला में लौंडों का स्वांग भरवा, महापुरुषों की नकल उतरवा उनको नचवाते हो, अगर तुम्हारी बहन बेटी को कोई नचावे तो तुम्हें कैसा बुरा लगे?' यह सुनकर कर्णसिंह की आखें लाल हो गईं, नथुने फड़कने लगे, और हाथ तलवार की मुठ्ठी पर गया। कर्णसिंह का एक पहलवान आगे बढ़कर स्वामी जी पर हाथ डालने लगा। ब्रह्मचारी दयानन्द ने एक झटके से पहलवान को दूर फेंक दिया, और केहरी के सदृश गर्ज कर कर्णसिंह से कहा—

'अरे धूर्त! यदि शस्त्रार्थ करना है तो जयपुर और धौलपुर के राजाओं से जा लड़ो, और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा लो।'

इतने में वहां उपस्थित जनता में से ठाकुर कृष्णसिंह आदि राजपूत लठ्ठ लेकर खड़े होगये, और कर्णसिंह को ललकारने लगे। कायर कर्णसिंह अपने पहलवानों को साथ लेकर वहां से चला गया।

बहुत से लोगों ने स्वामी जी से प्रार्थना की, कि इस घटना की सूचना पुलिस में की जाय। स्वामी जी ने स्मरणीय उत्तर दिया। आपने कहा कि 'यदि वह अपने क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो हम क्यों अपने सन्यास धर्म से पतित होवें, सन्तोष करना ही हमारा परम धर्म है।'

इसके पीछे भी कर्णसिंह कई नीच उपायों से अपना क्रोध शान्त करने करता [illegible] को मारने के लिये उसने कुछ बदमाश भेजे, योगी

सुन वह इस प्रकार बेहोश होकर भागे कि गिरकर मरते २ बचे। कर्णसिंह ने कुछ वैरागियों को भी स्वामी जी के मारने के लिये तैयार करना चाहा, पर किसी की हिम्मत न पड़ी। आखिर बात बढ़ गई, स्वामी जी के भक्त राजपूतों ने लट्ठ लेकर कर्णसिंह के बंगले को घेर लिया और निकलकर लड़ने के लिये ललकारा। कर्णसिंह के श्वसुर ठाकुर मोहन सिंह ने भी उसे समझाया कि यदि खैर चाहते हो तो यहां से भाग जाओ। कायर कर्णसिंह दूसरे रोज़ कर्णवास से भाग गया, और घर जाकर पागल होगया। मणि और कांच की प्रतिद्वन्द्विता में मणि ने मणिता प्रगट करदी और काच ने काचता। शेर की खाल ओढ़कर सियार केसरी नहीं बन सकता, जो हृदय से शेर है, वही असली शेर है। स्वामी दयानन्द हृदय के शेर थे।

कर्णवास से आसन उठा, स्वामी दयानन्द चाशनी, ताहरपुर और अहार होते हुए अनूपशहर पहुंचे। जहां गये, वहां मूर्ति पूजा मृतक श्राद्ध और फलित ज्योतिष आदि का खण्डन किया।

अनूपशहर में स्वामी जी लगभग चार मास तक रहे। जिन लोगों ने उस समय उन्हें देखा था, वह देर तक भी उस मूर्ति को न भूल सके। लम्बा कद, सुडौल शरीर चौड़ी छाती, सुन्दर और प्रभावशाली चेहरा, शेर की आंख को झपका देने वाली आंखें, उन्नत और विशाल मस्तक-यह बनावट जिसने एक वार देख ली वह उसे कैसे भूल सकेगा? उस समय एक कौपीन ही स्वामी जी का परिच्छद था। सर्दी हो या गर्मी—आंधी हो या पानी—यही परिच्छद शरीर की रक्षा के लिये काफ़ी था। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर नित्यकर्म से निवृत्त होकर स्वामी जी समाधिस्थ हो जाते, और घण्टों तक ध्यानावस्थित रहते। उसके पश्चात् एकत्र हुई प्रजा को धर्म का उपदेश देते। जो भिक्षा आ जाती, उसी से निर्वाह कर लेते। उपदेश प्रति दिन ही होता। पण्डित लोग अपने बाहुबल की परीक्षा के लिए आते, उनमें से कोई शहर से बाहिर ही रुक जाते, जो शहर में आते, वह सामने आकर शास्त्रार्थ करने की अपेक्षा दूर से गालीप्रहार को ही बहादुरी समझते। जो सामने आ जाते, वह प्रत्युत्पन्नबुद्धि, युक्तियुक्त भाषण और ब्रह्मचर्य के ओज से प्रदीप्त आंखों के सामने या तो सिर झुकाते या शीघ्र ही कोई बहाना बनाकर सरकने का उपाय ढूंढते। पं० हीरा बल्लभ और पं० टीकाराम मूर्तिपूजक थे। कई स्वामी जी से भिड़े भी, परन्तु अन्त को शिष्य बन गये, और मूर्तियों को गंगा में [illegible]र दिया। उनकी देखादेखी अनेक गृहस्थों ने भी मूर्तिपूजा को त्यागकर पूजा [illegible] श्री भागीरथी के पवित्र प्रवाह के अर्पण करदी।

मूर्तियों का जलप्रवाह उन लोगों से न सहा गया, जिनकी उदर-पूर्ति का साधन ही मूर्ति-पूजा था। ब्राह्मण लोग नाराज हो गये और पराजित कायरों के हथियारों से कार्य लेना आरम्भ किया। स्वामी जी को एक ब्राह्मण ने पान में ज़हर दे दिया। स्वामी जी को पता चल गया और उन्हों ने न्योली कर्म द्वारा विष को शरीर से निकाल दिया। यह घटना वहां के तहसीलदार सय्यद मुहम्मद को पता लग गई। वह स्वामी जी का बड़ा भक्त था। उसे ब्राह्मण की दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। ब्राह्मण को उसने गिरिफ्तार कर लिया और यह जानने के लिये कि उसे क्या दण्ड दिया जाय, स्वामी जी के निकट आया। स्वामी जी उससे बोले तक नहीं। वह आश्चर्यित हुआ, और रुष्टता का कारण पूछने लगा, स्वामी जी ने उस समय जो उत्तर दिया, वह उनके सारे जीवन की चावी है, और प्रत्येक हृदय में अंकित करने योग्य सन्देश है। उत्तर निम्न लिखित था।

'मैं संसार को कैद कराने नहीं आया हूं बरन कैद से छुड़ाने आया हू। यदि वह अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें' ?

स्वामी जी की आज्ञा से तहसीलदार ने उस ब्राह्मण को रिहा कर दिया।

अनूपशहर से प्रस्थान कर स्वामी जी अतरौली, जलेसर व गढ़िया, सोरों, पीली भीत, शहबाज़पुर, ककोड़े घाट, नरोली, कायमगंज आदि में प्रचार करते हुए फर्रुखाबाद पहुंचे। मार्ग में कई स्थानों पर शास्त्रार्थ और विचार हुए। प्रचार का अखण्ड क्रम जारी ही रहा। सोरों में पं० अंगद शास्त्री से शास्त्रार्थ हुआ। पं० अंगद शास्त्री की इस प्रदेश में बड़ी मानता थी—वह उस घेरे के प्रधान मल्ल समझे जाते थे। अंगद शास्त्री ने देर तक शास्त्रार्थ करने के पीछे स्वामी जी के कथन की सत्यता स्वीकार की, और अनुयायी बन गया। तब तो चारों ओर सुधार की बाढ़ आ गई। लोग धड़ाधड़ मूर्तियों का प्रवाह करने लगे, कण्ठियां टूटने लगीं, भागवत के ग्रन्थ रद्दी की टोकरी में पहुंच गये, और स्वामी जी का जयकार चारों ओर गूंजने लगा। जब स्वामी जी शहबाज़ पुर में थे, तब उन्होंने दण्डी विरजानन्द जी के देहावसान का समाचार सुना। स्वामी जी को बड़ा दुःख हुआ, वह अपने गुरु के बड़े भक्त और सच्चे शिष्य थे। उन्हें दण्डी जी के शिष्य होने का अभिमान था। समाचार सुनकर स्वामीजी के मुंह से हठात् यह शब्द निकले कि 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया'। स्वामी दयानन्द का 'व्याकरण के सूर्य' के प्रति इतना श्रद्धाभाव यथार्थ ही था। स्वामीजी ने जो बड़ा का[illegible] धर्म के लिये किया, उसके लिये दण्डी जी का श्रेय कुछ कम नहीं है। यह [illegible]
कि दयानन्द में बीज रूप से विद्या और अनुभव की सब शक्तियां विद्यमान
बीज को, [illegible] विरजानन्द ही था। दण्डी जी के स्वभाव

कई प्रकार की सम्मतियां हो सकती हैं। वह आदर्श नहीं था। दण्डी जी के हृदय में सुधार का सारा क्रम भी निश्चित रूप से विद्यमान नहीं था। परन्तु उनका अगाध-पाण्डित्य, आर्ष ग्रन्थों में अभिरुचि और रूढ़ि को न मानने की ओर अभिरुचि—यह गुण थे, जिन्होंने योग्य शिष्य के हृदय में विद्यमान बीज को भली प्रकार सींच कर हरे भरे कल्पद्रुम के रूप में परिणत कर दिया।

फर्रुखाबाद में स्वामी जी बहुत देर तक रहे। वहां भी बड़े बल से कुरीतियों का खण्डन किया गया, और द्विजों को यज्ञोपवीत तथा गायत्री का प्रदान किया गया। पं० गोपाल जिसका साहस योग्यता की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक था, शास्त्रार्थ करने के लिये आया। बेचारा शास्त्रार्थ-गुरु से क्या टक्कर लेता? शास्त्रार्थ में पराजित हुआ, परन्तु साहस ने उसका साथ न छोड़ा। वह भागा हुआ बनारस गया, और कुछ धनराशि दे दिला कर सुरती और सूंघनी के उपासकों से मूर्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आया। वह व्यवस्था फर्रुखाबाद में डंके की चोट सुनाई गई, परन्तु असर कुछ भी न हुआ। होता भी कैसे? सब लोग व्यवस्था का मूल्य जानते थे? 'अरे का है?' 'महाराज! यह एक मोहर है, और हस्ताक्षरों के लिये एक व्यवस्था पत्र है' 'अरे का लिखलबा है!' 'महाराज मूर्तिपूजा का समर्थन किया है' महोपाध्याय ने मोहर को अन्टी में दबाया, सूंघनी की एक चुटकी नाक में दी और 'लाई' कह कर व्यवस्थापत्र मांग लिया। लिखने की सामग्री हस्ताक्षर कराने वाला साथ लाता था उसने कलम महामहोपाध्याय जी के हाथ में पकड़ा दी। अब देर क्या है—कलम उठाई, पत्र पढ़ने की फुर्सत कहां? नीचे हस्ताक्षर कर दिये। प्रजा के धर्म का निर्णय हो गया। इससे पण्डितमहाराजों को कोई मतलब नहीं कि व्यवस्था में क्या लिखा है।

व्यवस्था का भी कुछ प्रभाव न होता देख, ब्राह्मणों तथा तान्त्रिकों ने कानपुर से पं० हलधर ओझा को बुलवाया। पं० हलधर ओझा व्याकरण को अच्छे पण्डित थे। उन्हें धर्म के विषय में कुछ अधिक ज्ञान नहीं था। शास्त्रार्थ धर्म विषय पर था पर ओझा जी उसे व्याकरण में खेंच ले गये। उन्हें यह ज्ञान नहीं था, कि स्वामी जी व्याकरण के भी अपूर्व पण्डित हैं। व्याकरण में भी पं० हलधर की हार हुई। उपस्थित पण्डितों ने इस बात को स्वीकार किया। तब तो स्वामी जी का प्रभाव और भी अधिक हो गया। फर्रुखाबाद के कई भक्त सेठों ने वेद वेदांग की शिक्षा के लिये एक पाठशाला स्थापित करा दी। मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध आदि से लोगों की श्रद्धा उड़ गई, और गली २ कूचे २ में भी भगीरथीओं के बालक तक स्वामी जी से सुनी हुई युक्तियां दोहरा कर ब्राह्मण मरण्डों करने लगे।

फर्रुखाबाद से अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए स्वामी दयानन्द कानपुर पहुंचे, और गंगा तट पर आसन जमाया। जैसे मधु की प्यासी मधु मक्खियां दूर २ से आकर फूल के इर्द गिर्द घूमने लगती हैं, इसी प्रकार उस जागृति काल की उतावली जनता धर्म की प्यास बुझाने के लिये विश्रान्त घाट की ओर उमड़ने लगी। पौराणिक मण्डल में हलचल मच गई। धनी साहूकारों ने बहुत सा धन व्यय करके पण्डितों का जमाव किया। फर्रुखाबाद की चोट से घायल पं० हलधर ओझा अपनी नष्ट हुई कीर्ति को फिर से स्थापित करने के लिये दल बल सहित उपस्थित हो गये। बड़ा भारी जमाव हुआ। भैरव घाट मनुष्यों से भर गया। कानपुर के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट मि० डब्लू थैन सभापति के आसन पर बिठाये गये। लगभग ५० हजार मनुष्यों की भीड़ भाड़ में स्वामी जी में और पं० हलधर में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

शास्त्रार्थ का विषय मूर्तिपूजा था। पं० हलधर ने महाभारत से कुछ श्लोक पढ़ कर कहा कि भील ने द्रोण की मूर्ति बनाई थी। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया कि भील कोई वेदज्ञ ऋषि नहीं था, वह एक अनपढ़ आदमी था, उसका कार्य सब के लिये प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसी प्रकार शास्त्रार्थ जारी रहा, अन्त में सभापति को निश्चय हो गया कि स्वामी जी का कथन ठीक है और पं० हलधर केवल समय बिता रहे हैं। वह स्वामी जी के विजय की घोषणा देकर सभा से उठ गये। सभापति के उठ जाने पर लोगों में हल्ला मच गया, और 'बोल सनातन धर्म की जय" का पौराणिक धर्म के विजय तथा पराजय का सूचक एकही शब्द आकाश में गूंजने लगा। थोड़े दिनों पीछे मि० थेन ने एक लिखित चिट्ठी कुछ सज्जनों को दी जिसमें लिखा था कि 'शास्त्रार्थ के समय मैंने स्वा० दयानन्द फकीर के पक्ष में व्यवस्था दी थी, मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियां वेदानुकूल थीं।"

आठवां परिच्छेद ।

गढ़ से टक्कर

बनारस में राजा माधोसिंह का आनन्द बाग़ प्रसिद्ध है । उस बाग़ में कार्तिक सुदी द्वादशी सम्वत् १९२६ के दिन बड़ी धूमधाम थी । कुछ दिन हुए, एक लंगोटबन्द सन्यासी इस बाग़ में आकर ठहरा था । विद्या की पुरी काशी के सभी प्रसिद्ध २ पण्डित-मल्ल उस लंगोटबन्द के साथ अपनी बल परीक्षा करने के लिये आने वाले हैं । २२ अक्तूबर १८६९ ई० के दिन राजपुर से स्वामी दयानन्द बनारस में आकर उस उद्यान में ठहरे हैं । उनके आते ही सारे नगर में हलचल मच गई है । बुद्धि और धर्म में पूर्ण स्वतन्त्रता का माननेवाला सुधारक दयानन्द, अन्ध विश्वास और रूढ़ि के गढ़ बनारस की दीवारों को सत्य की टक्कर से गिरा कर चकनाचूर करने के लिये, केवल एक परमात्मा को सहायक मानकर युद्ध-भूमि में उतर आया है । काशीपुरी बहुत प्राचीन काल से विद्या की खान समझी जाती है । उसके कोने कोने में विद्यावारिधि, और गली गली में महामहोपाध्याय रहते हैं । स्वामी दयानन्द हिन्दू धर्म की कुरीतियों का संहार करना चाहते थे । जब तक काशी अपराजिता थी, तब तक पौराणिक धर्म को भी हारा हुआ नहीं मान सकते थे । जो पौराणिक पण्डित निरुत्तर होता था, वह काशी की ओर भागता था । कोई टका सेर व्यवस्था ले आता था, कोई स्वा० विशुद्धानन्द के नाम की दुहाई देता था, और कोई पं० राजाराम शास्त्री का नाम लेकर धमकाना चाहता था । आश्रय-हीन अन्धकार का अन्तिम आश्रम बनारस ही दिखाई देता था । निर्भय वीर दयानन्द ने गुफ़ा में पहुंच कर शेर को ललकारने का निश्चय किया, और माधो बाग़ में जाकर धर्म का झण्डा गाड़ दिया ।

स्वामी दयानन्द ने काशीनरेश को कहला भेजा कि यदि सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते हो तो पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये तय्यार करो । काशीनरेश ने पण्डितों को बुलाकर शास्त्रार्थ के लिये कहा । पण्डितों ने उत्तर दिया कि स्वा० दयानन्द वेद का पण्डित है और वेद की ही दुहाई देता है । हम लोगों को कुछ दिन वेदों में से प्रमाण खोजने के लिये मिलने चाहियें, पीछे हम शास्त्रार्थ कर सकेंगे । १५ दिनों की मुहलत गई । पण्डित लोग खूब तैयारी करते रहे । शास्त्रार्थ के लिये कार्तिक सुदी [illegible]ा दिन निश्चित किया गया था । सभा के लिये माधो बाग़ ही उचित स्थान [illegible]या, क्योंकि स्वा० दयानन्द ने सन्यासी धर्म के [illegible] पर

आना स्वीकार न किया। १५ दिन व्यतीत होगये। आज एक ओर माधोबाग़ में सभा का समारोह होने लगा और दूसरी ओर से पण्डितों को सभास्थान तक पहुंचने के लिये काशी नरेश के दरबार से पालकी, छत्र, चँवर आदि सामग्री भेजी जाने लगी। आज मानो काशी के पण्डितों का परीक्षादिन था। इस दिन की सफलता पर उनका भविष्य अवलम्बित था। प्रतिपक्ष में कौपीनधारी साधु था, विद्या ही जिसका शास्त्र था, सत्य ही जिसका किला था, और परमात्मा ही जिसका सहायक था। इधर अनेक पण्डितों की मण्डली थी, जिनके पास विद्याखड्ग तो थी, परन्तु स्वतन्त्र विवेक के अभाव से रूढ़ि—रूपी जंगार से निकम्मी होगई थी। सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से बंद हो चुका था। परमात्मा का स्थान एक ओर जड़ मूर्तियों ने और दूसरी ओर अन्नदाता काशी नरेश ने छीन लिया था। जहां कौपीनधारी, अपने सहायक पर भरोसा करके, सत्य के गढ़ में डेरा जमाकर, विद्या की तलवार पकड़े निर्भीक बैठा था, वहां अपनी शक्तियों और सहायकों को कमज़ोर समझकर पण्डित मण्डली कभी छत्र चंवर के ढोंग का आसरा ढूंढ़ती थी, और कभी सैंकड़ों शिष्यों की पंक्तियां बांधकर समझती थी कि अब तो दयानन्द अवश्य दहल जायगा। परन्तु यहां वह लोहा न था, जो ज़रासी आंच से पिघल जाता। यहां वह लौ न थी, जो हवा के ज़रा से झोंके से बुझ जाती।

जो जनता माधोबाग़ की ओर उमड़ने लगी, उसमें निन्यानवे फीसदी मूर्तिपूजा के मानने वाले थे। वह लोग सत्यासत्य निर्णय देखने नहीं जा रहे थे, बल्कि माने हुए 'सनातन-धर्म' को जिताने जा रहे थे। उन्हें बतलाया गया था कि बनारस में एक बड़ा भारी नास्तिक आया है, जो विश्वनाथपुरी में ही विश्वनाथ जी को गालियां देता है। उसका दमन करना हिन्दूमात्र का कर्तव्य है। लोग अपनी अपनी भावना के अनुसार एक बड़े नास्तिक का पराजय देखने जा रहे थे। जानेवालों में भले भी थे, और बुरे भी थे। भले आदमी अपने पण्डितों को आशीर्वाद देते जा रहे थे, और बुरे आदमी नास्तिक पर ईंट पत्थर बरसाने के मंसूबे बांध रहे थे। सभा मण्डप का प्रबन्ध शहर के कोतवाल रघुनाथ सहाय के आधीन था। वह बड़े सज्जन थे। शान्ति से शास्त्रार्थ का कार्य चलाने के लिये उन्होंने बैठने की ऐसी व्यवस्था की थी कि स्वामी जी के साथ एक समय में एक ही पण्डित बोल सके, और पण्डित लोग उन्हें घेर कर न बैठ सकें। तीन ऊंचे आसन जमाये गये थे—एक स्वामी जी के लिये, दूसरा प्रति पक्षी पण्डित जी के लिये और तीसरा काशीनरेश के लिये।

विरोधियों की इतनी संख्या—और उनमें भी काशी के प्रसिद्ध गुण्डों की काफ़ी
स्वामीजी के भक्तों के हृदय कांपने लगे। एक भक्त ने स्वामी जी से भय की चर
स्वामीजी के अनुसार ईश्वर-विश्वास और निर्भयता का उपदेश

सांत्वना देते हुए कहा कि "एक परमात्मा है और एक ही धर्म है। दूसरा कौन है, जिससे डरें ? उन सब को आ जाने दो—जो कुछ होगा उसी समय देखा जायगा।" स्वामी जी के भक्त पं० जवाहरदास जी ने भी कुछ संदेह प्रगट किया, और वैसा ही उत्तर पाया। निर्भय, निष्कम्प, निःशंक सन्यासी उमड़ते हुए विरोधिमेघ के करका-प्रहार को सहने के लिये तैयार होकर बैठा था, और थोथी गर्ज पर मुस्करा रहा था। जो बहादुर, केशरी को उसकी गुफा में जाकर ललकार सकता है, वह उसकी गड़गड़ाहट को भी अक्षुब्ध चित्त से सुन सकता है।

पौराणिकों की अक्षौहिणी सेना आ पहुंची। रोब जमाने को काशी नरेश; बाल की खाल उधेड़ने को वृद्ध स्वा० विशुद्धानन्द, प्रसिद्ध बाल शास्त्री, और अन्य माधवाचार्य वामनाचार्य नारायण आदि विख्यात पंडित; और हल्ला मचाने को काशी के विद्यार्थी और गुंडे; इस प्रकार झूमती झामती और बेतहाशा जय जयकारों से आकाश को गुंजाती हुई अगलय सम्पन्न पौराणिक सेना माधो बाग़ में पहुंच गई। नियम-हीन सेना के पहुंचते ही मंडप का नियम टूट गया। कोतवाल का यत्न व्यर्थ हुआ। स्वामी जी को पंडितों ने चारों ओर से घेर लिया। उनके पास किसी हितैषी को बैठने का भी अवसर न दिया गया। रास्ते रोक लिये गये, और अकेले दयानन्द को घेरकर पचास हज़ार विरोधी, सनातन धर्म का जयकारा बोलने लगे।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। कहने को शास्त्रार्थ था, परन्तु वस्तुतः वर्षा ऋतु के बढ़े हुए बीसियों प्रचण्ड नालों की चट्टान से टक्कर थी। हरेक पण्डित अपनी बलपरीक्षा कर रहा था, और चाहता था कि किसी प्रकार स्वामी निरुत्तर हो जायं, परन्तु प्रत्युत्पन्नमति सन्यासी काबू नहीं आता था। बरसों अभ्यास और ब्रह्मचर्य पालन से संग्रह किये हुए, निर्भयता, धैर्य और स्मृति आदि गुण इस समय उसके परम सहायक हुए। प्रश्नरूपी तीरों की अनवरत बौछार हो रही थी, साधन सम्पन्न ब्रह्मचारी फेंके हुए तीरों को मार्ग में ही काटता जाता था, और साथ ही अपने धनुष की करामात दिखा रहा था। उस उपजाऊ धनुष से फेंके हुए अमोघ बाण विरोधियों की कवचों में छेद कर रहे थे।

पं० ताराचरण ने पूछा—'आप मनुस्मृति को वेदमूलक कैसे मानते हैं ?'

स्वामी जी ने उत्तर दिया—'सामवेद के ब्राह्मण में कहा है कि जो कुछ मनु ने वर्णन किया है वह औषधों का भी औषध है।'

ताराचरण जी चुप होगये, स्वा० विशुद्धानन्द जी मदद के लिये पहुंचे।

आप बोले—'रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्' इस वेदान्त सूत्र को वेदमूलक सिद्ध

स्वामी जी ने उत्तर दिया—'यह उपस्थितवाद के भीतर नहीं है'

स्वामी विशुद्धानन्द जी—'प्रकरण के बाहिर है तो क्या हुआ ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कहदो ।'

स्वा० दयानन्द—'इसका पूर्वापरपाठ देखकर समाधान किया जा सकता है'

स्वा० विशुद्धानन्द—'यदि सब कुछ याद न था तो काशी में शास्त्रार्थ करने क्यों आये थे ?'

स्वा० दयानन्द—'क्या तुम्हें सब कुछ कण्ठाग्र है ?'

स्वा० विशुद्धानन्द—'हां, हमें सब कुछ स्मरण है ।'

यहां उल्टा वार प्रारम्भ हुआ । पेंच में आता २ चतुर सिपाही निकल गया । स्वा० दयानन्द ने पूछा—

'तब बताइये धर्म के लक्षण कितने हैं ?

स्वा० विशुद्धानन्द ने सर्वज्ञता का दावा तो किया, परन्तु उन्हें मनुस्मृति का धर्म लक्षण सम्बन्धी 'धृतिक्षमा दमोस्तेयम्' इत्यादि श्लोक याद नहीं था । वह निरुत्तर होगये । स्वामी दयानन्द ने श्लोक पढ़ सुनाया । इस पर प्रसिद्ध धर्माचार्य पं० बाल शास्त्री जी मदद पर आ पहुंचे । आपने कहा कि 'हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है, इस विषय में कुछ पूछना हो तो हमसे पूछिये'

स्वा० दयानन्द ने पूछा—'आप अधर्म के लक्षण बतलाइये ।'

बाल शास्त्री जी ने कभी सोचा भी नहीं था कि कोई आदमी अधर्म के लक्षण भी पूछ सकता है । उन्हें निरुत्तर होना पड़ा ।

इसी प्रकार प्रश्नोत्तर होते रहे । मूर्त्तिपूजा के सम्बन्ध में काशी के पंडितों ने दो ही बातें पेश कीं । एक तो यह कि वेद में प्रतिमा शब्द आया है, वह मूर्त्ति का वाचक है, और दूसरा यह कि 'उदबुध्यस्वाग्ने' इत्यादि मन्त्र में जो 'पूर्त' शब्द आया है, वह मूर्त्तिपूजा का का सूचक है । स्वामी जी ने दोनों का ही समाधान कर दिया । ईश्वर की प्रतिमा का वेद से स्पष्ट निषेध है, और पूर्त शब्द नदी, तड़ाग आदि का वाचक है । यह समाधान करके स्वामी जी बारंबार यही पूछते रहे कि 'वेद में मूर्त्तिपूजा का विधान कहां है ?'

हर तरह से लाचार होकर पण्डित मण्डली ने चालाकी की
इसं [illegible] र्थ करने से टलकर पण्डित लोग स्वामीजी को

की नीयत से पुराणों के विषय पर विवाद करने लगे, परन्तु शीघ्र ही अनुभव करने लगे कि यह व्यूह भी अभेद्य नहीं है। स्वामी जी ने अवसर पाकर व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न पण्डितों के सामने रक्खा—कोई भी सन्तोषजनक उत्तर न मिला। पण्डित लोग खिन्न और हताश होने लगे। तब माधवाचार्य जी आगे बढ़े और कोई दो पत्रे लाकर बीच में रखते हुए कहा कि 'यहां पर लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दसवें दिन पुराणों का पाठ श्रवण करे, अब स्वामी जी बताइये कि 'पुराण' किसका विशेषण है ?'

स्वामी जी—आप पाठ पढ़ कर सुनाइये'

स्वामी विशुद्धानन्द जी ने पत्रे स्वामी दयानन्द जी के हाथ में पकड़ा कर कहा कि 'आप ही पढ़ लीजिये'

उस समय सांझ का अंधेरा आकाश पर उतर आया था। स्वामी दयानन्द ने पत्रे लौटाते हुए स्वा० विशुद्धानन्द से कहा कि 'आप ही पढ़ लीजिये'

स्वा० विशुद्धानन्द जी बोले 'मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इस लिये आप ही को पढ़ना होगा' स्वामी दयानन्द ने पत्रे हाथ में ले लिये। अन्धेरे के कारण पढ़ना कठिन था। दीपक मंगवाया गया। लालटैन की रोशनी भी बड़ी मद्धम थी, पत्रे पढ़ने में कुछ समय लगा। उचित मौका समझ कर पण्डितमण्डली उठ खड़ी हुई। इस प्रकार धूर्तता होते देख कर स्वा० दयानन्द ने स्वा० विशुद्धानन्द का हाथ पकड़ कर कहा कि 'बैठ जाइये। निर्णय किये बिना बीच ही में उठ खड़े होना आप ऐसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं' परन्तु स्वा० विशुद्धानन्द जी न बैठे और स्वामी दयानन्द की पीठ पर हाथ फेर कर कहने लगे कि 'अब बैठिये, जो कुछ होना था हो चुका।'

पण्डितों का इशारा पाकर काशी नरेश ईश्वरी नारायणसिंह भी खड़े होगये, और ताली पीट दी। इधर इशारा पहिले से बंधा हुआ था। सारा जन समुद्र एक दम खड़ा होकर 'सनातन धर्म की जय' बोलने लगा। कोतवाल बड़ा सज्जन था। उसे काशी नरेश का ओछा व्यवहार बहुत अखरा। उसने काशी नरेश से कहा कि 'आपने ताली पीट कर बहुत बुरा किया, यह कार्य सभा के नियमों के विरुद्ध था।' नरेश कोतवाल की बग़ल में हाथ देकर आगे बढ़ गये और समझाया कि हम तुम सभी मूर्त्तिपूजक हैं, तब अपने सामान्य शत्रु को जैसे हो सके पराजित करना ही चाहिये। इस दंगा—काण्ड के [illegible] काशी नरेश का इशारा पाकर सम्पूर्ण जनसमूह मनमानी करने लगा। किसी ने [illegible] किसी ने कंकर, किसी ने जूता—अधिक क्या लिखें, जिसे जो मिला, उसने [illegible]ला, और स्वामी जी की ओर भेजा। जैसे तूफ़ान के [illegible] ज़ोरदार

झोंकों के साथ मट्टी, कंकर, लकड़ी और पत्ता आदि पदार्थ पर्वत की निष्कम्प चट्टान पर टकराते हैं, और लज्जित होकर नीचे गिर पड़ते हैं, इसी प्रकार स्वार्थपूर्ण दम्भ द्वारा भड़काये हुए इन अज्ञानी लोगों के भेजे गर्हित पदार्थ भी लज्जित होकर गिर पड़े, सन्यासी के पयोधि--गम्भीर हृदय पर कोई प्रभाव न उत्पन्न कर सके।

पौराणिक दल ने शहर भर में पण्डितों का जुलूस घुमाया, मूर्तिपूजा का जय जय कार मचाकर अपनी सत्य प्रियता का परिचय दिया और सब स्थानों पर समाचार भेज दिया कि दयानन्द परास्त हो गया है। शहर में पंडितों की ओर से विज्ञापन लगा दिये गये, कि दयानन्द के पास कोई न जाय, जो जायगा पातकी हो जायगा। यह सब कुछ किया गया परन्तु संसार की आंखों में धूल न डाली जा सकी। देश के पक्ष-पात-हीन समाचार पत्रों ने स्वामी दयानन्द जी के विजय का ही समाचार प्रकाशित किया। प० सत्यव्रत सामाश्रमी जी ने अपनी 'प्रत्न-कमर-नन्दिनी' नाम की मासिक पत्रिका में स्वामी जी की सफलता की घोषणा दी। 'रुहेलखण्ड' नामक पत्र ने लिखा कि 'स्वामी दयानन्द जी ने काशी के पण्डितों को जीत लिया हैं'। 'ज्ञान प्रदा-यिनी' (लाहौर) ने समाचार दिया कि 'इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित लोग मूर्ति पूजा की आज्ञा वेदों में नहा दिखा सके'। हिन्दूपेट्रियट ने प्रकाशित किया कि "पण्डित लोग यद्यपि अपने ज्ञानशास्त्र का अतिगर्व करते थे, परन्तु उनकी बड़ी भारी हार हुई।"

स्वामी जी का उपदेश सुनने से रोकनेवाला विज्ञापन भी निष्फल हुआ। हवा का झोंका भ्रमरों को फूल के पास जाने से न रोक सका। लोग और भी अधिक उत्सु-कता से सन्यासी का सदुपदेश सुनने जाने लगे। स्वामी दयानन्द की धाक चारों ओर बैठ गई। जिस फौलादी ढाल से टकरा कर काशी के सुसंस्कृत तीर कुण्ठित हो गये, तिनकों की क्या मजाल थी कि उस पर अड़ सकें। देश देशान्तर में इस शास्त्रार्थ का संवाद हवा की तरह फैल गया, और अपने साथ स्वामीजी की पाण्डित्य-कीर्ति के सौरभ को भी लेता गया।

रूढ़ि के गढ़ से दयानन्द की टक्कर का जो भयंकर शब्द हुआ, उससे दिशायें गूंज उठीं। गूंज से आश्चर्यित देश ने देखा कि सदियों के अंधेरे में खड़ा किया हुआ कुरीतियों का मीनार ठोकर खाकर भीषण शब्द करता हुआ दिशानाथपुरी की तरह में विलीन होरहा है। स्वार्थ कांप उठा, और सत्य का चेहरा चमकने लगा।

नवां परिच्छेद ।

सुधार की तीसरी दशा

(१८७० से १८७५ ई०)

धीरे २ स्वामी दयानन्द जी के सुधार-कार्य ने अपनी तीसरी दशा में प्रवेश किया। सुधारक के विचार पहले से ही विस्तृत थे, अनुभव के अधिक होने से उनका क्रियात्मक रूप भी विस्तृत होने लगा। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बनारस के शास्त्रार्थ के पीछे एक दम कोई दशा-परिवर्तन होगया। कार्य का क्षेत्र धीरे २ बढ़ रहा था। बनारस शास्त्रार्थ के कारण स्वामी जी की ख्याति सारे देश में फैल गई। देश की दशा से चिन्तित सुदूरवर्ती महानुभावों ने, काशी के पंडितों को पराजित करने वाले वावदूक के वृत्तान्त पढ़ कर हृदय को ढारस दिया। उधर कलकत्ता बम्बई आदि के पण्डितों पर स्वामी जी की धाक बंध गई। सुधारक दयानन्द की सब ओर चर्चा होने लगी।

यश के विस्तार के साथ २ स्वामी जी का दृष्टिक्षेत्र भी विस्तृत होने लगा। अगले पांच सालों में हम सुधार के कार्य का फैलाव होता देखते हैं। हम देखेंगे कि धीरे २ स्वामी जी का कार्य करने का ढंग बदलने लगा। पुरानी केवल शास्त्रार्थ की या अपने डेरे पर प्रचार करने की रीति को छोड़कर नियमपूर्वक सभायें करने और उनमें व्याख्यान देने की पद्धति का अनुसरण होने लगा। स्वामी जी अब तक केवल संस्कृत में व्याख्यान देते थे, उसमें परिवर्तन हो गया। आप हिन्दी में व्याख्यान देने लगे। अब तक केवल कौपीन धारण किये रहते थे—आश्रम पर, सभा में, शास्त्रार्थ के समय, इसी वेष में रहते थे। वह भी बदलने लगा। सभा में आप कपड़े पहिन कर जाने लगे। इसी समय सत्यार्थ-प्रकाश भी लिखा गया। इस प्रकार स्वामी जी का प्रचार का क्रम अवस्थाओं से परिवर्तित होने लगा। यह परिवर्तन कार्य को अधिक विस्तृत और लोकोपयोगी बनाने का साधन हुआ।

परिवर्तन एक दम नहीं हुआ, कार्य के फैलाव के कारण नये २ उपायों का अवलम्बन आवश्यक होता गया। दौरे के प्रसंग में देश के कई अन्य सुधारक महानुभावों से [illegible] का मौका मिला। उनके साथ विचार-विनिमय में कई नये विचार उठे, जो शीघ्र कार्य में परिणत हो गये। जिस समय का वृत्तान्त ह[illegible] वह सुधार

की अंतिम दशा के निर्माण का समय था। उसके अन्त में हम ऋषि दयानन्द को एक पूर्ण सुधारक के साथ २ एक भारी कार्य का केन्द्र बना हुआ पायेंगे। सुधार की अंतिम दशा पर पहुंचकर स्वामी जी की कार्य शक्ति निर्माण के रूप में प्रगट होने लगी। वह विषय अगले परिच्छेदों का होगा। वर्तमान परिच्छेद में हम स्वामी जी के सुधार-कार्य के पूर्ण फैलाव का वृत्तान्त लिखते हुए, उन सीढ़ियों की खोज करेंगे, जिनसे होकर कार्य का क्रम पूरी ऊंचाई तक पहुंचा।

बनारस से प्रयाग होते हुए स्वामी जी मिर्जापुर गये। मिर्जापुर में कई मास तक धर्म-प्रचार करके स्वामी जी फिर बनारस में पधारे। इस वार विशेष घटना यह हुई कि काशी नरेश ने अपने गत वर्ष के व्यवहार के लिये प्रायश्चित्त किया। नरेश ने स्वामी जी के दर्शनों की इच्छा प्रगट की, और अनुमति पाकर अपनी गाड़ी भेजी। स्वामी जी जब नियत स्थान पर पहुचे तब महाराज ने खड़े होकर स्वागत किया, अन्दर ले जाकर स्वर्ण के सिंहासन पर बिठाया, और अपने हाथों से स्वामी जी के गले में हार पहिनाया।

प्रारम्भिक कार्य समाप्त हो जाने पर महाराज ने स्वामी जी से हाथ जोड कर निवेदन किया कि 'मूर्त्तिपूजा में हमारे कुल की सनातन काल से श्रद्धा है। उसके प्रसंग से शास्त्रार्थ के समय आपकी अवज्ञा होगई थी। आप सन्यासी हैं--आशा है, क्षमा कर देंगे'। स्वामी जी ने उत्तर में कहा कि 'हमारे मन में उस बात का लेशमात्र भी संस्कार नहीं है' महाराज ने बिदा करते हुए स्वामी जी की सेवा में उचित भेंट उपस्थित की। इस प्रकार यह सुखान्तप्रसंग समाप्त हुआ।

बनारस से स्वामी जी कासगंज गये। वहां आपकी स्थापित की हुई एक पाठशाला थी, जिसमें ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन के साथ अष्टाध्यायी महाभाष्य तथा मनुस्मृति आदि का अध्ययन कराया जाता था। कासगंज की पाठशाला का स्वामी जी ने निरीक्षण किया। यहां पर एक और घटना हुई, जो देखने में बहुत सामान्य थी, परन्तु उससे स्वामी जी की निर्भयता का पुष्ट प्रमाण मिलता है। आप बाज़ार में जा रहे थे, सामने से एक मस्त मरखना सांड आ रहा था। बाज़ार के सब लोग इधर उधर भाग रहे थे, कोई रास्ता रोकने का साहस नहीं करता था। स्वामी जी रास्ते से न हटे और चलते ही गये। जब स्वामी जी बहुत पास पहुंचे तब सांड स्वयं ही रास्ता छोड़ कर अलग होगया। जनता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक भक्त ने पूछा कि 'महाराज! यदि वह सांड सामने से न हटता तो आप क्या करते?' स्वामी जी उत्तर दिया कि '[illegible] पकड़ कर अलग कर देते' स्वामी जी पर शारीरिक भय प्रभाव नहीं [illegible] से चलकर स्वामी जी छलेसर कर्णवास फर्रुखाबा

आदि स्थानों पर भ्रमण करते हुए बनारस गये, और वहां से पूर्व की ओर प्रस्थान किया।

पूर्व की यात्रा में एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई। मुंगेर को जाते हुए रास्ते में जमालपुर जंकशन पर कुछ देर तक ठहरना पड़ा। स्वामीजी के शरीर पर केवल कौपीन थी। आप प्लेटफार्म पर घूम रहे थे। स्टेशन पर एक पत्नी सहित, अंग्रेज़ इन्जीनियर, विद्यमान था। नंगा शरीर देख कर इन्जीनियर साहब के सभ्यतासम्बन्धी विचारों पर बड़ा धक्का लगा। आपने झट स्टेशन मास्टर को बुलवा कर कहा कि 'यह नंगा कौन टहल रहा है, इसे इधर उधर घूमने से बन्द करदो' स्टेशन मास्टर का अंग्रेज़ ही ईश्वर था। उसने स्वामी जी के पास जाकर निवेदन किया कि 'महाराज! दूसरी ओर चलकर कुर्सी पर आराम कीजिये। मुंगेर की गाड़ी के जाने में अभी देर है' स्वामी जी सब ताड़ गये। आपने स्टेशन मास्टर से कहा कि 'जिसने तुम्हें हमारे हटाने के लिये कहा है उससे कहदो कि हम उस समय के मनुष्य हैं जब आदम हव्वा नंगे अदनबाग में सैर किया करते थे' स्टेशन मास्टर यह उत्तर सुन कर टल गया। स्वामी जी टहलते रहे। इन्जीनियर ने फिर उसे बुलवाया। स्टेशन मास्टर ने साधु को प्लेटफार्म से हटाने में असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि 'वह स्वतन्त्र सन्यासी है' आश्चर्यित होकर अंग्रेज़ ने नाम पूछा। स्टेशन मास्टर ने नाम बता दिया। साहब यह कहता हुआ कि 'क्या ये ही प्रसिद्ध सुधारक दयानन्द सरस्वती हैं?' झट स्वामी जी के पास चला गया और बहुत देर तक बातचीत करता रहा।

मुंगेर से भागलपुर होते हुए स्वामीजी १८७२ ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ते पहुंचे। यहां उन दिनों बा० केशवचन्द्र सेन की धूमधाम थी। ब्राह्मो समाज के आकाश में सेन बाबू का सितारा चमक रहा था। प्रारम्भ में कलकत्ते के ब्राह्म समाजियों की ओर से स्वामी जी का विसेष सत्कार भी हुआ। यद्यपि ब्राह्मो समाज के वृद्ध नेता श्रीयुत देवेन्द्र-नाथ टागोर ने अपना स्थान स्वामी जी के उतारे के लिये नहीं दिया तो भी अन्य ब्राह्मो समाजियों ने स्वामी जी का अच्छा आदर किया। पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती उन लोगों में से थे जो विश्वास से ब्राह्मो थे, परन्तु बा० केशवचन्द्रसेन की ईसाइयत की ओर प्रवृत्ति से कुछ असन्तुष्ट थे। स्वामी जी के उपदेशों से उन पर बड़ा प्रभाव हुआ। वह देर तक स्वामी जी के साथ रह कर योगाभ्यासादि सीखते रहे।

न बा० केशवचन्द्र सेन कहीं बाहिर गये हुए थे। जब वह कलकत्ते आये तो [illegible]मी जी का समाचार सुना। मिलने की इच्छा से सेन महाशय स्वामी जी के पास [illegible], परन्तु परिचय न दिया, और बातचीत करने लगे [illegible] पीछे सेन महाशय ने स्वामी जी से पूछा कि 'क्या आप कभी [illegible] मिले हैं?'

स्वामी जी ने उत्तर दिया 'हां, मिले हैं' सेन महाशय ने कहा 'आप उसने कब मिले ?' स्वामी जी ने उत्तर दिया 'अभी'। सेन महाशय आश्चर्यित हुए। आपने पूछा "यह आपने कैसे जाना कि मैं ही केशवचन्द्र हूं ?' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'जैसी बातें आपने की हैं, वैसी किसी दूसरे से नहीं हो सकतीं' इस प्रकार इन दो महा पुरुषों में परिचय हुआ। इसके निरन्तर स्वामी जी और सेन महाशय में वार्तालाप होता रहा।

दोनों महापुरुष देश की भलाई में दत्तचित्त थे, दोनों ही अद्भुत वक्ता थे, दोनों में ही लोगों पर बिजली का असर पैदा करने की शक्ति थी। जिस प्रकार समानतायें थीं, वैसे ही असमानतायें भी बहुत सी था। एक बड़ी असमानता दोनों महापुरुषों की निम्न लिखित बात चीत से स्पष्ट होगी। एक दिन सेन महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि 'भिन्न भिन्न धर्मों के मानने वाले लोग अपने अपने मान्य ग्रन्थ को ईश्वरीय और अन्तिम प्रमाण मानते हैं, और कहते हैं। आप वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। हम कैसे जानें, किसका कहना सच्चा है "? स्वामी जी ने उत्तर में कुरान और बाइबिल में से अनेक दोष दिखाये और वेदों की निर्दोषता दिखाते हुए कहा, "निर्दोष होने से वैदिक धर्म ही सच्चा है।" इस वाक्य पर सेन महाशय ने कहा।

'शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेज़ी नहीं जानता अथवा इंगलैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता'।

स्वामी जी ने उत्तर दिया 'शोक है कि ब्राह्मो समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते' (श्रीमद्दया-नन्द प्रकाश)

दोनों नेताओं में यही भेद था। एक की दृष्टि पूर्वाभिमुख थी, दूसरे की पश्चिमाभिमुख। एक को भारत की आर्य्य प्रजा की हितकामना थी, दूसरे का अधिक ध्यान योरप के साधुवाद की ओर था। व्यक्तिगत स्वभाव में भी अनेक भेद थे, परन्तु उनके उल्लेख की यहां आवश्यकता नहीं। एक का जीवन हृदय का खिलौना था—दूसरे की उमंगें उच्च जीवन की दासियां थीं। एक के आत्मा की उच्चतर अभिलाषा यह थी कि वह 'ब्रह्मा से जैमिनिपर्यन्त' ऋषियों का अन्यतम व्याख्याता बने, और दूसरे का हृदय संसार में एक नया धर्म स्थापित करके मुहम्मद और ईसा की श्रेणी में शामिल होने पर तुला हुआ था। इन भेदों के होते भी यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही असाधारण थे, दोनों में चुम्बक की शक्ति थी, प्रतिभा थी — पुरुषता के सम्पूर्ण चिन्ह थे। ऐसे दो महापुरुषों का परस्पर मेल मिलाप उत्[illegible] नहीं रह सकता था। यदि विशेष विचार से देखा जाय इ[illegible] गम्भीर परिणाम दोनों ही पर हुआ।

बा० केशवचन्द्रसेन के जीवन का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन करें तो हम उसमें दो तीन परिवर्तन देखते हैं। प्रारम्भ में उसका झुकाव ईसायन की ओर था। उसका पहला प्रकाश १८६६ में हुआ, जब मेडिकल कालेज हाल में 'Jesus Christ-asia and Europe' इस विषय पर व्याख्यान देते हुए सेन महाशय ने ईसा को ईश्वर का पुत्र और पैगम्बरों का सर्दार बताया। यह लहर बहुत वर्षों तक रही और इस लहर में बहते हुए ब्राह्मो नेता का ध्यान योग या तपस्या की ओर नहीं गया। लगभग ७ वर्ष पीछे हम एक दम बड़ा परिवर्तन देखते हैं। १८७५ के अन्त में बा० केशवचन्द्र सेन को तप और योग की ओर झुकता हुआ पाते हैं। स्वामी दयानन्द जी १८७३ के प्रारम्भ में कलकत्ते गये थे। इन दोनों घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध ढूंढ लेना कुछ कठिन नहीं है। एक वार परिवर्तन आरम्भ होजाने पर सेन महाशय की गतिशील प्रवृत्ति का बहुत आगे बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। भक्ति-मार्ग पर चलकर उस समय के ब्राह्मो-समाजियों ने कैसे २ परिहास किये, यह बताने की आवश्यकता नहीं, परन्तु लेखक की सम्मति है कि केशवचन्द्र सेन के हृदय में जो बहिर्मुख लहर बह रही थी, उसे अन्तर्मुख करने के लिये प्रारम्भिक चोट स्वामी दयानन्द से मिली हो—यह कुछ असंभव नहीं है।

यह मानने में कोई संकोच का कारण नहीं है कि बा० केशवचन्द्रसेन और ब्राह्मो-समाज के कार्य का कलकत्ते में अनुशीलन स्वामीजी के कार्यक्रम पर भी कुछ कम प्रभाव उत्पन्न करने वाला नहीं हुआ। यह मानी हुई बात है कि स्वामीजी ने सर्वसाधारण में आर्यभाषा में व्याख्यान देना बा० केशवचन्द्रसेन के कहने पर ही प्रारम्भ किया था। इससे पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। अब तक प्रायः स्वामीजी कौपीनमात्र रखते थे, व्याख्यान के समय भी यही वेष रहता था। बा० केशवचन्द्रसेन के कथन पर स्वामीजी ने व्याख्यान देने के समय अन्य वस्त्र धारण करना भी अंगीकार कर लिया। इन दो बातों के अतिरिक्त यह भी कुछ कम महत्व की बात नहीं है कि आर्यसमाज रूपी संगठन स्थापित करने का विचार स्वामीजी के हृदय में कलकत्ते से पीछे ही उत्पन्न हुआ। इससे पूर्व किसी संगठन की स्थापना का विचार उद्‌बुद्ध हुआ प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मो-समाज के सिद्धान्तों और संगठन की अपूर्णता को देखकर स्वामी दयानन्द के हृदय में एक अन्य वैदिक समाज के स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

कलकत्ते में स्वामीजी के कई व्याख्यान हुए। एक व्याख्यान सेनमहाशय के घर हुआ। व्याख्यानों का बहुत उत्तम प्रभाव होता रहा। उत्साह पूर्ण बंगाली जनता स्वामीजी के भाषणों से उछल पड़ा। कलकत्ते से हुगली भागलपुर आदि प्रचार करते हुए स्वामीजी फर्रुखाबाद गये। वहां पा[illegible] गया

करके २५ दिसम्बर १८७३ के दिन आप अलीगढ़ पहुंचे। यहां आपने राजा जयकृष्ण दास जी के यहां आसन जमाया। अलीगढ़ से हाथरस होते हुए स्वामी जी मथुरापुरी गये। मथुरा वैष्णवों की राजधानी है। वहां के रंगाचार्य जी तिलक छाप धारियों के परम गुरु माने जाते थे। फाल्गुण एकादशी सम्वत् १९३० के दिन, ब्रह्मोत्सव के समय स्वामीजी ने वृन्दावन में पहुंचकर मलूकदास के राधाबाग़ में आसन जमाया। यहां पर आपकी स्थिति अनेक मनोरंजक घटनाओं से परिपूर्ण हुई। वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव के अवसर पर हज़ारों लोग एकत्र होते हैं। स्वामीजी ने निर्भीकता से मूर्ति-पूजा तिलक छाप आदि का खंडन प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-सरोवर में भारी हल-चल मच गई। लोग भागे हुए रंगाचार्य जी के पास पहुंचे। इधर स्वामीजी ने भी रंगाचार्य जी के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रण दिया। रंगाचार्य जी ने बनारस के शास्त्रार्थ की घटना सुन ही रखी होगी। जिस वीर योद्धा पर काशी के हथियार नाकाम हुए, उस पर मथुरा के निर्बल हथियार क्या असर डाल सकते थे? रंगाचार्य जी ने पहले तो कहला भेजा कि मेले के दिनों में अवकाश न होने से शास्त्रीय विचार होना कठिन है, और जब मेला हो चुका तो रोगी होने के कारण स्वामी जी के आमन्त्रण को स्वीकार न कर सके।

रंगाचार्य जी शास्त्रार्थ के मैदान में न आये परन्तु उनके शिष्य नीचता के मैदान में उतर आये। कई उपायों से स्वामी जी को डराने या बेइज़्ज़त करने का यत्न करते रहे। वृन्दावन में धर्म की ध्वजा गाड़ कर स्वामी जी मथुरा चले गये। यहां पण्डों गुण्डों और चौबों के एक बड़े समूह ने स्वामी जी के निवासस्थान पर धावा किया। धावा करने वालों के हाथों में डण्डे थे। इधर स्वामी जी का स्थान भी अरक्षित नहीं था। स्वामी जी के भक्त राजपूत सदा पहरे का प्रबन्ध रखते थे। गुण्डा मण्डली स्वामी जी के द्वार को सुरक्षित देख कर आगे न बढ़ सकी, और गालियां बकने लगी। स्वामी जी के सेवक गालियां सुन कर जोश में आगये, परन्तु शान्ति का उपदेश सुन कर शान्त हो गये। स्वामी जी ने उन्हें समझा दिया कि नासमझों की नासमझी देख कर समझदारों को अपनी समझ नहीं छोड़ देनी चाहिये। गुण्डे निराश हो कर लौट गये।

यहां से निराश होकर विरोधियों ने दूसरी चाल चली। उन्होंने चांद पर थूकने का विचार किया। स्वामीजी उपदेश दे रहे थे, उस समय विरोधियों के बहकाये हुए एक कसाई और शराब की दूकानवाले ने पुकार कर कहा कि 'स्वामीजी, आपका कई दिनों का लेखा होगया है, दाम देकर उसे चुका क्यों नहीं देते?' विरोधी निराश हुए उपस्थित जनता में से किसी ने भी यह विश्वास न किया कि सूर्य कलंकी सभा [illegible] बुलाकर पूछा गया तो उत्तर मिला कि 'महाराज हमें

मुनीम ने कहा था कि सभा में जाकर तुम यह वाक्य कह देना, मैं तुम्हें पीछे पुरस्कार दूंगा' विरोधियों ने एक कुलटा को भी धन का लोभ देकर तय्यार किया कि वह सभा में जाकर स्वामी जी पर लाञ्छन लगा दे। कुलटा सभा में पहुंची। स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। अमृत की धारा से पापिन के हृदय का पाप धुल गया। उसे पश्चात्ताप हुआ। व्याख्यान की समाप्ति पर स्वयं ही स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ी और अपने मानसिक अपराध के लिये क्षमा मांगने लगी। ब्रह्मचारी का चरित्र निर्दोष था। जो निर्दोष है, उस पर फेंका हुआ मैला लौट कर फेंकने वाले पर ही पड़ता है।

मथुरा से चलकर मिर्ज़ापुर और बनारस होते हुए भी स्वामी जी प्रयाग में पहुंचे। यहां पर उनके प्रचार का यश पहिले से ही पहुंच चुका था। शिक्षित समाज बड़ी उत्सुकता से आपके व्याख्यान सुनने आता था। रायबहादुर पं० सुन्दरलाल आपके विशेष भक्तों में से थे। वह बराबर सत्संग में आया करते थे। इन दिनों स्वामी जी ईसाइयों का बड़े ज़ोर से खण्डन किया करते थे। सत्यार्थप्रकाश के लेख का कार्य भी बराबर होता था।

आपकी योगशक्ति की सूचना समय २ पर लोगों को मिलती रहती थी। योगशक्ति का ही फल था कि आप परोक्ष की कल्पना कर लिया करते थे, और वह कल्पना ठीक निकलती थी। एक बार रायबहादुर पं० सुन्दरलाल आदि सज्जन स्वामी जी के स्थान पर बैठे हुए थे। स्वामी जी मुस्कराते हुए उनके सन्मुख आये और उन लोगों से कहने लगे कि 'एक मनुष्य मेरी ओर चला आता है। उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा' थोड़ी देर में एक ब्राह्मण मिठाई लिये आ पहुंचा, और सामने रखदी। स्वामी जी ने मिठाई का एक टुकड़ा उसे खाने को दिया, परन्तु उसने लेने से इन्कार किया। उल्टा कांपने लगा। तब सबने समझ लिया कि अवश्य इस मिठाई में विष मिली हुई है। मिठाई का टुकड़ा कुत्ते के आगे फेंका गया, जिसे खाकर कुत्ता छटपटाने लगा और शीघ्र ही मर गया। तब तो उपस्थित लोग उस ब्राह्मण को पुलिस के सुपुर्द करने को तय्यार होगये। स्वामी जी ने अपनी दयालुता के कारण उसे क्षमा कर दिया। १८७४ ई० के अक्टूबर मास के मध्य तक स्वामी जी प्रयाग में रहे, फिर पश्चिम की ओर को प्रस्थित हुए।

दसवां परिच्छेद।

आर्य्य समाज का स्थापना-बम्बई प्रान्त में प्रचार।

स्वामी दयानन्द का सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रम सर्वांगसम्पन्न होकर जनता के सामने आ गया। स्वामी जी ने अपने कार्य को वैष्णव सम्प्रदाय के खण्डन से प्रारम्भ किया था। धीरे २ उनका खण्डनास्त्र सारे पौराणिक मतों पर व्याप गया। वह सुधार की दूसरी दशा थी। ज्यों २ वैदिक धर्म का रूप अन्य सब मतों की अपेक्षा उज्ज्वल रूप में दिखाई देने लगा, त्यों २ अन्य सब धर्माचार्यों का अपनी रक्षा के लिये यत्न भी जारी हो गया। ईसाई और मुसलमान अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिये चेष्टा करने लगे। इसी में स्वामी जी का मौलवियों और पादरियों से भी संघर्ष उत्पन्न हो गया। स्वामी जी ने सब मतों और सम्प्रदायों का खण्डन कर वैदिक धर्म को स्थापित करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार स्वामी जी कार्य्यक्रम पूरा हो गया।

स्वामी जी ने ईसाइयत और इस्लाम का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। इसी बात के दो निमित्त बताये जा सकते हैं। एक निमित्त तो यह कि स्वामी जी उस समय की आर्य जाति पर इन दो मतों से उत्पन्न होने वाले ख़तरे को देख रहे थे। स्वामी जी ने देखा कि हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान कवलित कर रहे हैं। आर्यजाति, जिसे दुर्भाग्य से हिन्दू जाति का नाम भी दिया गया था, पादरियों और मौलवियों के धावों के सामने डांवाडोल हो रही थी। स्वामी जी आर्य जाति के रक्षक बने और ईसाइयत तथा इस्लाम की बाढ़ को रोकने का यत्न करने लगे।

एक दूसरे प्रकार से भी इसी बात को समझाया जा सकता हैं। स्वामी जी मनुष्य-मात्र के हितैषी थे, वह चाहते थे कि हिन्दू हो या बौद्ध, ईसाई हो या मुसलमान, भारतवासी हो या विदेशी-मनुष्यमात्र वैदिक धर्म को स्वीकार करें। अन्यधर्मावल-म्बियों को धर्मसम्बन्धी भ्रान्तियों में से निकालने के लिये ही स्वामी जी ने खण्डन का कार्य आरम्भ किया था। खण्डन का उद्देश्य आर्यजाति की रक्षा नहीं था, अपितु अन्य मतवादियों का खण्डन ही था। कार्य एक था—दो व्याख्याओं के अनुसार उस पर भिन्न २ प्रकार का प्रकाश पड़ता है। इसी विषय पर पूरा विचार तो हम [illegible] जुदा परिच्छेद में करेंगे, यहां केवल इतना विचारणीय है कि सुधार की दूसरी [illegible] तीसरी दशा [illegible] उसका निमित्त क्या था? क्या उसका निमित्त स्व[illegible]

जी का केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम था, या मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम ? यदि तो ईसाइयों और मुसलमानों का खण्डन केवल आर्य जाति को उनके आक्रमणों से बचाने के लिये ही था तो खण्डन का निमित्त केवज आर्यजाति के प्रति प्रेम होगा, परन्तु यदि खण्डन का निमित्त ईसाई मुसलमानों को वैदिक-धर्मी बनाना था तो निमित्त मनुष्य-प्रेम होगा।

मेरी सम्मति है कि स्वामी जी ने दोनों ही निमित्तों से ईसाइयों तथा मुसलमानों का खण्डन किया। उन्हें मनुष्यमात्र से प्रेम था परन्तु आर्य्यजाति से विशेष प्रेम था। उस प्रेम का केवल यह कारण नहीं था कि वह आर्य जाति में उत्पन्न हुए थे, यह भी कारण था कि वह आर्यजाति को शेष सब जातियों की अपेक्षा सत्य के अधिक पास समझते थे। वेद धर्म का स्रोत है, केवल आर्यजाति ही है जो वेदों को प्रामाणिक मानती है। जिन आर्षग्रन्थों में स्वामी जी वेद के आशय को ढूंढ़ते थे, उनका ख़ज़ाना भी आर्यजाति के पास ही था। वैदिक संस्कार, वैदिक-ज्ञान, वैदिक-धर्म—सब के अवशेष यदि कहीं थे, तो आर्यजाति में थे। इस कारण स्पष्ट है कि जहां आर्यजाति को शुद्ध वैदिक धर्म पर लाने के लिये केवल सुधार की आवश्यकता थी, वहां ईसाइयत और इस्लाम का मूलसहित परिवर्तन किये बिना वैदिक-धर्म के लिये स्थान नहीं निकाला जा सकता था! एक जगह केवल काट छांट चाहिये, जहां दूसरी जगह उखाड़ना आवश्यक है। आर्य जाति की रक्षा और सुधारणा आवश्यक थी, परन्तु अन्यमतवादों का रूपपरिवर्तन ही अभीष्ट था। स्वामी जी ने आर्यजाति की रक्षा और सुधारणा करते हुए ईसाइयत और इस्लाम को रास्ते पर खड़ा पाया। वह धर्म आर्यजाति की सत्ता को नष्ट करने की धमकी दे रहे थे। आर्य जाति को सुधार कर, शुद्ध वैदिक बनाकर, स्वामीजी संसार की भलाई का साधन बनाना चाहते थे। आर्यजाति के लिये भयानक समझ कर आर्यजाति के रक्षक ने ईसाइयत और इस्लाम पर प्रत्याक्रमण किये। इससे मनुष्य-मात्र का भला ही अभीष्ट था। प्रथम तो स्वामी जी समझते थे कि यदि आर्य जाति के विचारों का पूरा सुधार हो जाय तो २३ करोड़ से अधिक वैदिक-धर्मी सारे संसार को सच्चे धर्म की शरण में ला सकते हैं। वह देखते थे कि आर्य जाति के अधूरे वैदिकधर्मी अन्य प्रभावों में आकर बिल्कुल अवैदिक और अनार्य बन रहे हैं। मनुष्य जाति की भलाई इसी में थी कि आर्य जाति अपने रूप को समझ कर संसार को शुद्ध धर्म का प्रकाश दे सके। दूसरे स्वामी जी चाहते थे कि अपने २ मतों की निर्बलतायें देखकर ईसाई, मुसल्मान आदि वैदिक धर्म की शरण में आ सकें। स्वामी जी का आर्यजाति के प्रति पक्षपात था परन्तु वह गुणों का पक्षपात था। भारवि कवि ने

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजा-
म्भवन्ति भव्येष्विह पक्षपाताः।

स्वामी दयानन्द आर्य-जाति को अपना बिगड़ा हुआ किला समझते थे और अन्य धर्मावलम्बिनी जातियों को उस किले पर आक्रमण करने वाले प्रतिपक्षी। यह विचार समय के साथ धीरे २ पूर्णता को प्राप्त हुआ। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय स्वामी जी रक्षा, सुधार और प्रत्याक्रमण के पूरे कार्यक्रम को तय्यार कर चुके थे। वह इस समय युद्ध की गहराई में थे। सब प्रतिपक्षी चौकन्ने हो चुके थे, और स्वामी जी से सीखे हुए अस्त्रों की सहायता से उनके प्रत्याक्रमणों को रोकने का उद्योग कर रहे थे।

इस प्रकार प्रत्याक्रमण द्वारा आक्रमणों को रोकते हुए धर्म-महारथी २२ अक्तूबर १८७४ को प्रयाग से बम्बई पहुंचे। देर से स्वामी जी के पास बम्बई-निवासियों के निमन्त्रण आरहे थे। बम्बई के समाज-सुधारक सुधार-सम्बन्धी कार्य को उन्नति देने के लिये व्यग्र थे। इस कारण उनका आग्रह था कि स्वामी जी शीघ्र ही बम्बई पधारें। स्वामी जी के भक्त पं० सेवकलाल जी आदि ने पहले ही से काशीशास्त्रार्थ की प्रतियां शहर में बंटवाकर प्रसिद्ध करदी थीं। स्टेशन पर स्वामी जी का अच्छा स्वागत हुआ। बालुकेश्वर पर एक उत्तम आश्रम में स्वामी जी के निवास का प्रबन्ध किया गया था। वहां पर प्रतिदिन धर्म-चर्चा होने लगी। बम्बई में वल्लभ सम्प्रदाय का विशेष ज़ोर है। स्वामी जी ने उसी का खण्डन आरम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय की लीला का उल्लेख अब आवश्यक नहीं रहा। सम्प्रदाय के गुरुओं की घृणास्पद लीलाओं से अब देश काफी परिचित हो चुका है। स्वामी जी ने जब बम्बई में उनके आचरण देखे और सुने, तो उनके हृदय में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। उन्होंने बलपूर्वक खण्डन प्रारम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों में हलचल पैदा होगई। गोकुलिये गोसाइयों में जीवन जी गोसाईं बहुत चलता पुर्ज़ा था। उसने स्वामी जी के सेवकों तक को बहकाकर विषद्वारा धर्म की आवाज़ को शान्त करने का यत्न किया परन्तु स्वामी जी को रहस्य का पता चल गया और जीवन जी का कण्टक दूर न हुआ। कुछ लोग स्वामी जी का पीछा करने लगे। वह छाया के समान पीछे रहने लगे ताकि अवसर पाकर कांटे को उखाड़ दें—परन्तु सफलता प्राप्त न हुई। स्वामी जी निर्भय तो थे, परन्तु असावधान नहीं थे। बहुत सी आपत्तियां तो उनकी सावधानता से ही दूर हो जाती थीं। कई लोग समझते हैं कि आंखें बंद करके चलने का नाम निर्भयता है, स्वामी जी उनमें से नहीं थे। भय को न देखना निर्भयता नहीं, भय को देखना और देखकर भी कर्तव्य के मार्ग से न विचलना ही निर्भयता के नाम से पुकारा जा सकता है। सावधानता स्वामी का विशेष गुण था। अपने डेरे की छोटी से छोटी बात पर भी स्वामी जी की दृष्टि थी। बम्बई के [illegible] दूकान पर कह छोड़ा था कि 'स्वामी जी का नौकर [illegible] का जो [illegible] दे दिया जाय, और बिल मेरे पास भेज दिया जाय'

वार जांच करने पर स्वामी जी को पता चला कि आवश्यकता से सात गुणा अधिक समान डेरे पर आया है। नौकर लोग अधिक सामान को बेचकर अपनी मुट्ठी गर्म कर रहे हैं। स्वामी जी ने दो अपराधी नौकरों को सेवा से पृथक् कर दिया।

इस सयय स्वामी जी के अनुयायियों की संख्या हज़ारों से अधिक हो चुकी थी सुधरे हुए विचारों के लोग देश भर में फैले हुए थे। वह लोग बिखरे हुए फूलों की भांति इधर उधर पड़े थे, उनकी माला तैयार नहीं हुई थी। सब के न होने से शक्तियां बहुत फैली हुई थीं, उनका कोई केन्द्र नहीं था। इस अभाव को स्वामी जी के शिष्य चिरकाल से अनुभव कर रहे थे। बम्बई में बहुत से आर्य पुरुष स्वामी जी के पास आये और आर्यों का एक संगठन बनाने के विषय में प्रार्थना की। देर तक विचार होता रहा। विशेष चिन्ता नाम के विषय में थी। स्वामी जी ने 'आर्य समाज' नाम उपस्थित किया, जो आर्य पुरुषों के हृदयों के ऐन अनुकूल था। स्वामी दयानन्द आर्य-जाति के सुधारक और रक्षक थे, वह आर्यत्व के पोपक और प्रतिनिधि थे। 'आर्यसमाज' यह नाम इस बात को सूचित करता है। यह नाम सभी आर्य पुरुषों के हृदयों में ठीक जंचा, और आर्य-समाज बनाने की तय्यारियां होने लगीं।

हरेक समाज के लिये कोई न कोई आधार चाहिये। आर्यसमाज का मूल वेद हैं, परन्तु अभी तक वह अगम्य सागर थे, जिन तक पहुंचना किसी आर्य-पुरुष की शक्ति में नहीं था। अभी वह समय नहीं आया था कि वेदों के आधार पर ही आर्यसमाज की स्थापना करदी जाती। आधार में रखने के लिये एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जो लोगों की समझ में आ सके, ताकि प्रत्येक आर्य-पुरुष आर्यसमाज में आने से पूर्व जान सके कि किन सिद्धान्तों का मानने वाला पुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकता है सौभाग्य से इस समय ऐसा ग्रन्थ भी तय्यार हो चुका था। जब स्वामी जी अलीगढ़ में प्रचार कर रहे थे, तब राजा जयकृष्णदास जी ने प्रार्थना की थी कि एक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित कर दिया जाय जिसमें सब सिद्धान्तों का समावेश हो। स्वामी जी ने उस प्रस्ताव को स्वीकार करके अपने व्याख्यानो का संग्रह करा लिया, और वह 'सत्यार्थ-प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस समय सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम वार प्रकाशित हो चुका था।

समय अनुकूल था परन्तु स्वामी जी को शीघ्र ही बम्बई से सूरत जाना पड़ा, इस से कुछ समय के लिये समाज की स्थापना विलम्बित होगई। २४ नवम्बर १८७४ से ...रामर्श आरम्भ हुआ था, लगभग ६० सज्जनों ने सभासद् बनने की प्रतिज्ञा की। ...सम्बर में स्वामी जी को बम्बई से जाना पड़ा। ३ मास के लगभग गुजरात प्रान्त ...र करने के अनन्तर जब जनवरी में फिर स्वामी जी ब[illegible] ...समाज की

स्थापना का प्रस्ताव अधिक उत्साह से उठाया गया । इस वार यत्न शीघ्र ही सफल होगया राजमान्य राजश्री पानाचन्द आनन्द जी सर्व सम्मति से नियमों का मसौदा बनाने के लिये नियत किये गये। उनके बनाये हुए मसौदे पर विचार करके चैत्र सुदी ५ सं० १९३२ तदनुसार १० अप्रैल १८७५ के दिन, गिरगाव में, डा० मानिकचन्द्र जी की वाटिका में नियमपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हुई । आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये। वर्तमान १० नियम लाहौर में पीछे से बनाये गये थे। प्रारम्भिक २८ नियमो में सभी कुछ है, उद्देश्य, नियम, उपनियम आदि सब कुछ उनमें आगये है । यह पहला अवसर था कि स्वामी दयानन्द जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे, उनके माननेवाले लोग एक सूत्र में पिरोये जाकर संगठित हुए । आर्य समाज की नीव में कौन २ से विचार कार्य कर रहे हैं—यह जानना हो तो इन प्रारम्भिक २८ नियमों का विवेचन आवश्यक है। ऐसा विवेचन मनोरंजकता से भी खाली न होगा ।

बम्बई आर्य समाज का पहला नियम बड़ी स्पष्टता से आर्य-समाज के उद्देश्य को प्रकाशित करता है । वह कहता है—'सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाज का होना आवश्यक है' आर्यसमाज का उद्देश्य सब मनुष्यो का हित करना है । यह विस्तृत उद्देश्य है, जिससे आर्यसमाज की स्थापना हुई है । संसार में इससे बढ़कर व्यापक उद्देश्य नहीं हो सकता । दूसरा नियम बताता है कि 'इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों को ही माना जायगा' इस वाक्य में, आर्यसमाज का धार्मिक आधार स्पष्ट रूप से बता दिया गया है । केवल वेद ही स्वतः प्रमाण और धर्म के मूल आधार हैं—अन्य सब ग्रन्थ चाहे वह आर्ष ही क्यो न हों—जहा तक वेदानुकूल न हों, शब्दप्रमाण नहीं है। यह नियम बड़ा स्पष्ट है । यदि इसके महत्त्व पर पूरा ध्यान दिया जाय तो आर्यसमाज की वृत्तियां शाखाओं में बिखरने से बचाई जा सकती हैं । दूसरे और चौथे नियम में प्रधान और शाखाभेद से आर्यसमाजों के दो भेद किये गये हैं। इन नियमो में प्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक सभा आदि विस्तृत संगठनों की कल्पना नहीं है । पाचवा नियम समाज में संस्कृत और आर्यभाषा के पुस्तकालय की आवश्यकता बताता है, और यह भी आशा दिलाता है कि समाज की ओर से 'आर्य-प्रकाश' नाम का साप्ताहिक पत्र निकलेगा । यह नियम—तथा आगे के कुछ और नियम भी—इन सम्पूर्ण नियमों को एक देशी बना देते हैं । इन नियमों को बनाते हुए बम्बई की दशाओं को विशेषतया ध्यान में रखा गया था । ७वें नियम में केवल दो अधिकारी नियत करने का निर्देश है । एक प्रधान—दूसरे मन्त्री । अभी उपप्रधान उपमन्त्री आदि की रचना की आवश्यकता न समझी गई । इस नियम का दूसरा भाग बड़े महत्त्व का है । पुरुष और स्त्री—दो

समाज ...होंगे । यह उदार नियम आर्यसमाजों में प्रायः उपेक्षा ...

से देखा जाता है। स्त्री समाजें जुदा खोलदी जायं—इससे शायद उतनी न हानि हो, जितनी मुख्य आर्यसमाज से स्त्रियों का बहिष्कार करने से होती है। स्त्रियों का दृष्टिक्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। उनका ज्ञान पूरी तरह बढ़ने नहीं पाता। वह अपनी परिधि से बाहिर नहीं निकलने पाती। यदि पुरुष और स्त्री एक ही धार्मिक संगठन में शामिल हों, इकट्ठे बैठें, कार्यकारिणी में मिलकर इकट्ठे ही आवश्यक विषयों पर विचार करें, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि स्त्रियों के ज्ञान में बहुत वृद्धि हो, आर्यसमाज की शक्ति दुगनी हो जाय, और कार्य को पुष्टि मिले।

आठवां नियम आर्यसमाज के सभासद् की योग्यता का वर्णन करता है। 'इस समाज में सत्पुरुष सदाचारी और परोपकारी सभासद् लिये जायंगे' यद्यपि देखने में यह नियम छोटा और अपर्याप्त सा दिखाई देता है परन्तु आश्चर्य है कि इस नियम में ऋषि का हृदय स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। समाज का सभासद् सत्पुरुष हो, सदाचारी हो—अर्थात् आर्य आचरणोंवाला हो। आर्य सभासद् बनने के लिये श्रेष्ठ आचरण को मुख्य माना गया है। वर्तमान १० नियमों में सदाचार की चर्चा इतनी स्पष्टता से नहीं है। यही कारण है कि कभी २ 'करने' की अपेक्षा 'मानने' की महिमा अधिक बढ़ादी जाती है। प्रारम्भिक नियम 'करने' की महिमा अधिक मानते थे। दुराचारी, असत्पुरुष क्षण भर भी समाज का सभासद् नहीं रहना चाहिये--बम्बई वाले नियमों का यह सार है। १०वां नियम सातवें दिन सत्संग करने का आदेश करता है। पहले यह सत्संग शनिवार को होता था, पीछे से अधिक अनुकूलता देखकर रविवार के दिन होने लगा।

११ वां नियम कार्यक्रम का प्रतिपादन करता है। कार्यक्रम में गान मंत्रपाठ मन्त्रों की व्याख्या आदि के अतिरिक्त परमेश्वर सत्यधर्म सत्य नीति सत्य उपदेश आदि का प्रतिपादन है। इस नियम में साप्ताहिक सत्संग के क्षेत्रविस्तार का दिग्दर्शन करा दिया गया है। सत्यधर्म और सत्य नीति को पृथक् रखा गया है। सत्यधर्म सिद्धान्त रूपी धर्म है, और उसका व्यावहारिक प्रयोग सत्यनीति कहलाता है। आर्यसमाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जायगा। जो लोग यह समझते हैं कि आर्यसमाज में केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होता रहे, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर कोई ध्यान न दिया जाय, वह ११वें नियम पर ध्यान देंगे तो उनका संदेह दूर हो जायगा। १२ वें नियम में आय का शतांश चन्दे के रूप में देने का विधान रखा गया है और बताया गया है कि चंदे की आमदनी से 'आर्यसमाज' "आर्य-विद्यालय और आर्य-समाचार पत्र' चलाये जायं। 'आर्य-विद्यालय' का विचार [illegible]ाज की आधार शिला रखने के साथ ही उत्पन्न होगया था, यह कोई नया समा- [illegible] है। स्वामी जी का यह दृढ़ आशय प्रतीत होता है कि [illegible] नी सन्तान [illegible]दित करने के लिये आर्य-विद्यालय खोले जायं। १६ [illegible] विद्यालय

के उद्देश्य को और भी अधिक स्पष्ट करता है। उसमें आर्य-विद्यालय का यह कार्यक्रम बताया गया है 'आर्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्षग्रन्थों का पठन पाठन हुआ करेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुष और स्त्रियों को दी जायगी।' इस नियम का अभिप्राय स्पष्ट है। आर्यविद्यालय का उद्देश्य आर्यसन्तान को वैदिक शिक्षा देना समझा गया था, न कि केवल प्रचारक बनाना। १४ वें और १५ वें नियम में वैदिक स्तुति प्रार्थना उपासना के अतिरिक्त संस्कारों का करना आर्यमात्र के लिए आवश्यक बताया गया हैं। १७ वां नियम बड़े महत्व का है। उसमें एक बड़ा उच्च सिद्धान्त बतलाया गया है। इस समय और शायद सदा प्रत्येक देश में दो प्रकार के विचारक रहे हैं। एक वह जो अपने देश को सब भूमण्डल के देशों में ऊंचा मान कर केवल उसी की भलाई को अपने जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं। दूसरे वह जो विश्वहित के विचार को ऊंचा रख कर देशहित को एक संकुचित भाव मानते हैं। १७ वें नियम में बड़ी सुन्दरता से दोनों को मिला दिया गया है। नियम यह है—

"इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायगा एक परमार्थ, दूसरा व्यवहार, इन दोनों का शोधन तथा सब संसार के हित की उन्नति की जावेगी"

स्वदेश की उपेक्षा नहीं की गई, परन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य संसार का हित करना रखा गया है। स्वदेश का हित प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है। उसके लिए निश्रेयस और अभ्युदय, परमार्थ और व्यवहार दोनों ही आवश्यक हैं। केवल भारतवासी नहीं, सभी देशों के निवासियों के लिये यह नियम रखा गया है। सब अपने देश के हित में यत्नवान् हों–परन्तु देशहित का भी अन्तिम लक्ष्य विश्वहित हो। विश्वहित की भावना के विना स्वदेशहित एक निर्मूल ममता है और स्वदेशहित के विना विश्वहित के साधन का यत्न चांद को पकड़ने के यत्न के समान है। १८ से २५ तक के नियम कार्यकर्त्ताओं को प्रबन्धसम्बन्धी निर्देश करते हैं। २६ वें नियम में एक बहुत छोटी परन्तु महत्त्व-पूर्ण बात है। जब तक आर्य समाजस्थ नौकर मिलना सम्भव हो, उससे बाहिर का नौकर न रखा जाय। शेष नियमों में कोई विशेष साम्प्रदायिक बू नहीं है, परन्तु इस नियम में कुछ थोड़ा सा साम्प्रदायिक भाव पाया जाता है। इतने उदार नियमों में यह नियम कुछ अनुदार सा प्रतीत होगा, परन्तु यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय, कि हिन्दू समाज में द्विजेतरों की कैसी दुर्दशा थी, और यह भी देखा जाय कि उनकी दशा के सुधारने का एक यह भी उपाय है, कि चाहे जाति में कोई हो, यदि वह आर्य बनगया यो उसे सेवक बनाने से किसी आर्य पुरुष को संकोच न होगा समझ में इसमें केवल साम्प्रदायिकता ही कारण नहीं है, सेवक-सम्

का हित भी कारण है । इस्लाम ने प्रारम्भ में गुलामों की दशा को सुधारने का जो उद्योग किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए इस नियम पर विचार किया जाय तो नियम के औचित्य पर विश्वास करना कठिन नहीं होगा । २८ वें नियम में, नियमों के घटाने बढ़ाने के लिए सब श्रेष्ठ सभासदों का सलाह करना आवश्यक बताया गया है ।

यह बम्बई के आर्यसमाज का संगठन है । इस में सन्देह नहीं कि यह कई अंशों में अपूर्ण है । विशेषतया कार्य में आने वाले व्यावहारिक नियमों का बहुत अभाव है । बहु सम्मति से निश्चय हो, या सर्वसम्मति से; नियम परिवर्तन के लिए कितना बहुमत होना आवश्यक है; चुनाव कितने समय पीछे हो; इत्यादि व्यावहारिक बातें नियमों में से छूट गई हैं । यह भी नहीं कि यह केवल शुद्ध उद्देश्यों या मूल सिद्धान्तों का ही वर्णन हो, कई एक व्यावहारिक नियम भी विद्यमान है, परन्तु वह अपूर्ण और अस्पष्ट हैं । यह ठीक है, तो भी यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि इन नियमों में स्वामी जी के हृदय का आशय अधिक स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है । उद्देश्य का संक्षेप में परन्तु बड़ी स्फुटता से प्रतिपादन है । शेष नियम भी स्वामी जी के आशय को बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त करते हैं ।

एक बात और है । इन नियमों पर ब्राह्मो समाज के संगठन का प्रभाव स्पष्ट है । सिद्धान्तों का नहीं अपितु कार्यसम्बन्धी व्यावहारिक संगठन का । इस में कुछ आश्चर्य भी नहीं है । यह असन्दिग्ध बात है कि स्वामी जी के सिद्धान्तों का निर्माण बिल्कुल स्वतन्त्ररीति से हुआ था । वह किसी के अनुकरण में नहीं था—वह एक ज्ञानी और पर्युत्सुक हृदय का विकास था, परन्तु प्रतीत होता है कि समाज के संगठन का विचार उतना अपेक्षारहित नहीं था । बम्बई के निवासी स्वामी जी के पास गये, और समाज की स्थापना के सम्बन्ध में निवेदन किया । जिन लोगों ने स्वामी जी को दिल्ली में निमन्त्रण दिया था, उनमें बहुत से प्रार्थनासमाजी थे, और प्रार्थनासमाज ब्राह्मो समाज की एक शाखामात्र था । उन्हीं लोगों ने स्वामी जी से समाज बनाने की प्रार्थना की, और संगठन तय्यार किया । यह बातें ध्यान में रखें तो संगठन की कई विशेषतायें समझ में आजाती हैं । साप्ताहिक सत्संग, गृहस्थी प्रचारक आदि संस्थायें, जो नई प्रतीत होती हैं, नई नहीं हैं । इन पर पहले का प्रभाव स्पष्ट है । कई लोगों का विचार होगा नियमों पहले समाजों की प्रचलित प्रथाओं के प्रभाव को मान लेने से समाज का या इस के एक महापुरुष का महत्व कम हो जायगा । यह भ्रममात्र है । संस्थायें और संगठन की सन्तानें हैं, वह वर्तमान प्रभावों से बिल्कुल स्वतन्त्र । उनका

दसवां परिच्छेद ।

आर्य्य समाज का स्थापना—बम्बई प्रान्त में प्रचार ।

स्वामी दयानन्द का सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रम सर्वांगसम्पन्न होकर जनता के सामने आ गया। स्वामी जी ने अपने कार्य को वैष्णव सम्प्रदाय के खण्डन से प्रारम्भ किया था। धीरे २ उनका खण्डनास्त्र सारे पौराणिक मतो पर व्याप गया। वह सुधार की दूसरी दशा थी। ज्यों २ वैदिक धर्म का रूप अन्य सब मतों की अपेक्षा उज्ज्वल रूप में दिखाई देने लगा, त्यों २ अन्य सब धर्माचार्यों का अपनी रक्षा के लिये यत्न भी जारी हो गया। ईसाई और मुसलमान अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिये चेष्टा करने लगे। इसी में स्वामी जी का मौलवियो और पादरियो से भी संघर्ष उत्पन्न हो गया। स्वामी जी ने सब मतों और सम्प्रदायों का खण्डन कर वैदिक धर्म को स्थापित करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार स्वामी जी कार्य्यक्रम पूरा हो गया।

स्वामी जी ने ईसाइयत और इस्लाम का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। इसी बात के दो निमित्त बताये जा सकते हैं। एक निमित्त तो यह कि स्वामी जी उस समय की आर्य जाति पर इन दो मतों से उत्पन्न होने वाले ख़तरे को देख रहे थे। स्वामी जी ने देखा कि हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान कवलित कर रहे हैं। आर्यजाति, जिसे दुर्भाग्य से हिन्दू जाति का नाम भी दिया गया था, पादरियों और मौलवियों के धावों के सामने डावाडोल हो रही थी। स्वामी जी आर्य जाति के रक्षक बने और ईसाइयत तथा इस्लाम की बाढ़ को रोकने का यत्न करने लगे।

एक दूसरे प्रकार से भी इसी बात को समझाया जा सकता है। स्वामी जी मनुष्य-मात्र के हितैषी थे, वह चाहते थे कि हिन्दू हो या बौद्ध, ईसाई हो या मुसलमान, भारतवासी हो या विदेशी-मनुष्यमात्र वैदिक धर्म को स्वीकार करें। अन्यधर्मावलम्बियों को धर्मसम्बन्धी भ्रान्तियों में से निकालने के लिये ही स्वामी जी ने खण्डन का कार्य आरम्भ किया था। खण्डन का उद्देश्य आर्यजाति की रक्षा नहीं था, अपितु अन्य मतवादियों का खण्डन ही था। कार्य एक था—दो व्याख्याओं के अनुसार उस पर भिन्न २ प्रकार का प्रकाश पड़ता है। इसी विषय पर पूरा विचार तो हम [illegible] जुदा परिच्छेद [illegible] यहां केवल इतना विचारणीय है कि सुधार की दूसरी [illegible] तीसरी दशा [illegible] उसका निमित्त क्या था? क्या उसका निमित्त स्वामी

जी का केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम था, या मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम ? यदि तो ईसाइयों और मुसल्मानों का खण्डन केवल आर्य जाति को उनके आक्रमणों से बचाने के लिये ही था तो खण्डन का निमित्त केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम होगा, परन्तु यदि खण्डन का निमित्त ईसाई मुसलमानों को वैदिक-धर्मी बनाना था तो निमित्त मनुष्य-प्रेम होगा।

मेरी सम्मति है कि स्वामी जी ने दोनों ही निमित्तों से ईसाइयों तथा मुसलमानों का खण्डन किया। उन्हें मनुष्यमात्र से प्रेम था परन्तु आर्य्यजाति से विशेष प्रेम था। उस प्रेम का केवल यह कारण नहीं था कि वह आर्य जाति में उत्पन्न हुए थे, यह भी कारण था कि वह आर्यजाति को शेष सब जातियों की अपेक्षा सत्य के अधिक पास समझते थे। वेद धर्म का स्रोत है, केवल आर्यजाति ही है जो वेदों को प्रामाणिक मानती है। जिन आर्षग्रन्थों में स्वामी जी वेद के आशय को ढूंढ़ते थे, उनका ख़जाना भी आर्यजाति के पास ही था। वैदिक-संस्कार, वैदिक-ज्ञान, वैदिक-धर्म—सब के अवशेष यदि कहीं थे, तो आर्यजाति में थे। इस कारण स्पष्ट है कि जहां आर्यजाति को शुद्ध वैदिक धर्म पर लाने के लिये केवल सुधार की आवश्यकता थी, वहां ईसाइयत और इस्लाम का मूलसहित परिवर्तन किये बिना वैदिक-धर्म के लिये स्थान नहीं निकाला जा सकता था? एक जगह केवल काट छांट चाहिये, जहां दूसरी जगह उखाड़ना आवश्यक है। आर्य जाति की रक्षा और सुधारणा आवश्यक थी, परन्तु अन्यमतवादों का रूपपरिवर्तन ही अभीष्ट था। स्वामी जी ने आर्यजाति की रक्षा और सुधारणा करते हुए ईसाइयत और इस्लाम को रास्ते पर खड़ा पाया। वह धर्म आर्यजाति की सत्ता को नष्ट करने की धमकी दे रहे थे। आर्य जाति को सुधार कर, शुद्ध वैदिक बनाकर, स्वामीजी संसार की भलाई का साधन बनाना चाहते थे। आर्यजाति के लिये भयानक समझ कर आर्यजाति के रक्षक ने ईसाइयत और इस्लाम पर प्रात्याक्रमण किये। इससे मनुष्य-मात्र का भला ही अभीष्ट था। प्रथम तो स्वामी जी समझते थे कि यदि आर्य जाति के विचारों का पूरा सुधार हो जाय तो २३ करोड़ से अधिक वैदिक-धर्मी सारे संसार को सच्चे धर्म की शरण में ला सकते हैं। वह देखते थे कि आर्य जाति के अधूरे वैदिकधर्मी अन्य प्रभावों में आकर बिल्कुल अवैदिक और अनार्य बन रहे हैं। मनुष्य जाति की भलाई इसी में थी कि आर्य जाति अपने रूप को समझ कर संसार को शुद्ध धर्म का प्रकाश दे सके। दूसरे स्वामी जी चाहते थे कि अपने २ मतों की निर्बलतायें देखकर ईसाई, मुसल्मान आदि वैदिक धर्म की शरण में आ सकें। स्वामी जी का आर्यजाति के प्रति पक्षपात था परन्तु वह गुणों का पक्षपात था। भारवि कवि ने कहा है—

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजा-
म्भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः

स्वामी दयानन्द आर्य-जाति को अपना बिगड़ा हुआ किला समझते थे और अन्य धर्मावलम्बिनी जातियों को उस किले पर आक्रमण करने वाले प्रतिपक्षी। यह विचार समय के साथ धीरे २ पूर्णता को प्राप्त हुआ। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय स्वामी जी रक्षा, सुधार और प्रत्याक्रमण के पूरे कार्यक्रम को तय्यार कर चुके थे। वह इस समय युद्ध की गहराई में थे। सब प्रतिपक्षी चौकन्ने हो चुके थे, और स्वामी जी से सीखे हुए अस्त्रों की सहायता से उनके प्रत्याक्रमणों को रोकने का उद्योग कर रहे थे।

इस प्रकार प्रत्याक्रमण द्वारा आक्रमणों को रोकते हुए धर्म-महारथी २२ अक्तूबर १८७४ को प्रयाग से बम्बई पहुंचे। देर से स्वामी जी के पास बम्बई-निवासियों के निमन्त्रण आ रहे थे। बम्बई के समाज-सुधारक सुधार-सम्बन्धी कार्य को उन्नति देने के लिये व्यग्र थे। इस कारण उनका आग्रह था कि स्वामी जी शीघ्र ही बम्बई पधारें। स्वामी जी के भक्त पं० सेवकलाल जी आदि ने पहले ही से काशीशास्त्रार्थ की प्रतियां शहर में बंटवाकर प्रसिद्ध करदी थीं। स्टेशन पर स्वामी जी का अच्छा स्वागत हुआ। बालुकेश्वर पर एक उत्तम आश्रम में स्वामी जी के निवास का प्रबन्ध किया गया था। वहां पर प्रतिदिन धर्म-चर्चा होने लगी। बम्बई में बल्लभ सम्प्रदाय का विशेष ज़ोर है। स्वामी जी ने उसी का खण्डन आरम्भ किया। बल्लभ सम्प्रदाय की लीला का उल्लेख अब आवश्यक नहीं रहा। सम्प्रदाय के गुरुओं की घृणास्पद लीलाओं से अब देश काफी परिचित हो चुका है। स्वामी जी ने जब बम्बई में उनके आचरण देखे और सुने, तो उनके हृदय में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। उन्होंने बलपूर्वक खण्डन प्रारम्भ किया। बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों में हलचल पैदा होगई। गोकुलिये गोसाइयों में जीवन जी गोसाईं बहुत चलता पुर्ज़ा था। उसने स्वामी जी के सेवकों तक को बहकाकर विषद्वारा धर्म की आवाज़ को शान्त करने का यत्न किया परन्तु स्वामी जी को रहस्य का पता चल गया और जीवन जी का कण्टक दूर न हुआ। कुछ लोग स्वामी जी का पीछा करने लगे। वह छाया के समान पीछे रहने लगे ताकि अवसर पाकर कांटे को उखाड़ दें—परन्तु सफलता प्राप्त न हुई। स्वामी जी निर्भय तो थे, परन्तु असावधान नहीं थे। बहुत सी आपत्तियां तो उनकी सावधानता से ही दूर हो जाती थीं। कई लोग समझते हैं कि आंखें बंद करके चलने का नाम निर्भयता है, स्वामी जी उनमें से नहीं थे। भय को न देखना निर्भयता नहीं, भय को देखना और देखकर भी कर्तव्य के मार्ग से न विचलना ही निर्भयता के नाम से पुकारा जा सकता है। सावधानता स्वामी जी का विशेष गुण था। अपने डेरे की छोटी से छोटी बात पर भी स्वामी जी की दृष्टि रहती थी। बम्बई के एक सेठने दूकान पर कह छोड़ा था कि 'स्वामी जी का नौकर खाने पीने का जो [illegible] वह दे दिया जाय, और बिल मेरे पास भेज दिया जाय' एक

वार जांच करने पर स्वामी जी को पता चला कि आवश्यकता से सात गुणा अधिक समान डेरे पर आया है। नौकर लोग अधिक सामान को बेचकर अपनी मुट्ठी गर्म कर रहे हैं। स्वामी जी ने दो अपराधी नौकरों को सेवा से पृथक् कर दिया।

इस सयय स्वामी जी के अनुयायियों की संख्या हज़ारों से अधिक हो चुकी थी सुधरे हुए विचारों के लोग देश भर में फैले हुए थे। वह लोग बिखरे हुए फूलों की भांति इधर उधर पड़े थे, उनकी माला तैयार नहीं हुई थी। सब के न होने से शक्तियां बहुत फैली हुई थीं, उनका कोई केन्द्र नहीं था। इस अभाव को स्वामी जी के शिष्य चिरकाल से अनुभव कर रहे थे। बम्बई में बहुत से आर्य पुरुष स्वामी जी के पास आये और आर्यों का एक संगठन बनाने के विषय में प्रार्थना की। देर तक विचार होता रहा। विशेष चिन्ता नाम के विषय में थी। स्वामी जी ने 'आर्य समाज' नाम उपस्थित किया, जो आर्य पुरुषों के हृदयों के ऐन अनुकूल था। स्वामी दयानन्द आर्य-जाति के सुधारक और रक्षक थे, वह आर्यत्व के पोषक और प्रतिनिधि थे। 'आर्यसमाज' यह नाम इस बात को सूचित करता है। यह नाम सभी आर्य पुरुषों के हृदयों में ठीक जंचा, और आर्य-समाज बनाने की तय्यारियां होने लगीं।

हरेक समाज के लिये कोई न कोई आधार चाहिये। आर्यसमाज का मूल वेद हैं, परन्तु अभी तक वह अगम्य सागर थे, जिन तक पहुंचना किसी आर्य-पुरुष की शक्ति में नहीं था। अभी वह समय नहीं आया था कि वेदों के आधार पर ही आर्यसमाज की स्थापना करदी जाती। आधार में रखने के लिये एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जो लोगों की समझ में आ सके, ताकि प्रत्येक आर्य-पुरुष आर्यसमाज में आने से पूर्व जान सके कि किन सिद्धान्तों का मानने वाला पुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकता है सौभाग्य से इस समय ऐसा ग्रन्थ भी तय्यार हो चुका था। जब स्वामी जी अलीगढ़ में प्रचार कर रहे थे, तब राजा जयकृष्णदास जी ने प्रार्थना की थी कि एक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित कर दिया जाय जिसमें सब सिद्धान्तों का समावेश हो। स्वामी जी ने उस प्रस्ताव को स्वीकार करके अपने व्याख्यानो का संग्रह करा लिया, और वह 'सत्यार्थ-प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस समय सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम वार प्रकाशित हो चुका था।

समय अनुकूल था परन्तु स्वामी जी को शीघ्र ही बम्बई से सूरत जाना पड़ा, इस से कुछ समय के लिये समाज की स्थापना विलम्बित होगई। २४ नवम्बर १८७४ से यह परामर्श आरम्भ हुआ था, लगभग ६० सज्जनों ने सभासद् बनने की प्रतिज्ञा की थी। दिसम्बर में स्वामी जी को बम्बई से जाना पड़ा। ३ मास के लगभग गुजरात प्रान्त में प्रचार करने के अनन्तर जब जनवरी में फिर स्वामी जी बंबई [illegible] र्यसमाज की

स्थापना का प्रस्ताव अधिक उत्साह से उठाया गया। इस वार यत्न शीघ्र ही सफल होगया। राजमान्य राजश्री पानाचन्द्र आनन्द जी सर्व सम्मति से नियमों का मसौदा बनाने के लिये नियत किये गये। उनके बनाये हुए मसौदे पर विचार करके चैत्र सुदी ५ सं० १९३२ तदनुसार १० अप्रैल १८७५ के दिन, गिरगांव में, डा० मानिकचन्द्र जी की वाटिका में नियमपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये। वर्तमान १० नियम लाहौर में पीछे से बनाये गये थे। प्रारम्भिक २८ नियमों में सभी कुछ है, उद्देश्य, नियम, उपनियम आदि सब कुछ उनमें आगये है। यह पहला अवसर था कि स्वामी दयानन्द जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे, उनके माननेवाले लोग एक सूत्र में पिरोये जाकर संगठित हुए। आर्य समाज की नीव में कौन २ से विचार कार्य कर रहे हैं—यह जानना हो तो इन प्रारम्भिक २८ नियमों का विवेचन आवश्यक है। ऐसा विवेचन मनोरंजकता से भी खाली न होगा।

बम्बई आर्य समाज का पहला नियम बड़ी स्पष्टता से आर्य-समाज के उद्देश्य को प्रकाशित करता है। वह कहता है—'सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाज का होना आवश्यक है' आर्यसमाज का उद्देश्य सब मनुष्यों का हित करना है। यह विस्तृत उद्देश्य है, जिससे आर्यसमाज की स्थापना हुई है। संसार में इससे बढ़कर व्यापक उद्देश्य नहीं हो सकता। दूसरा नियम बताता है कि 'इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों को ही माना जायगा' इस वाक्य में, आर्यसमाज का धार्मिक आधार स्पष्ट रूप से बता दिया गया है। केवल वेद ही स्वतः प्रमाण और धर्म के मूल आधार हैं—अन्य सब ग्रन्थ चाहे वह आर्ष ही क्यों न हों—जहां तक वेदानुकूल न हो, शब्दप्रमाण नहीं है। यह नियम बड़ा स्पष्ट है। यदि इसके महत्त्व पर पूरा ध्यान दिया जाय तो आर्यसमाज की वृत्तियां शाखाओं में बिखरने से बचाई जा सकती हैं। दूसरे और चौथे नियम में प्रधान और शाखाभेद से आर्यसमाजों के दो भेद किये गये हैं। इन नियमों में प्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक सभा आदि विस्तृत संगठनों की कल्पना नहीं है। पांचवां नियम समाज में संस्कृत और आर्यभाषा के पुस्तकालय की आवश्यकता बताता है, और यह भी आशा दिलाता है कि समाज की ओर से 'आर्य-प्रकाश' नाम का साप्ताहिक पत्र निकलेगा। यह नियम—तथा आगे के कुछ और नियम भी—इन सम्पूर्ण नियमों को एकदेशी बना देते हैं। इन नियमों को बनाते हुए बम्बई की दशाओं को विशेषतया ध्यान में रखा गया था। ७वें नियम में केवल दो अधिकारी नियत करने का निर्देश है। एक प्रधान—दूसरे मन्त्री। अभी उपप्रधान उपमन्त्री आदि की रचना की आवश्यकता नहीं समझी गई। इस नियम का दूसरा भाग बड़े महत्त्व का है। पुरुष और स्त्री—दोनों ही समाज के [illegible] हो सकेंगे। यह उदार नियम आर्यसमाजों में प्रायः उपेक्षा की दृष्टि

से देखा जाता है। स्त्री समाजें जुदा खोलदी जायं—इससे शायद उतनी न हानि हो, जितनी मुख्य आर्यसमाज से स्त्रियों का बहिष्कार करने से होती है। स्त्रियों का दृष्टिक्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। उनका ज्ञान पूरी तरह बढ़ने नहीं पाता। वह अपनी परिधि से बाहिर नहीं निकलने पातीं। यदि पुरुष और स्त्री एक ही धार्मिक संगठन में शामिल हों, इकट्ठे बैठें, कार्यकारिणी में मिलकर इकट्ठे ही आवश्यक विषयों पर विचार करें, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि स्त्रियों के ज्ञान में बहुत वृद्धि हो, आर्यसमाज की शक्ति दुगनी हो जाय, और कार्य को पुष्टि मिले।

आठवां नियम आर्यसमाज के सभासद् की योग्यता का वर्णन करता है। 'इस समाज में सत्पुरुष सदाचारी और परोपकारी सभासद् लिये जायंगे' यद्यपि देखने में यह नियम छोटा और अपर्याप्त सा दिखाई देता है परन्तु आश्चर्य है कि इस नियम में ऋषि का हृदय स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। समाज का सभासद् सत्पुरुष हो, सदाचारी हो—अर्थात् आर्य आचरणोंवाला हो। आर्य सभासद् बनने के लिये श्रेष्ठ आचरण को मुख्य माना गया है। वर्तमान १० नियमों में सदाचार की चर्चा इतनी स्पष्टता से नहीं है। यही कारण है कि कभी २ 'करने' की अपेक्षा 'मानने' की महिमा अधिक बढ़ादी जाती है। प्रारम्भिक नियम 'करने' की महिमा अधिक मानते थे। दुराचारी, असत्पुरुष क्षण भर भी समाज का सभासद् नहीं रहना चाहिये—बम्बई वाले नियमों का यह सार है। १०वां नियम सातवें दिन सत्संग करने का आदेश करता है। पहले यह सत्संग शनिवार को होता था, पीछे से अधिक अनुकूलता देखकर रविवार के दिन होने लगा।

११ वां नियम कार्यक्रम का प्रतिपादन करता है। कार्यक्रम में गान मंत्रपाठ मन्त्रों की व्याख्या आदि के अतिरिक्त परमेश्वर सत्यधर्म सत्य नीति सत्य उपदेश आदि का प्रतिपादन है। इस नियम में साप्ताहिक सत्संग के क्षेत्रविस्तार का दिग्दर्शन करा दिया गया है। सत्यधर्म और सत्य नीति को पृथक् रखा गया है। सत्यधर्म सिद्धान्त रूपी धर्म है, और उसका व्यावहारिक प्रयोग सत्यनीति कहलाता है। आर्यसमाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जायगा। जो लोग यह समझते हैं कि आर्यसमाज में केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होता रहे, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर कोई ध्यान न दिया जाय, वह ११वें नियम पर ध्यान देंगे तो उनका संदेह दूर हो जायगा। १२ वें नियम में आय का शतांश चन्दे के रूप में देने का विधान रखा गया है और बताया गया है कि चंदे की आमदनी से 'आर्यसमाज' 'आर्य-विद्यालय और आर्य-समाचार पत्र' चलाये जायं। 'आर्य-विद्यालय' का विचार आर्यसमाज की आधार शिला रखने के साथ ही उत्पन्न होगया था, यह कोई नया समारोह नहीं है। स्वामी जी का यह दृढ़ आशय प्रतीत होता है कि आर्य पुरुषों की सन्तान को शिक्षित करने के लिये आर्य-विद्यालय खोले जायं। आर्य-विद्यालय

के उद्देश्य को और भी अधिक स्पष्ट करता है। उसमें आर्य-विद्यालय का यह कार्यक्रम बताया गया है 'आर्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्षग्रन्थों का पठन पाठन हुआ करेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुष और स्त्रियों को दी जायगी।' इस नियम का अभिप्राय स्पष्ट है। आर्यविद्यालय का उद्देश्य आर्यसन्तान को वैदिक शिक्षा देना समझा गया था, न कि केवल प्रचारक बनाना। १४ वें और १५ वें नियम में वैदिक स्तुति प्रार्थना उपासना के अतिरिक्त संस्कारों का करना आर्यमात्र के लिए आवश्यक बताया गया हैं। १७ वां नियम बड़े महत्व का है। उसमें एक बड़ा उच्च सिद्धान्त बतलाया गया है। इस समय और शायद सदा प्रत्येक देश में दो प्रकार के विचारक रहे हैं। एक वह जो अपने देश को सब भूमण्डल के देशों में ऊंचा मान कर केवल उसी की भलाई को अपने जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं। दूसरे वह जो विश्वहित के विचार को ऊंचा रख कर देशहित को एक संकुचित भाव मानते हैं। १७ वें नियम में बड़ी सुन्दरता से दोनों को मिला दिया गया है। नियम यह है—

"इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायगा एक परमार्थ, दूसरा व्यवहार, इन दोनों का शोधन तथा सब संसार के हित की उन्नति की जावेगी"

स्वदेश की उपेक्षा नहीं की गई, परन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य संसार का हित करना रखा गया है। स्वदेश का हित प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है। उसके लिए निश्रेयस और अभ्युदय, परमार्थ और व्यवहार दोनों ही आवश्यक हैं। केवल भारतवासी नहीं, सभी देशों के निवासियों के लिये यह नियम रखा गया है। सब अपने देश के हित में यत्नवान् हों—परन्तु देशहित का भी अन्तिम लक्ष्य विश्वहित हो। विश्वहित की भावना के विना स्वदेशहित एक निर्मूल ममता है और स्वदेशहित के विना विश्वहित के साधन का यत्न चांद को पकड़ने के यत्न के समान है। १८ से २५ तक के नियम कार्यकर्त्ताओं को प्रबन्धसम्बन्धी निर्देश करते हैं। २६ वें नियम में एक बहुत छोटी परन्तु महत्त्व-पूर्ण बात हैं। जब तक आर्य समाजस्थ नौकर मिलना सम्भव हो, उससे बाहिर का नौकर न रखा जाय। शेष नियमों में कोई विशेष साम्प्रदायिक बू नहीं है, परन्तु इस नियम में कुछ थोड़ा सा साम्प्रदायिक भाव पाया जाता है। इतने उदार नियमों में यह नियम कुछ अनुदार सा प्रतीत होगा, परन्तु यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय, कि हिन्दू समाज में द्विजेतरों की कैसी दुर्दशा थी, और यह भी देखा जाय कि उनकी दशा के सुधारने का एक यह भी उपाय है, कि चाहे जाति में कोई हो, यदि वह आर्य बनगया यो उसे सेवक बनाने से किसी आर्य पुरुष को संकोच न हो तो समझ में इसमें केवल साम्प्रदायिकता ही कारण नहीं है, सेवक-समाज

का हित भी कारण है । इस्लाम ने प्रारम्भ में गुलामों की दशा को सुधारने का जो उद्योग किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए इस नियम पर विचार किया जाय तो नियम के औचित्य पर विश्वास करना कठिन नहीं होगा । २८ वें नियम में, नियमों के घटाने बढ़ाने के लिए सब श्रेष्ठ सभासदों का सलाह करना आवश्यक बताया गया है ।

यह बम्बई के आर्यसमाज का संगठन है । इस में सन्देह नहीं कि यह कई अंशों में अपूर्ण है । विशेषतया कार्य में आने वाले व्यावहारिक नियमों का बहुत अभाव है । बहु सम्मति से निश्चय हो, या सर्वसमति से; नियम परिवर्तन के लिए कितना बहुमत होना आवश्यक है; चुनाव कितने समय पीछे हो; इत्यादि व्यावहारिक बातें नियमों में से छूट गई हैं । यह भी नहीं कि यह केवल शुद्ध उद्देश्यों या मूल सिद्धान्तों का ही वर्णन हों, कई एक व्यावहारिक नियम भी विद्यमान है, परन्तु वह अपूर्ण और अस्पष्ट हैं । यह ठीक है, तो भी यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि इन नियमों में स्वामी जी के हृदय का आशय अधिक स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है । उद्देश्य का संक्षेप में परन्तु बड़ी स्फुटता से प्रतिपादन है । शेष नियम भी स्वामी जी के आशय को बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त करते हैं ।

एक बात और है । इन नियमों पर ब्राह्मो समाज के संगठन का प्रभाव स्पष्ट है। सिद्धान्तों का नहीं अपितु कार्यसम्बन्धी व्यावहारिक संगठन का । इस में कुछ आश्चर्य भी नहीं है । यह असन्दिग्ध बात है कि स्वामी जी के सिद्धान्तों का निर्माण बिल्कुल स्वतन्त्ररीति से हुआ था । वह किसी के अनुकरण में नहीं था—वह एक ज्ञानी और पर्युत्सुक हृदय का विकास था, परन्तु प्रतीत होता है कि समाज के संगठन का विचार उतना अपेक्षारहित नहीं था । बम्बई के निवासी स्वामी जी के पास गये, और समाज की स्थापना के सम्बन्ध में निवेदन किया । जिन लोगों ने स्वामी जी को दिल्ली में निमन्त्रण दिया था, उनमें बहुत से प्रार्थनासमाजी थे, और प्रार्थनासमाज ब्राह्मो समाज की एक शाखामात्र था । उन्हीं लोगों ने स्वामी जी से समाज बनाने की प्रार्थना की, और संगठन तय्यार किया । यह बातें ध्यान में रखें तो संगठन की कई विशेषतायें समझ में आजाती हैं । साप्ताहिक सत्संग, गृहस्थी प्रचारक आदि संस्थायें, जो नई प्रतीत होती हैं, नई नहीं हैं । इन पर पहले का प्रभाव स्पष्ट है । कई लोगों का विचार होगा कि नियमों पहले समाजों की प्रचलित प्रथाओं के प्रभाव को मान लेने से समाज का या इस के संस्थापक महापुरुष का महत्व कम हो जायगा । यह भ्रममात्र है । संस्थायें और संगठन समय की सन्तानें हैं, वह वर्तमान प्रभावों से बिल्कुल स्वतन्त्र [illegible] हैं । उनका

गौरव इसमें नहीं कि वह बिना जड़ के वृक्ष, बिना नींव के भवन या बिना ऋतु के फूल हैं, बल्कि गौरव इसमें है कि वह समय की आवश्यकता को पूरा करते हैं, जाति की वास्तविक बीमारी का ठीक इलाज करते हैं, और समय का ठीक आलाप सुनाते हैं। यद्यपि आर्यसमाज के व्यावहारिक संगठन पर ब्रह्मो समाज का प्रभाव था, तो भी हम अगले पृष्ठों में देखेंगे कि आर्यसमाज ब्रह्मो समाज की अपेक्षा अधिक समयानुकूल, जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला और उपयोगी था, इस कारण जाति ने उसे अधिक व्यग्रता से देखा परन्तु उत्सुकता और उत्साह से ग्रहण किया।

काठियावाड़ और पूने में, इन लगभग ५ महीनों में खूब प्रचार हुआ। बम्बई तो स्वामी जी के प्रचार से हिल गई। बल्लभ सम्प्रदाय के गुरु, शंकाओं से घबरा कर बम्बई छोड़ने तक को बाधित हो गये। मूर्ति पूजा के बेतरह खण्डन से ब्राह्मणमण्डली विचलित हो गई। प्रजा के तंग करने से मण्डली को एक वार शास्त्रार्थ का आयोजन भी करना पड़ा। पहला शास्त्रार्थ बम्बई के पुस्तकालय में हुआ। दूसरा शास्त्रार्थ स्वामी जी के काठियावाड़ से लौटकर फिर बम्बई आने पर, होकाभाई जीवन जी के मकान पर पं० रामलाल जी शास्त्री के साथ हुआ। दोनों में विवाद का विषय यह था कि 'मूर्ति पूजा वेदों में है या नहीं'? जहां बनारस के पांव उखड़ गये, वहां बम्बई के शास्त्री क्या कर सकते थे? मूर्ति पूजा वेदों से सिद्ध न हो सकी। स्वामी जी जब बम्बई से कुछ दिनों के लिये बड़ोदे गये हुए थे तब पं० कमलनयन शास्त्री ने शास्त्रार्थ का हल्ला किया। स्वामी जी बम्बई लौट आये। काउस जी फ्राम जी हाल में शास्त्रार्थ हुआ। बम्बई में ईसाइयों के साथ भी कुछ झपट हुई। बड़े पादरी विलसन साहब विद्वान पुरुष थे। स्वामी जी ने उन्हें धर्म विचार के लिये आमन्त्रित किया। कोई उत्तर न पाकर स्वामी जी स्वयं पादरी साहिब के पास पहुंचे परन्तु फिर भी उन्हें धर्म विचार के लिये तैयार न कर सके। बड़े आदमियों को कोई न कोई कार्य सदा रहा ही करते हैं। स्वामी जी के साथ धर्म विचार जैसी अप्रिय परीक्षा से, पादरी साहिब को वैसे ही एक आवश्यक कार्य ने छुटकारा दिला दिया।

गुजरात में भ्रमण करते हुए स्वामी जी ने सूरत, भरोच आदि में धर्म प्रचार किया, आर्य पुरुषों में नये जीवन का संचार किया। भरोच से स्वामी जी दिसम्बर मास में अहमदाबाद गये। साबरमती के किनारे माणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में स्वामी जी का निवास स्थान था। अहमदाबाद में भी पण्डित मण्डली से शास्त्रार्थ हुआ। बड़ा उत्तम प्रभाव रहा, और शीघ्र ही यहां आर्यसमाज की स्थापना भी हो गई। ट्रेनिंग कालेज राजकोट के प्रिंसीपल श्री हरगोविन्द दास जी के आमंत्रण पर स्वामी जी राजकोट गये, र[illegible] अहमदाबाद ठहरते हुए आप बलसार और बम्बई पधारे।

इस प्रकार थोड़े ही समय में प्रान्त के बड़े २ स्थानों पर धर्मामृत वर्षा कर आप जनवरी में बम्बई लौट गये। आर्यसमाज की स्थापना इसी अवसर पर हुई। बम्बई से फिर अहमदाबाद होते हुए स्वामी जी बड़ोदे पधारे।

बम्बई में स्वामी जी ने संस्कार विधि और आर्याभिविनय तैयार करा कर छपवा दिये थे। ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य ज़ोर से जारी होचुका था। सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि यह दो बड़े और आर्यसमाज के मूलभूतग्रन्थ तैयार हो चुके थे, और वेद भाष्य के प्रकाशित होने की तय्यारियां हो रही थीं। आर्याभिविनय, वेदान्त ध्वान्त निवारण आदि अनेक छोटी २ पुस्तकायें बीच २ में आवश्यकतानुसार प्रकाशित होती रहती थीं।

बड़ोदे में स्वामी जी राज्य के अतिथि थे। आपका आसन विश्वामित्री नदी के किनारे महादेव जी के मन्दिर में जमा। वहां आपके अनेक व्याख्यान हुए। व्याख्यानों में दीवान आदि ऊंचे राज्याधिकारी उपस्थित होते थे। पण्डित-मण्डली भी व्याख्यानों में आती थी। श्रोता सभी जातियों के होते थे। जब स्वामी जी वेद मन्त्रों का सस्वर उच्चारण करते थे, तब पण्डित लोग कानों में उंगली देकर भागने को तय्यार हो जाते थे। कहते हैं कि बड़ोदे में पण्डितों के साथ एक शास्त्रार्थ का प्रसंग चलने पर, नमूना दिखाने के लिये स्वामी जी ने कुछ समय तक कठिन संस्कृत भी बोली थी, जिसे पंडित लोग न समझ सके। सामान्यतया स्वामीजी का संस्कृत बोलने का ढंग बहुत ही सरल था। वह बड़ी सरल भाषा का प्रयोग किया करते थे। जिन्हें संस्कृत में कुछ भी प्रवेश था, वह उनके आशय को समझ जाते थे। पंडितों के आग्रह पर यहां स्वामी जी ने कुछ समय तक कठिन संस्कृत का भी भाषण किता, जिससे आक्षेप कर्ताओं के मुंह बन्द हो गये। राजदीवान माधवराव की प्रार्थना पर स्वामी जी ने राज धर्म पर भी एक व्याख्यान दिया, जिसमें अंग्रेज़ी न जानने वाले पण्डित के मुख से राजनीति के गम्भीर सिद्धान्तों की व्याख्या सुनकर ऊंचे अधिकारी दंग रह गये। बड़ोदे से स्वामी जी को पं० कमलनयन से शास्त्रार्थ करने के लिये फिर बम्बई जाना पड़ा।

१८७५ ई० के जुलाई मास के आरम्भ में प्रसिद्ध सुधारक श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडे के निमन्त्रण पर स्वामी जी पूने गये। पूना महाराष्ट्र का केन्द्र है, और सनातन धर्म का गढ़ है। पूने के ब्राह्मण राज्यों की स्थापना कर चुके हैं, और राजाओं का शासन कर चुके हैं। उनसे भिड़ना साहस का कार्य था। पूने में स्वामी जी के १५ बड़े प्रभाव शाली व्याख्यान हुए। यह व्याख्यान संग्रह रूप में छप भी चुके हैं। पूना गढ़ में इन व्याख्यानों के प्रहारों ने हलचल मचा दी। रानडे महाशय ... शहर में

स्वामी जी की सवारी निकली । एक पालकी में रखे हुए वेद आगे २ थे, और स्वामी जी को लिये हाथी पीछे २ था । सवारी बड़ी धूमधाम से निकली । इसके जवाब में विरोधियों ने, जिनमें कई महाराष्ट्र के रत्न भी शामिल थे, गर्द्दबानन्द आचार्य की सवारी निकाली । एक आदमी का मुंह काला करके गधे पर बिठा दिया, ताली पीटते और कीच फेंकते हुए लोग साथ जाने लगे । बड़ा हुल्लड़ मचता रहा । स्वामी जी और उनके साथियों पर कींच फेंका गया । रानडे महाशय पर भी बहुत सा कींच पड़ा । विरोधियों ने समझा कि वह इस प्रकार से सत्यवादी के मुंह को सी सकेंगे, परन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह मोम नहीं था, जो हाथ से मुड़ जाता । इस व्यवहार से स्वामी जी का तो क्या अपमान होना था, उल्टा आज तक भी उन्हीं महानुभावों के शुभ्र कीर्तिचन्द्र पर कालिमा का एक धब्बा लगा हुआ है, जो और सब से प्रकार से आदर के योग्य हैं ।

ग्यारहवां परिच्छेद ।

उत्तर दिशा में धर्म की गूंज ।

१ जनवरी १८७७ ई० को दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के भारत की महारानी उदघोषित होने के उपलक्ष में भारी दरबार होने को था। उसकी तय्यारियां धूम धाम से हो रही थीं। दिल्ली में देशभर के राजों महाराजों के आने की आशा लग रही थी। स्वामी दयानन्द जी बम्बई से लौट कर संयुक्त प्रान्त में भ्रमण कर रहे थे, उन्हें दरबार के समाचार मिले। जो व्यक्ति संसार भर को सत्य की बात सुनाने का बीड़ा उठाये हुए हो, उसे इससे अच्छा अवसर कहां हाथ आ सकता था। स्वामी जी को खेंचनेवाले मुख्यतया दो प्रलोभन थे। एक तो उनकी प्रबल इच्छा थी कि वह आर्यावर्त के राजाओं के हृदयों में सच्चे आर्य धर्म के लिए प्रेम पैदा करने में सफल हों। उनकी भावना थी कि जब तक देश के रईस नहीं सुधरते जब तक प्रजा का सुधार नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार रईसों की दशा सुधारी जा सके तो सर्व साधारण की दशा में बिना विशेष परिश्रम के ही परिवर्तन पैदा किया जा सकता है। इस कारण उनकी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार देश भर के नरेशों के कानों तक सत्य का सन्देश पहुंचाया जाय। दरबार की ओर खेंचनेवाला दूसरा प्रलोभन यह था कि स्वामी जी देश में कार्य करनेवाली अनेक शक्तियों को देख रहे थे। एक ओर ब्रह्मोसमाज था, जिसकी बागडोर उस समय बा० केशवचन्द्र सेन के हाथ में थी। दूसरी ओर सर सय्यद अहमद की चलाई हुई लहर थी, जिसका उद्देश्य मुसल्मानों को जगाना था। शक्तियां अनेक थीं, परन्तु सब का उद्देश्य एक ही दिखाई देता था। एक ही सचाई का भिन्न २ रूप से प्रकाश हो रहा था - स्वामी जी की प्रतिभा केवल भेदों को देखनेवाली और काट छांट करने वाली न थी, वह बड़े से बड़े भेद में समानता देखने की भी शक्ति रखती थी। स्वामीजी भेद प्रवृत्ति को ही उत्पन्न नहीं करना चाहते थे, बुराइयों के दूर हो जाने पर बची हुई भलाई के आधार पर सारी मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में पिरो देने का भी संकल्प रखते था। सत्यार्थ प्रकाश का निम्नलिखित उद्धरण स्वामी जी के आशय को प्रकट करेगा।

(जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो ?

(आप्त) तू जाकर इन २ बातों को पूछ सब की एक सम्मति होजायगी।

तब वह उन सहस्रों की मंडली के बीच में खड़ा हो कर बोला कि 'सुनो सब लोगो! सत्य भाषण में धर्म है या मिथ्या में? सब एक स्वर हो कर बोले कि सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म है वा अविद्या ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसग, असत्य व्यवहार छल, कपट, हिंसा पर हानि करने आदि कामों में? सबने एक मत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सब से कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत हो सत्यधर्म की उन्नति और मिथ्यामार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो?''

इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी केवल मतमतान्तरों के भेद को दिखा कर विरोधात्मक संसार की रचना करनेवाले नहीं थे, उनका संकल्प था कि सर्वसम्मत व्यापक सचाइयों के आधार पर संसार भर का एक धर्म स्थापित किया जाय। दिल्ली के दरबार में भारत वर्ष के सब धार्मिक सुधारकों के इकट्ठे होने की आशा थी। स्वामी जी को यह अवसर बहुत उत्तम प्रतीत हुआ। जो लोग स्वामी जी को एक संकुचित सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रगट करना चाहते हैं वह यदि इस उद्धरण और ऋषिजीवन के इस भाग को ध्यान से पढ़ेंगे तो उनका सन्देह दूर हो जायगा।

दिसम्बर मास के अन्त में स्वामी दयानन्द जी दिल्ली पहुंच गये, और शेरमल के अनारबाग़ में डेरा जमाया। मुंशी इन्द्रमणि आदि हितैषी लोग स्वामी जी के साथ ही ठहरे थे। इन दिनों स्वामी जी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पूर्ण कर चुके थे और वेद भाष्य लिखाते थे। प्रचार का कार्य प्रति दिन होता था। राजा महाराजाओं के पंडित स्वामी जी के पास आते रहते थे। स्वामी जी ने अपने विचारों की सूचना प्रायः सब राजाओं के पास भेजदी थी। उन लोगों के हृदय में महात्मा के दर्शनों की इच्छा भी उत्पन्न होती थी, परन्तु ब्राह्मण लोग पीछे से रोकते रहते थे। वह बहकाने और स्वामी जी को नास्तिक बतलाकर दर्शनजन्य पाप के चित्र खेंचने में लगे रहते थे। इन्दौर नरेश ने यत्न किया था कि एक सभा में सब नरेश इकट्ठे हों और स्वामी जी के सिद्धान्तों का श्रवण करें। दिल्ली में राजा लोग सरकारी प्रोग्राम से ही छुट्टी नहीं पा सकते थे, उन्हें धर्मोपदेश सुनने की फुर्सत कहां। कभी लाट साहिब की हाज़री—कभी फ़ौज का निरीक्षण—कभी जलुस—कभी थियेटर—इनसे फुर्सत पानी ही कठिन होती थी। राजाओं का जमाव न हो सका। स्वामी जी का विचार था कि देश के रईसों का कुछ सुधार कर सकें—कम से कम उनके कानों तक धर्म की ध्वनि पहुंचा दें, परन्तु कुछ देश का दौर्भाग्य औ[illegible]ओं का कर्मफल-विचार फलीभूत न हो सका।

दरबार के अवसर पर पहुंचने में स्वामी जी का दूसरा लक्ष्य यह था कि देश के भिन्न २ धार्मिक नेताओं को इकट्ठा करके परामर्श किया जाय और यदि सम्भव हो तो कोई एक ऐसा महानद ढूंड लिया जाय, जिसमें सब सम्प्रदायरूपी नाले मिला दिये जायं। सब सुधारक एक ही प्रकार से, एक ही स्वर से, सुधार का यत्न करें, ताकि जो लोग प्रजा का सुधार कर रहे हैं, वह आपस में ही मतभेद के कारण झगड़ते हुए दृष्टिगोचर न हों। स्वामी जी के निमन्त्रण पर बा० केशवचन्द्रसेन, सर सय्यद अहमद ख़ां, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बा० नवीनचन्द्रराय, मुन्शी इन्द्रमणि और बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि—यह महानुभाव स्वामी जी के स्थान पर एकत्र हुए। बा० केशवचन्द्र उस समय ब्रह्मो-समाज के चमकते सितारे थे। नवविधान अभी विख्यात नहीं हुआ था, परन्तु समाज की बागडोर उन्हीं के हाथों में थी। ब्रह्मोसमाज के दूसरे प्रतिनिधि बा० नवीनचन्द्रराय थे। राय महाशय पंजाब के ब्रह्मोसमाजों के प्राण थे। १९ वीं सदी में इस्लाम ने सर सय्यद की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली नेता उत्पन्न नहीं किया। सर सय्यद का बल तलवार का नहीं था—लेखिनी का था, जिव्हा का था, और बुद्धि का था। भारत के मुसल्मानों को आपने नींद से उठाकर खड़ा कर दिया था। मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी सुधार का यत्न कर रहे थे, और मुन्शी इन्द्रमणि मुसल्मानों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये हुए आक्षेपों का समाधान करके ख्याति पा रहे थे। बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि उस समय बम्बई के प्रसिद्ध आर्य समाजी थे। इस प्रकार यह छोटी सी सभा प्रतिनिधिस्वरूप समझी जा सकती थी। इसमें बंगाल, बम्बई प्रांत, युक्त प्रान्त और पंजाब के और दूसरी तरफ इस्लाम ब्रह्मोसमाज, हिन्दू समाज और आर्यसमाज के प्रतिनिधि विद्यमान थे। सभा में स्वामी जी ने अपना विचार उपस्थित किया। विचार का सार यह था कि देश का अभ्युदय, और मनुष्य का कल्याण तब तक नहीं हो सकता, जब तक देशभर का एक धर्म न हो जाय। वह एक धर्म वैदिक-धर्म है। यदि उस पर कोई आक्षेप या शंका हो तो स्वामी जी ने उसके समाधान के लिये अवसर देने की इच्छा प्रगट की। दुःख है कि इस सभा की पूरी कारखाई कहीं भी प्राप्त नहीं होती। यह सभा 'गुप्त' ही समझी गई होगी, क्योंकि इस समय के समाचार पत्रों में भी इसका कोई विस्तृत वर्णन नहीं पाया जाता। प्रतीत होता है कि सभा का जहाज़ वेद की निर्दोषता पर आकर टकराया। ब्रह्मोसमाजी और मुसल्मान वेद की ईश्वरीयता और निर्दोषता को नहीं मान सके, इस कारण सभा विशेष परिणाम उत्पन्न किये बिना ही समाप्त होगई।

सभा के सन्मुख मुख्य कठिनाई वेद सम्बन्धी थी—यह अनुमान एक और घटना से भी पुष्ट होता है। बा० केशवचन्द्रसेन ने दिल्ली में ही स्वामी जी से यह भी कहा था कि यदि आप वेद के नाम से धर्मप्रचार करने की [illegible] कहा करें कि—

"मैं कहता हूं कि यह धर्म है" तो लोग अधिक सुगमता से विश्वास करलें और आप को अधिक सफलता हो। स्वामीजी ने इसका जो उत्तर दिया होगा, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। एक मुसलमान और फिर कट्टर मुसलमान यह मानले कि वेद ईश्वर की ओर से आये हैं और निर्दोष हैं—यह भी कैसे सम्भव था। यह समझ लेना कठिन नहीं है कि वेद के आधार पर धर्म की एकता करने के यत्न में बा० केशवचन्द्रसेन या सर सय्यद अहमदखां से सहायता पाने के उद्देश्य से जो सभा की गई थी, वह क्यों असफल हुई ?

दरबार की समाप्ति पर स्वामीजी ने दिल्ली से प्रस्थान किया। आप मेरठ होते हुए सहारनपुर गये। वहां स्वामी जी को सूचना मिली कि चांदपुर ज़ि० शाहजहांपुर में एक भारी धार्मिक मेला है, जिसमें ईसाई और मुसलमान विद्वान् भी आयंगे, और निर्णय होगा कि कौन सा धर्म सच्चा है। मेले के संस्थापकों का निमन्त्रण पहुंचते ही स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया।

मेला १८ मार्च सन १८७७ से २० मार्च सन् १८७७ तक होने को था। मेले से ५ दिन पूर्व स्वामी जी चांदपुर पहुंच गये। १८ और १९ मार्च को मुसलमानों और ईसाइयों के प्रतिनिधि बड़े २ मौलवी और पादरी भी आ पहुंचे। इस मेले का नाम "आनन्द स्वरूप" मेला था, और उद्देश्य धर्माधर्म का निर्णय था। यहां के कई रईसों ने ईसाई पादरियों के आक्रमणों से तंग आकर इस मेले का संगठन किया था, ताकि सत्य और असत्य का निर्णय एक ही वार हो जाय। धर्म चर्चा आरम्भ होने से पहले कई लोग श्री स्वामी जी के पास आकर निवेदन करने लगे कि उत्तम हो यदि मुसलमान और हिन्दू आपस में मिलकर ईसाइयों को नीचा दिखायें। स्वामी जी धर्म और सत्य में राजनीति और सुलहनामे की चालों को नहीं जानते थे। उनका उत्तर स्पष्ट था। उन्होंने कहा "उचित मालूम होता है कि कोई किसी का पक्षपात न करे, बल्कि मेरी समझ में तो यह अच्छी बात है कि हम और मौलवी साहिब और पादरी साहिब प्रीति से मिलकर सत्य का निर्णय करें। किसी से विरोध करना उचित नहीं है।" इस मेले में जहां अन्य सम्प्रदाय वालों का उद्योग था कि किसी प्रकार विरोधी को नीचा दिखाया जाय, वहां स्वामी जी के हृदय में यह इच्छा प्रज्वलित हो रही थी कि सब लोग सत्य धर्म को समझ जांय।

दो दिन तक शास्त्रचर्चा होती रही। मुसलमानों की ओर से देवबन्द के मदरसे के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम और देहली के मौलवी सय्यद अब्दुल मंसूर; ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट, पादरी नवल, पादरी पार्कर; आर्य पुरुषों की ओर से स्वा० दयानन्द और मुन्शी इन्द्रमणि थे। कबीरपन्थी लोग तो इस मेले के संचालक ही थे। यह मेला एक [illegible] ढंग का था। विचार भी उत्तम हुआ। पहले दिखाई देता था

कि चर्चा के केन्द्रभूत ईसारी पादरी होंगे। समझा जाता था कि बेचारा हिन्दू-धर्म क्या खड़ा हो सकता है ? परन्तु स्वामी जी की एक चौमोहरी चलते ही जनता की आंखें उधर फिर गईं, सबने समझ लिया कि इस अखाड़े का प्रधान मल्ली यह सन्यासी ही होगा। सर्वसाधारण पर स्वामी जी के प्रमाण और युक्तियों से सुभूषित भाषणों का खूब ही असर हुआ। पादरियों और मौलवियों को उस मेले में चेतावनी मिल गई कि आर्यधर्म एक जीवित पदार्थ है, मुर्दा नहीं।

इस मेले पर धर्म की तुरही सुनाकर धर्म-युद्ध के महारथी ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया। पहला पड़ाव लुध्याने में हुआ, ३१ मार्च से १८ अप्रैल तक लुध्याने में धर्मोपदेश करके स्वामी जी १९ अप्रैल को लाहौर पहुंचे और दीवान रामचंद्र के बाग़ में डेरा जमाया। सायंकाल के समय बावली साहिब में वैदिकधर्म पर व्याख्यान हुआ। उस व्याख्यान में पौराणिक लोगों के लिये बहुत कुछ गर्म मसाला था—यह लोग बहुत असन्तुष्ट हुए, और दीवान रत्नचन्द्र पर दबाव डाला गया कि वह स्वामी जी को अपने बाग़ से उठा दे। स्वामी जी को एक हिन्दू कुलोत्पन्न. व्यक्ति का स्थान छोड़कर डा० रहीम ख़ाँ की कोठी पर आसन जमाना पड़ा। इसके पीछे खूब प्रचार हुआ। पंजाब का हृदय नर्म है, उस पर प्रभाव डालना सहल है। गुरु नानक को पंजाब के सर कर लेने में अधिक कष्ट नहीं था। पंजाबियों के हृदय प्राभाव को शीघ्र लेलेते हैं—और फिर उसके अनुसार क्रिया और प्रतिक्रिया के आरम्भ होने में भी देर नहीं लगती। पंजाबी के सोचने और करने में थोड़ा ही अन्तर है। अन्य प्रान्तों के लोग समझ ही नहीं सकते कि एक पंजाबी ने कब सोचा, कब कहा और कब किया। जितनी देर में उनका सोचना समाप्त होता है, उतने में पंजाबी कर डालता है। एक सुधारक को इससे अच्छा मैदान कहां मिल सकता है। स्वामी जी पंजाब में बहुत पीछे गये, परन्तु उन्हें वहां आशातीत सफलता हुई, उस सफलता में पहला कारण पंजाबियों के हृदयों की ग्रहणशीलता थी। दूसरा कारण यह भी था कि भारत के सीमा प्रांत पर होने के कारण अधिक कट्टरपन—या संकुचितता—उनमें पहले से नहीं थी। स्वामी जी की दिव्यवाणी ने पंजाबियों के नर्म हृदयों पर बिजली का सा असर किया। अन्य प्रान्तों में जो कार्य महीने न कर सकें, पंजाब में वह सप्ताहों ने कर दिया।

जिस समय स्वामी जी पंजाब में आये, ईसाई पादरी पकी खेती को दोनो हाथों काट रहे थे। पंजाब का शिक्षित समाज ईसाइयों के पंजे में पड़ रहा था। थोड़ा २ काम ब्रह्मोसमाज भी कर रहा था। कुछेक पठित लोग इकट्ठे होकर ब्रह्मोप्रार्थना भी कर लेते थे। स्वामी जी को पंजाब में विशेष युद्ध ईसाइयों से ही करना पड़ा। जहां कहीं भी वह गये, कई हिन्दू युवकों को ईसाई होने से बचाया। आर्य[illegible] ईसाइयों का

विद्वेषभाव, जिसने पीछे से बड़ा भयानक रूप पकड़ा, और गम्भीर परिणाम उत्पन्न किये, इसी समय से आरम्भ होता है। ईसाई पादरी आर्यसमाज की बढ़ती को न सह सके, उन्होंने समझा कि आर्यसमाज उनके मुंह में से ग्रास छीन कर लेगया। पंजाब में स्वामी दयानन्द जी के आने और सफलता पाने के विषय में सब से उत्तम वही वाक्य प्रयुक्त किये जा सकते हैं कि 'वह आये, उन्होंने देखा, और जीत लिया'।

स्वामी जी के हृदय में सत्य का जो स्थान था, वह दूसरी किसी वस्तु का नहीं था। जिसे वह सत्य समझते थे, उस पर सब कुछ न्योछावर करने को तय्यार थे। आप पहले दीवान रत्नचन्द्र के बंगले में ठहराये गये—स्वामी जी के व्याख्यानों से दीवान साहिब असन्तुष्ट होगये। स्वामी जी ने उनका स्थान छोड़ दिया, परन्तु बात नहीं छोड़ी। आपको लाहौर में निमन्त्रित करने वालों में बहुत से ब्राह्मोसमाजी सज्जन थे। स्वामी जी के वेद सम्बन्धी व्याख्यानों से ब्राह्मोसमाजी असन्तुष्ट होगये। पं० शिव नारायण अग्निहोत्री, जो पीछे से सत्यानन्द अग्निहोत्री बनकर, और सन्यस्त दशा में ही नया विवाह करके, ईश्वर के स्थानापन्न 'देव गुरु भगवान्' होने का दावा करनेवाला बना, वह उस समय ब्राह्मोसमाज का प्रचारक था। वह वेदों के विषय में निर्मूल आक्षेप करने में अगुआ था। एक दिन कई सज्जनों की उपस्थिति में वह स्वामी जी से कहने लगा कि 'सामवेद ईश्वरीय नहीं हो सकता—उसमें तो उल्लू की कहानी लिखी है' स्वामी जी ने सामवेद की पुस्तक सामने रखकर कहा कि 'इसमें से उल्लू की कहानी निकाल कर दिखाओ' ब्राह्मोसमाजी वेदों को निर्भ्रान्त नहीं मानते थे, परन्तु उनकी पाश्चात्य विद्वानों की की हुई टीकाओं को अवश्य निर्भ्रान्त मानते थे। अग्निहोत्री जी ने निर्भ्रान्त टीका के आधार पर ही वेदों को भ्रान्त बतलाया था, मूल वेद में से वह कुछ भी न निकाल सके—केवल पन्ने पलटने लगे। स्वामी जी ने उन्हें शर्मिन्दा किया। ऐसी बातों से ब्राह्मो समाजी असन्तुष्ट होगये, और स्वामी जी के डेरे को आर्थिक सहायता बन्द करदी। तब पं० मनफूलजी की ओर से टहल सेवा होने लगी। पं० मनफूल जी के विचार तो उत्तम थे परन्तु स्वामी जी के मूर्तिपूजा-खण्डन से वह भी कुछ घबरा गये। उधर काश्मीर नरेश की ओर से स्वामी जी को फिर संदेसा आया। दिल्ली में भी उन्हें संदेसा मिला था। नरेश ने स्वामी जी को काश्मीर में निमन्त्रण दिया था। स्वामी जी ने उत्तर में कहा भेजा था कि "काश्मीर के राज्य में राजा की ओर से बनवाये हुए बहुत से मन्दिर हैं। मैं मूर्तिपूजा का खंडन करूंगा, इससे राजा को दुःख होगा।" लाहौर में पं० मनफूल जी ने फिर स्वामी जी के सन्मुख वही विषय रखा। निवेदन किया कि यदि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़दें तो महाराज काश्मीर भी आप को बुलालें। उस समय स्वामी जी ने जो उत्तर दिया, वह उनके महत्व का सूचक है। उससे ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द साधारण मिट्टी के नहीं बने थे, वह उसी

फौलाद से बने थे, जिससे बुद्ध ईसा मुहम्मद या लूथर का निर्माण हुआ था। आपने कहा—'मैं लोगों को या महाराज काश्मीर को प्रसन्न करूं या ईश्वरीय आज्ञा का पालन करूं ?'' इस उत्तर से पं० मनफूल जी का संकुचित हृदय और भी खिन्न होगया—स्वामी जी के हृदय की गहराई को पहचानने के स्थान में उन्होंने इस उत्तर में अपना अधिक्षेप समझा।

शीघ्र ही शहर के शिक्षित समाज में हलचल पैदा होगई। पंजाबियों के कोमल हृदयों पर ऋषि की दी हुई चोटों का असर होने लगा। आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय होगया। यहां बम्बई में प्रचारित किए हुए नियमों का संशोधन किया गया, और नियम तथा उपनियम जुदा कर दिये गये। आर्यसमाज के सभासद् बनने के लिये केवल १० नियमों को मानना ही पर्याप्त समझा गया। बम्बई के नियम बहुत विस्तृत थे, लाहौर के नियम बहुत संक्षिप्त बनाये गये।

१० नियमों का निर्धारण आर्यसमाज की स्थापना और वृद्धि का एक खास पड़ाव है। यह नहीं समझना चाहिये कि इस नए नियम—संस्कार में कोई विशेष कारण या उद्देश्य नहीं था। इतना समझलेने से पूरा महत्त्व सूचित नहीं होता कि किन्हीं एक या एक से अधिक व्यक्तियों ने अपनी सम्मतियों का प्रभाव डालकर यह परिवर्तन करवाया। नियमों का संस्करण संगठन की एक विशेष मंज़िल है - वह एक विशेष घटना है, जिस के कारणों और फलों पर विचार करना चाहिये। ऋषि दयानन्द के जीवन में यह नियम-संस्कार एक विशेष मानसिक फैलाव को सूचित करते हैं—और इस ग्रन्थ के लेखक का विचार है कि इस फैलाव को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द को केवल सुधारक सन्यासी न मानकर आर्य जाति का भविष्य दर्शी, परमात्मा के सार्वभौम संदेश का सुनाने वाला 'ऋषि' माना जाय और स्वामी जी के लिये इसी शब्द का प्रयोग किया जाय

-:०:-

बारहवां परिच्छेद

नियमों की दृढ़ नींव

आर्यसमाज के नियमों का दूसरा संस्करण करने का क्या निमित्त था? यह एक आवश्यक प्रश्न है। ऋषि दयानन्द ने बम्बई के नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता समझी, यह बात बिना निमित्त के नहीं हो सकती। परिवर्तन की आवश्यकता का प्रथम प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि नियमों को कुछ अधिक स्पष्ट कर दिया जाय। बम्बई के नियमों में न जाने क्या क्या मिला हुआ है? आर्यसमाज का उद्देश्य, सभासदों की योग्यता, समाज का संगठन, अधिवेशनों की कार्यवाही, समाचार-पत्रों का निकालना आदि गौण और मुख्य, व्यापक और स्थानीय सभी प्रकार की बातें मिलाकर धर दी गई थीं। आवश्यक था कि मुख्य को गौण से तथा व्यापक को स्थानीय से जुदा कर दिया जाय। लाहौर के दस नियमों में केवल उन्हीं बातों के समावेश का यत्न किया गया है, जो मुख्य और व्यापक हैं। बम्बई के नियमों का १६ वां नियम कहता है कि 'इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सर्वत्र सदुपदेश करने के लिए भेजे जावेंगे' यह एक गौण नियम है। यह प्रत्येक समाज की शक्ति पर अवलम्बित है कि वह प्रचार के लिए उपदेशकों को बाहिर भेज सकता है या नहीं? हरेक समाज के लिए यह नियम नहीं बन सकता कि वह उपदेशक रखकर प्रचार करावे। इस प्रकार के नियम लाहौर में स्वीकृत नियमों में से निकाल दिए गये हैं।

लाहौर में स्वीकृत नियम अधिक व्यापक हैं। उन में विचारों की अधिक उदारता पाई जाती है। उनके निर्माता का दृष्टिक्षेत्र विस्तृत हो गया है। बम्बईवाले नियम बम्बई के उस समय के सामान्य विचारों के प्रतिबिम्ब थे, लाहौर वाले नियम हृदय तथा प्रतिभा के विकास को सूचित करते हैं। बम्बई वाले नियमों में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं। लाहौरवाले नियम वस्तुतः ईश्वर-विश्वास को ही सब विश्वासों का आधार मान कर चले हैं। उनमें आर्यसमाज का भवन ईश्वर विश्वास की मज़बूत नींव पर रखा गया है। लाहौर के संस्कृत नियम सिद्ध करते हैं कि ऋषि दयानन्द अन्य सब विश्वासों की अपेक्षा ईश्वर विश्वास को अधिक आवश्यक समझते थे। बहुत सी बुराइयों की जड़ वह ईश्वर सम्बन्धी उल्टे विचारों को ही मानते थे। उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष उद्देश्य यह बना रखा था, कि लोगों के ईश्वरसम्बन्धी

विचारों का सुधार किया जाय। बम्बई में बने नियमों में यह बात अच्छी तरह नहीं सूचित होती थी। लाहौर में वह त्रुटि पूरी कर दी गई। उद्देश्य पर ध्यान दें तो भी व्यापकता की वृद्धि पाई जाती है। छठा नियम यह है 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना'। उद्देश्यों में से स्थानीयता निकल गई है—ऋषि का दृष्टिक्षेत्र विस्तृत हो गया है। वह आर्य जातिका सुधार इस लिए नहीं करना चाहता, कि वह केवल आर्यजाति की भलाई चाहता है, वह आर्यजाति को सुधार कर संसार के उपकार का साधन बनाना चाहता है।

तीसरा भेद, जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है, यह है कि ईश्वरीय ज्ञान की व्याख्या अधिक विस्तृत और उदार हो गई है। पहला नियम बताता है कि 'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ सत्य विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है' कितनी उदार और संकोचहीन व्याख्या है। ईश्वर के ज्ञान की सीमायें नहीं बांधी गईं। सर्वज्ञ और असीम भगवान् के ज्ञान के चारों ओर रेखा खेंची भी नहीं जा सकती। 'सब सत्य विद्या का आदि मूल परमेश्वर है' विद्यारूपी वृक्ष का तना है, शाखायें हैं, हैं, पत्ते फूल और फल सब हैं, परमात्मा उनका आदि मूल है। आदि मूल तभी हो सकता है, जब वृक्ष की सम्भावना मान ली जाय। इस प्रकार अपरिमित ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का मूल परमात्मा को माना गया है। परमात्मा का ज्ञान भी अपरिमित है। अपरिमित का मूल अपरिमित ही हो सकता है। जो मतवादी ईश्वर के असीम ज्ञान भण्डार को एक दो या अधिक कमरों में बन्द समझना चाहते हैं, उन्हें स्वामी दयानन्द के उदार विचार पर ध्यान देना चाहिए। पहला नियम अनुदारता की जड़ पर कुठाराघात करता है। वह पन्थाई-पन का कट्टर शत्रु है। वह उन लोगों के दावे को छिन्नभिन्न कर देता है, जो ईश्वरीय ज्ञान के ठेकेदार बनना चाहते है।

कई महानुभावों का यह दावा है कि स्वामी जी को उन्होंने नियमपरिवर्तन में प्रेरित किया, और जो भेद दिखाई देता है वह उन्हीं की उदारता का फल है। प्रेरणा किसी की ओर से हो, इस में सन्देह नहीं कि जो भी परिवर्तन किया गया वह स्वामी जी की अनुमति से किया गया। यदि उन नियमों में अधिक उदारता है तो ऋषि दयानन्द के विचारों की उदारता ही उस में कारण है। यदि किसी को ऊपर दिये नियमों से उदारता का भलीभांति पता न लगे तो वह निम्न लिखित नियमों पर भी दृष्टिपात करे। निश्चय है कि उसका भ्रम दूर हो जायगा—

(५४०) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

क्या एक धर्म का संस्थापक अपने अनुयायियों के लिए इस से अधिक

उदार नियमों का भी निर्माण कर सकता है ?

(१०) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

लाहौर वाले दसों नियमों में एक असीम सत्य प्रेम, एक अनन्त उदार-हृदयता और एक व्यापक उद्देश्य की सूचना मिलती है। जिस आत्मा में इन तीनों गुणों का निवास हो यदि उसे 'ऋषि की आत्मा' न कहें तो और किसे कहें ?

लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। समाज के अधिवेशनों के लिए एक मकान किराये पर ले लिया गया। ऋषि दयानन्द उस में प्रतिसप्ताह धर्मोपदेश किया करते थे। समाज के प्रधान ला० मूलराज जी एम. ए. और मन्त्री ला० साईंदास जी नियत हुए। कई भक्तों ने ऋषि से प्रार्थना की कि आप 'आर्यसमाज के गुरु या आचार्य पद का ग्रहण करें' ऋषि ने उत्तर दिया कि 'इस प्रस्ताव से गुरुपन की बू आती है। मेरा उद्देश्य तो गुरुपन की जड़ काटना है, जिस से मुझे घृणा है' तब दूसरे भक्त ने प्रस्ताव किया कि यदि स्वामी जी आचार्य या गुरु नहीं बनना चाहते तो कम से कम 'आर्यसमाज के परम सहायक' की पदवी को तो अवश्य ही स्वीकार करें। ऋषि का उत्तर प्रश्न के रूप में था। आपने पूछा कि 'यदि मुझे आर्यसमाज का परम सहायक कहोगे तो परमात्मा को क्या कहोगे ?' फिर यह विचार कर कि आर्यपुरुष सर्वथा इन्कार से उदास न हों, समाज के सहायकों में नाम लिखाना अंगीकार कर लिया। यही ऋषि दयानन्द का ऋषिपन था। जिन लोगों को मौका मिला, वह पैग़म्बर और रसूल बनने से नहीं कतराये; जिन्हें इतनी बड़ी हिम्मत न हुई, वह आचार्य, या नबी बन गये। ऋषि का ही हृदय था कि आचार्य गुरु या परम सहायक तक के पदों को न स्वीकार किया। कारण यही था कि ऋषि दयानन्द अपने को परमात्मा के ज्ञान का प्रचारक, सत्य का साधन मात्र समझते थे, इस से अधिक कुछ नहीं। वहां न बड़प्पन की चाह थी, और न गुरुपन की बू। वहां तो एक ईश्वर पर विश्वास था और सत्य पर अटल श्रद्धा थी। यही कारण था कि उस वीर की एक ही गर्ज से सदियों के खड़े किए हुए गुरुडम के गढ़ हिल जाते थे, झुक जाते थे, और गिर कर चकनाचूर हो जाते थे। यदि ऋषि में अपनी बड़ाई या लौकिक बढ़ती की कुछ भी कामना होती तो उन्हें ऐसी अद्भुत सफलता कभी प्राप्त न होती।

लाहौर में नियम और उपनियम जुदा कर दिए गये थे। उपनियम अन्तरंगसभा ने बनाए थे। जिस समय अन्तरंग सभा में उपनियमों पर विचार हो रहा था, स्वामी जी अकस्मात् वहां पहुंच गये। सभासदों ने प्रस्तुत विषय पर स्वामी जी की सम्मति मांगी। ऋषि ने कहा कि 'मैं आप की अन्तरंगसभा का सभासद नहीं हूं, इस लिए

मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं है।' सर्वसम्मति ने स्वामी जी को उसी समय अन्तरंग सभा का प्रतिष्ठित सभासद् बना दिया। उपनियम तय्यार होजाने पर स्थानीय समाज का संगठन पूरा होगया। समाज मन्दिर में नियमपूर्वक अधिवेशन होने लगे। इस प्रकार लाहौर के कार्य से निश्चिन्त होकर ऋषि ने प्रान्त का भ्रमण आरम्भ किया। आप ने अमृतसर, गुरुदासपुर, जालन्धर, फीरोजपुर छावनी, रावलपिण्डी, गुजरात, वज़ीराबाद, गुजरांवाला, तथा मुल्तान छावनी आदि में पधार कर सदुपदेश दिये। प्रायः आप के पहुंचते ही आर्यसमाज की स्थापना होजाती थी। आर्यसमाज की स्थापना से पौराणिक गढ़ में और पादरी दल में भी हलचल पैदा होजाया करती थी। सभी स्थानों पर इधर पौराणिकों से और उधर पादरियों से संग्राम करना पड़ता था। पंजाब का पौराणिक दल पंडितों से बिल्कुल शून्य था। प्रांतभर में कोई भी अच्छा पंडित नहीं था। वेद का ज्ञान तो कहां, अर्वाचीन संस्कृत का भी कोई अच्छा ज्ञाता मिलना कठिन था। यही कारण था कि पंजाब में पौराणिक दल की ओर से अधिक असभ्यता का व्यवहार होता था। वह लोग पांडित्य का स्थान भी गाली गलौच और ईंट पत्थर से पूरा करना चाहते थे। अमृतसर वज़ीराबाद आदि शहरों में व्याख्यानों या शास्त्रार्थों के स्थान में गाली और पुस्तकों के प्रमाणों के स्थान में कंकर के प्रयोग को काफ़ी समझा गया। पादरियों के साथ शास्त्रार्थ कम हुए परन्तु उन के चुंगल में फंसे हुए बहुत से अबोध बटेरे ऋषि दयानन्द ने बचाये।

पंजाब के दौरे की कुछेक घटनायें ऋषि दयानन्द के चरित्र का अच्छा चित्रण करती हैं। जब वह अमृतसर में उपदेश कर रहे थे, उन दिनों पादरी क्लार्क उन के पास आये। पादरी साहिब ने स्वामी जी को एक ही मेज़ पर इकट्ठे भोजन करने के लिये निमंत्रित किया। स्वामी जी ने पूछा कि इकट्ठे भोजन करने से क्या लाभ होगा? पादरी महाशय बोले कि इकट्ठे खाने से परस्पर प्रीति बढ़ जायगी' इस पर स्वामी जी ने कहा कि—

'शीआ और सुन्नी एक ही बर्तन में खाते हैं। रूसी और अंग्रेज़ इसी तरह आप और रोमन कैथोलिक ईसाई एक ही मेज़ पर जीम लेते हैं परन्तु यह सब जानते हैं कि इन में परस्पर कितना वैर विरोध है। एक दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है।'

सर्दार दयालसिंह मजीठिया अमृतसर के प्रसिद्ध रईस थे। वह ब्राह्मो थे। वह प्रायः वेदों पर शंकायें किया करते थे। बातचीत करने में वह प्रायः आपे से बाहिर हो जाते, और किसी नियम का पालन नहीं करते थे। एक वार बातचीत में वह बहुत तेज़ होगये। स्वामी जी ने उन्हें बार २ समझाया कि आप निश्चित समय तक बोला कीजिए और प्रतिवादी को भी बोलने का मौका दीजिये, तब भी सर्दार साहिब शान्त न हुए।

तब स्वामी जी ने कहा कि 'यदि आप निर्णय ही कराना चाहते हैं तो केशवचन्द्र जी को बुलाकर बातचीत करा लीजिये'।

गुरुदासपुर में ऋषि दयानन्द के व्याख्यान सुनने इन्जिनियर मि० काक भी आया करते थे। एक दिन व्याख्यान देते हुए आपने कहा कि—

"अंग्रेज़ लोगों को इस देश में आये बहुत चिर होगया है परन्तु इन लोगों ने अपने उच्चारण को अब तक नहीं सुधारा। तकार के स्थान में टकार ही बोलते हैं" काक महाशय रुष्ट होगये और यह कहते हुए चले गये कि 'यदि तुम पश्चिम में पेशावर की ओर चले जाओ तो तुम्हें मज़ा आ जाय' काक महाशय का अभिप्राय शायद यह था कि स्वतन्त्रता से बोलना केवल अंग्रेज़ राज्य में ही सम्भव है। ऐसा तर्क प्रायः किया जाता है, परन्तु तर्क करने वाले लोग भूल जाते हैं कि अंग्रेज़ी राज्य से पूर्व भी भारतवर्ष में स्वाधीन क्रिया के लिये बहुत अधिक रास्ते खुले थे। पहले तो अंग्रेज़ी राज्य में वाणी की स्वाधीनता बहुत परिमित है, और फिर कौन कह सकता है कि वाणी की थोड़ी सी स्वाधीनता शिक्षा, हथियार और राजकीय स्वाधीनता से बहुत श्रेष्ठ है।

जालन्धर में ऋषि दयानन्द सर्दार विक्रमासिंह के यहां ठहरे हुए थे। सर्दार जी ने स्वामी जी से ब्रह्मचर्य के बल की बाबत पूछा। स्वामी जी ने बतलाया कि ब्रह्मचर्य से अतुल बल की प्राप्ति हो सकती है। सर्दार साहिब को विश्वास न हुआ, और सबूत मांगने लगे। स्वामी जी उस समय चुप रहे। सांझ के समय सर्दार साहिब अपनी गाड़ी में बैठकर बाहिर चले। गाड़ी में बड़ी बढ़िया जोड़ी जुती हुई थी। कोचवान ने लगाम सभाली और चाबुक हिलाया जो जोड़ी इशारा पाते ही हवा से बातें करने लगती, वह केवल अगले पांव उठाकर रह जाती थीं। कोचवान झुंझला गया, सर्दार साहिब आश्चर्य से इधर उधर देखने लगे। पीछे दृष्टि पड़ी तो देखा कि स्वामी जी गाड़ी को पकड़ कर मुस्करा रहे हैं। सर्दार साहिब को ब्रह्मचर्य के बल का एक नमूना मिल गया और स्वामी जी ने हंसकर गाड़ी को छोड़ दिया। *

पंजाब में भ्रमण के समय ऋषि दयानन्द वेदभाष्य लिखाया करते थे, इस कारण उनके साथ दो तीन पण्डित रहते थे। पत्र व्यवहार के लिए एक लेखक रहता था। आप प्रायः आर्योद्देश्य रत्नमाला में क्रम से दिए हुए लक्षणों में से एक २ को लेकर उसकी व्याख्या किया करते थे। सब व्याख्यान शास्त्रीय होते थे। शास्त्रीय विषय के प्रसंग से समय के दोषों का भी खण्डन करते जाते थे। धार्मिक, सामाजिक या राजनी-

---

* यह घटना जालन्धर की है। कई लेखकों ने इसे रावलपिंडी की घटना बतलाया है। यह भूल है।

तिक-सभी प्रकार के दोषों की मीमांसा हो जाती थी। सभी प्रकार की बुराइयों पर सुदर्शन चक्र घूम जाता था। किसी भी जीवित शक्ति का लिहाज़ नहीं किया जाता था। ऋषि की दृष्टि में दो ही वस्तुयें थीं—एक सत्य, दूसरी असत्य। सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन-यह उनका धर्म था। वहां न प्रजा का लिहाज़ था-न राजा का भय था संसार की हर प्रकार की भलाई करना उनका लक्ष्य था।

अपने निवास स्थान पर स्वामी जी साधारण वेष में रहते थे, परन्तु व्याख्यान के समय सिर पर रेशमी पीताम्बर, नीचे पीली रेशमी धोती, और ऊपर ऊनी चोगा पहिनते थे। शरीर सुडौल और लम्बा था। चेहरा पूर्ण चन्द्र के समान भरा हुआ और तेजस्वी था। आंखों से तेज बरसता था। यह प्रभावयुक्त मूर्ति थी, जिसने थोड़े ही दिनों में पञ्जाब भर में धार्मिक हलचल पैदा करदी, और भ्रमात्मक विचारों का महल हिला दिया।

तेरहवां परिच्छेद

आर्यसमाज का विस्तार

बम्बई, युक्तप्रान्त और पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। आर्य-समाज के सभासद् हज़ारों की संख्या तक पहुंच चुके थे। जितने सभासद् थे, ऋषि दयानन्द के भक्त और अनुयायी उनसे बहुत अधिक थे। बहुत से लोग समझते थे कि "यह सुधारक कहता तो ठीक है, परन्तु यह सन्यासी है, निर्भय है, निशंक है, हम इतना त्याग नहीं कर सकते, इस कारण सच्ची बात भी मुंह पर नहीं ला सकते।" ऐसे लोग आर्यसमाजी न हों, परन्तु वह ऋषि के भक्त थे—और उसे आर्यजाति का रक्षक समझते थे।

इस समय उत्तरीय भारत में स्वामी जी की अपूर्व स्थिति थी। वह आर्य जाति (हिन्दू जाति) के नेता सुधारक और रक्षक माने जाते थे। आर्यजाति का प्राण गो जाति है। इस समय गोरक्षा के लिए ऋषि दयानन्द से बढ़ कर ऊंची आवाज़ उठाने वाला कोई नहीं था। ऋषि ने गोकरुणानिधि लिखकर आर्यजाति की आंखें खोलने का यत्न किया था। वह जिस किसी भी सरकारी अफसर से मिले उसके सन्मुख भारत में गोहत्या बन्द कराने पर ज़ोर दिया। इतना ही नहीं। ऋषि के सिंहनाद से पहले ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी हिन्दू धर्म पर गहरी चोटें पहुंचा रहे थे। बेचारे हिन्दू पंडित मूर्तियों और पुराणों के बोझ से दबे हुए होने के कारण अपनी पीठ भी सीधी न कर सकते थे, शत्रुओं के प्रहारों का क्या उत्तर देते? पादरी और मौलवी हिन्दू क्षेत्र में से खूब फ़सल काट रहे थे। ऋषि दयानन्द ने जहां एक ओर आर्य जाति की पीठ पर से पत्थर और पोथी का बोझ उठा कर उसकी कमर सीधी करदी, वहां दूसरी ओर पादरियों और मौलवियों के तीरों के रोकने के लिये तर्क की ढाल खड़ी करदी। न केवल इतना ही। ऋषि दयानन्द प्रतिभाशाली योद्धा था। वह जानता था कि जो आदमी केवल गढ़ की ओट से दुश्मन के वार रोकता है, वह कभी दुश्मन को हरा नहीं सकता। दुश्मन की हिम्मत तोड़ने के लिये उल्टा आक्रमण भी चाहिये। पादरी और मौलवी पुराणों की कथाओं के हवाले दे २ कर आर्य जाति को निरुत्तर कर रहे थे। पुराणों का त्याग कर के मूर्तिपूजा को वेद विरुद्ध बतला कर ऋषि ने वह छिद्र बन्द कर दिये, जहां से होकर दुश्मन के गोले आर्यपुरी में आरहे थे। इस प्रकार घर की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करके उस चतुर सेनानी ने अपनी समालोचनारूपी सेना का

मुंह बाहिर को मोड़ा, और खुले मैदान में प्रत्याक्रमण कर दिये। ऋषि ने इंजील और कुरान हाथ में लिये, और ईसाइयों और मुसलमानों को बताया कि तुम दूसरों की आंखों में तिनका ढूंढने जारहे हो, पहले अपनी आंख का शहतीर तो संभाल लो। ईसाइयों और मुसलमानों को कोमल प्रकृति हिन्दू से कभी प्रत्याक्रमण की आशा न थी। वह हरिण से यह आशंका न करते थे कि वह सींग मारेगा। पादरी और मौलवी इस आकस्मिक प्रत्याक्रमण से झुंझला उठे। उधर आर्यजाति का हृदय फूल उठा। आर्यधर्म और आर्यसभ्यता की रक्षा भी हो सकती है, आर्यवीरों के इतिहास का भी कोई रखवाला है, आर्यजाति भी अपने मान को बचा सकती है—इन विचारों से, आर्यपुरुषों का सांस प्रसन्नताभरी आशा से भरपूर होकर ज़ोर से चलने लगा। जो आर्यजन ऋषि के कार्य के महत्त्व को समझ सकते थे, प्रसन्न थे कि परमात्मा ने आर्यजाति आर्यधर्म और आर्यसभ्यता का रक्षक भेज दिया है। जो लोग ऋषि दयानन्द के खण्डनों को देख कर घबराते हैं, वह कभी उस स्थिति पर विचार नहीं करते, जिस में ऋषि को काम करना पड़ा। स्थिति यह थी। आर्यधर्म पर ईसाइयों और मुसलमानों के भयंकर आक्रमण होरहे थे। उन्हें सफलता भी प्राप्त हो रही थी। सफलता के दो कारण थे। एक तो आर्यजाति में आई हुई बुराइयों के कारण घर की निर्बलता—और दूसरा विरोधियों का निष्ठुरता से आक्रमण। ऋषि ने स्थिति को पहिचान कर ठीक उपाय का प्रयोग किया। घर में सुधार—और आक्रमण करने वालों पर प्रत्याक्रमण—यह दो ही उपाय थे। वह स्थिति ख़तरे से भरी हुई थी, इस कारण धर्म के सेनापति को युद्ध के नियमों के अनुसार कठोर साधनों का प्रयोग करना पड़ा। इस में अनुचित क्या था?

ऋषि दयानन्द उत्तरीय भारत में आर्यजाति के मान्य नेता थे। वह आर्यसमाजों के संस्थापक गुरु और आचार्य थे। राजा और प्रजा की दृष्टि में वह भारत के अगुवाओं में से एक थे। यह स्थिति थी, जब वह पंजाब का दौरा लगा कर १८७७ ई० के जुलाई मास में युक्त प्रांत में वापिस गये। लगभग दो वर्ष तक आप बराबर युक्त प्रांत में ही भ्रमण करते रहे। इस दौरे में प्रचार हुआ, नये आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और मौलवियों तथा पादरियों से शास्त्रार्थ हुए। २६ जुलाई १८७८ ई० को ऋषि दयानन्द रुड़की पहुंचे। वहां आप के व्याख्यानों में इंजिनियरिंग कालेज के विद्यार्थी और प्रोफेसर लोग आया करते थे। उन लोगों के प्रश्न प्रायः विज्ञान के विषय पर होते थे। स्वामी जी ने एक दिन इसी विषय पर बातचीत की कि प्राचीन भारत में विज्ञान था या नहीं? आपने वेदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण देकर बताया कि प्रायः सभी मुख्य २ वैज्ञानिक सिद्धान्त, जिन पर नये विज्ञान का गर्व है, हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। रुड़की से अलीगढ़ होते हुए स्वामी जी अगस्त मास के अन्त में मेरठ पहुंचे। मेरठ में उस समय विशेष जागृति थी। १६ सितम्बर १८७८ ई० के

शुभदिन वहां आर्यसमाज की स्थापना होगई । मेरठ के उत्साही आर्यपुरुषों के धर्मबल से यह समाज शीघ्र ही युक्तप्रांत के समाजों में मुख्य होगया । मेरठ से स्वामी जी दिल्ली पहुंचे । यहां भी प्रचार के अनन्तर आर्यसमाज की स्थापना हुई ।

से चल कर स्वामी जी ने छः सात महीनों तक बड़ी भाग दौड़ का दौरा लगाया । अजमेर, नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, दिल्ली, मेरठ, हरिद्वार, देहरादून आदि में प्रचार और सुधार का कार्य करते हुए आप आर्यपुरुषों को नया जीवन प्रदान करते रहे । मई (१८७८) मास में आप मुरादाबाद पहुंचे । मुरादाबाद में मुंशी इन्द्रमन आदि भक्तों के आग्रह से स्वामी जी ने देर तक निवास किया । आपके व्याख्यानों का विषय धार्मिक होता था, परन्तु आपकी दृष्टि में धर्म इतना विस्तृत था कि मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाला शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जिस पर आप प्रकाश न डालते हों । परमात्मा और आत्मा पर गहरे विचार, सायंस की समस्यायें, विवाह आदि सामाजिक प्रश्न, देश की दशा, राजा के कर्तव्य आदि सभी विषयों पर ऋषि दयानन्द अपनी सम्मति प्रकाशित किया करते थे । आपका 'धर्म' बड़ा विस्तृत था । वह केवल 'ईश्वरपूजा' तक परिमित नहीं था, और न हीं डर या नीति की दृष्टि से आप उसके बीच में लकीरें डालने को तय्यार हो जाते थे । 'धर्म' एक था, व्यापी था, सर्वतोगामी था, मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में 'धर्म' को कुछ वक्तव्य है, यह ऋषि दयानन्द का सिद्धान्त था । आपके व्याख्यान, और आपका प्रधान ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश,—यह प्रमाणित करते हैं कि 'धर्म' को आप एक मज़हब, ईमान या Religion नहीं समझते थे, बल्कि एक व्यापी नियम मानते थे । यही कारण था कि ऋषि ने आर्यावर्त के प्राचीन गौरव पर बीसियों व्याख्यान दिये, अनेक प्रार्थनाओं में आर्य जाति के चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना की, और राजा तथा प्रजा का धर्म बताते हुए भारत के विदेशी शासन की कमियां दिखाईं । मुरादाबाद में आपके व्याख्यानों के समय अन्य लोगों के साथ स्थानीय कलेक्टर मि० स्पेडिंग भी आया करते थे । उनके कहने पर एक दिन स्वामी जी ने राजधर्म पर ही व्याख्यान दिया । ऋषि ने वेदों तथा स्मृतियों के प्रमाणों से राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए निर्भयता से राज्य के दोष दिखलाये । व्याख्यान घण्टों तक होता रहा । व्याख्यान के अन्त में कलेक्टर महाशय ने स्वामी जी का धन्यवाद दिया, और कहा कि यदि राजा और प्रजा के सम्बन्धों की ऐसी ही स्थिति रहती तो जो राजविप्लव हो चुका है, वह कभी न होता ।

मुरादाबाद से चल कर बदायूं ठहरते हुए स्वामी जी बरेली पहुंचे । बरेली के रईस ला० लक्ष्मीनारायण की कोठी पर आप का आसन जमाया गया । व्याख्यान आरम्भ होगये । स्वामी जी व्याख्यान के स्थान पर ठीक समय से पूर्व ही पहुंच जाते थे, और

नियत समय पर व्याख्यान शुरू कर देते थे। व्याख्यान का स्थान उतारे से दूर था, इस कारण ला० लक्ष्मीनारायण की गाड़ी समय पर आजाती थी, और मण्डप तक स्वामी जी को पहुंचा जाती थी। एक दिन स्वामी जी व्याख्यान मण्डप में नियत समय से पौन घण्टा पीछे पहुंचे। समय का व्यतिक्रम स्वामी जी के स्वभाव में नहीं था। उन्हें विलम्ब से पहुंचने का बड़ा दुःख हुआ। व्याख्यान के प्रारम्भ में ही आपने कहा—

"मैं तो समय पर समुद्यत था, परन्तु गाड़ी नहीं पहुंच सकी। अन्त में पैदल चल कर आरहा था कि मार्ग में गाड़ी मिली। समय के व्यतिक्रम में मेरा दोष नहीं है, किन्तु बच्चों के बच्चों का है। बाल विवाह की सन्तानों में ऐसी निर्बलता का होना आश्चर्य नहीं है"

व्याख्यानों में सभी ऊंचे राज्याधिकारी आया करते थे। स्वामी जी बिना भय या लिहाज़ के सच्चे धर्म का प्रचार करते थे। बरेली में एक ऐसी घटना हुई, जिस से स्वामी जी के चरित्र का भली प्रकार चित्रण होता है। घटना का चरित लेखकों ने रुचि के अनुसार भिन्न २ भाषाओं में वर्णन किया है। मैं यहां पर महात्मा मुन्शीराम जी का किया वर्णन उद्धृत करता हूं। यह पं० लेखराम जी के लिखे जीवन चरित की भूमिका में दिया गया है। महात्मा जी व्याख्यान में वह स्वयं उपस्थित थे, अतः उन का किया वर्णन अधिक यथार्थ है।

"एक रोज़ व्याख्यान देते हुए श्री स्वामी जी महाराज पुराणों की असम्भव बातों का खण्डन करते करते उनकी सदाचार-शिक्षा का खण्डन करने लगे। उस समय पादरी स्काट मिस्टर रेड कलेक्टर ज़िला और मि० एड्वर्ड साहिब कमिश्नर डिवीज़न पन्द्रह बीस और अंग्रेज़ों के साथ विद्यमान थे। स्वामी जी ने पुराणों की पञ्च कुमारियों की चर्चा करते हुए एक २ के गुण बयान करने आरम्भ किये, और पौराणिकों की बुद्धि पर शोक प्रकाशित किया, कि द्रौपदी के ५ पति कराके उसे कुमारी करार दिया, और इसी तरह कुन्ती तारा मन्दोदरी आदि को कुमारी कहना पौराणिकों की आचार सम्बन्धिनी शिक्षा को निकम्मा सिद्ध करता है। स्वामी जी की कथनशैली ऐसी परिहास पूर्ण थी कि श्रोता थकने का नाम नहीं लेते थे। इस पर साहिब कलेक्टर और साहब कमिश्नर आदि हंसते और प्रसन्नता प्रकाशित करते थे। किन्तु इस विषय को समाप्त कर के स्वामी जी महाराज बोले—

'पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनो। यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के बेटा पैदा होना बताते, फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मा

पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।" इतना कहना ही था कि साहिब कलेक्टर और साहिब कमिश्नर के चेहरे मारे गुस्से के लाल होगये, लेकिन स्वामी जी का व्याख्यान उसी ज़ोर से जारी रहा। उस रोज़ ईसाई मत का व्याख्यान की समाप्ति तक खण्डन करते रहे। दूसरे रोज़ सुबह को ही खज़ांची लक्ष्मीनारायण की साहिब कमिश्नर बहादुर की कोठी पर तलबी हुई। साहिब बहादुर ने फरमाया कि अपने पण्डित साहिब को कह दो कि बहुत सख्ती से काम न लिया करें। हम ईसाई लोग तो सभ्य हैं। हम तो बहस मुबाहिसा में सख्ती से नहीं घबराते, लेकिन अगर जाहिल हिन्दू और मुसलमान बिगड़ गये तो तुम्हारे स्वामी पण्डित के व्याख्यान बन्द हो जायंगे। खज़ांची साहिब यह पैग़ाम स्वामी जी के पास पहुंचाने का वादा करके बाहिर चले आये। लेकिन स्वामी जी तक यह मज़मून पहुंचाने वाला बहादुर कहां से मिलता? कई एक ड्योढ़ी बरदारों से प्रार्थना की, लेकिन कोई भी आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका। आख़िरकार चिठ्ठी एक नास्तिक पर पड़ी, और उस का जिम्मा ठहराया गया, कि वह मामला पेश कर देवे। खज़ांची साहिब अब उस नास्तिक और चन्द एक दीगर आदमियों के कमरे में पहुंचे। जिस पर नास्तिक ने सिर्फ यह कहकर कि 'खज़ांची साहिब कुछ अर्ज़ करना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें कमिश्नर साहिब ने बुलाया था' किनारा किया, और कुल मुसीबत खज़ांची साहिब पर टूट पड़ी। अब खज़ांची साहिब कहीं सिर खुजलाते हैं, कहीं गला साफ़ करते हैं। आख़िर पांच मिनट तक विस्मय से देख कर स्वामी जी ने फर्माया ' भाई तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नहीं हैं, इस लिए तुम समय की कीमत नहीं समझ सकते मेरा समय अमोल है, जो कुछ कहना हो, कह दो।' इस पर खज़ांची साहिब बोले, "महाराज अगर सख्ती न की जाय तो क्या हर्ज है! इस से असर भी अच्छा पड़ता है और अंग्रेज़ों को नाराज़ करना भी अच्छा नहीं है इत्यादि' यह बातें अटक कर और बड़ी मुश्किल से ख़ज़ांची साहिब के मुंह से निकली। इस पर महाराज हंसे और फरमाया "अरे बात क्या थी, जिस के लिए गिड़गिड़ाता है, और हमारा इतना समय ख़राब किया, साहिब ने कहा होगा, तुम्हारा पण्डित सख्त बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जायंगे, यह होगा, वह होगा। अरे भाई मैं हव्वा तो नहीं कि तुझे खालूंगा। उसने तुझ से कहा, तू मुझ से सीधा कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गंवाया" एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला 'देखा, यह तो कोई अवतार हैं, दिल की बात जान लेते हैं'

ख़ैर, वहां तो जो कुछ हुआ सो हुआ। अब व्याख्यान का हाल काबिले ज़िक्र है। मैंने केशवचन्द्रसेन लाल मोहन घोष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एनी बेसेन्ट और अन्य बहुत से

प्रसिद्ध व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं, और वह भी उनकी बढ़ती के समय में। लेकिन मैं सच्चे दिल से कहता हूं कि जो असर मुझ पर उस रोज़ के व्याख्यान ने किया, और जो फसाहत कि मुझे उस रोज़ के सादे शब्दों में मालूम हुई, वह अब तक तो दिखाई नहीं दी। आगे की ईश्वर जाने। उस रोज़ आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। इसी प्रकरण में महाराज ने सत्य के बल पर बोलना प्रारम्भ किया। पादरी स्काट को छोड़कर पहले दिन के सब अंग्रेज़ सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब चुपचाप एकाग्र होकर व्याख्यान सुन रहे थे। मुझे पूरा व्याख्यान तो याद नहीं, यद्यपि उसके असर का अब तक अनुभव करता हू, किन्तु कुछेक शब्द मुझे मरते दम तक याद रहेंगे। ऋषि ने कहा 'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रगट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे, चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।'' इसके बाद उस उपनिषद्वाक्य को पढ़कर जिसमें लिखा है कि आत्मा का न कोई हथियार छेदन कर सकता है, और न उसे आग जला सकती है, गर्जती हुई आवाज़ में बोले ''यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट करदे' फिर चारों ओर अपनी तीक्ष्ण आंखों की ज्योति डालकर सिंहनाद करते हुए फरमाया 'लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखलाओ, जो यह दावा करता है कि वह मेरा आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तय्यार नहीं हूं कि मैं सत्य को दबाऊं या नहीं!''

लम्बे उद्धरण के लिये पाठक क्षमा करें। यह ऋषि दयानन्द की व्याख्यानशक्ति और निर्भयता का एक अच्छा दृष्टान्त है। जिन लोगों को ऋषि के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उन पर व्याख्यानों का बड़ा गहरा प्रभाव होता था। ऋषि की भाषण शक्ति स्वाभाविक थी, उसमें बनावट या यत्नपूर्वक भाषानिर्माण का नाम नहीं था। जो कुछ था, हृदय का शब्द था, एक निर्भय आत्मा का उद्गार था। यही कारण था कि ऋषि का भाषण सदा नया, सदा मनोरंजक और सदा शिक्षाप्रद रहता था।

ऋषि पूरी तरह निर्भय थे। उनके जीवन की घटनायें निर्विवाद रीति से सिद्ध करती है कि किसी शारीरिक या मानसिक ख़तरे से घबराना उनके लिये असम्भव था। 'भय' यह शब्द उनके शब्द शास्त्र से निर्वासित हो गया था।

बरली में ऋषि दयानन्द का पादरी स्काट से शास्त्रार्थ हुआ था। शास्त्रार्थ बड़ी शांति से हुआ। जनता परे उत्तम प्रभाव पड़ा। शास्त्रार्थ में आप बड़ी स्पष्टवादिता से काम लेते थे, परन्तु कभी प्रस्तुत विषय, सभ्यता की सीमा, और सत्य प्रियता का साथ नहीं छोड़ते थे। प्रतिपक्षी के पक्ष को समझना, समझकर उसे ठीक रूप में

प्रगट करना, और युक्ति पूर्वक उत्तर देना—यह शास्त्रार्थ के स्वर्णीय नियम ऋषि दयानन्द को मान्य थे। केवल शब्दों से ही मान्य नहीं थे—व्यवहार में भी मान्य थे।

बरेली के पीछे कई मास तक संयुक्त प्रांत का भ्रमण जारी रहा। शाहजहांपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कानपुर, इलाहाबाद और मेरठ आदि नगरों में ऋषि धर्म का प्रचार करते रहे जहां आर्यसमाज नहीं बने थे, वहां उनकी स्थापना कर देते, और जहां समाज की स्थापना हो चुकी थी, वहां उसके पुष्ट करने का उद्योग करते थे। धर्म-चर्चा का समारोह भी सभी जगह होता रहा। मेरठ से देहरादून और वहां से फिर मेरठ होते हुए स्वामी जी आगरे पहुंचे। आगरा संयुक्तप्रांत का अन्तिम नगर था, जिस में ऋषि दयानन्द ने धर्मप्रचार करके आर्यसमाज कीस्थापना की। आगरे से संयुक्त प्रांत से विदाई लेकर ऋषि राजपूताने की ओर प्रस्थित हुए।

चौदहवां परिच्छेद

थ्यासोफी से सम्बन्ध ।

——:o:——

१८७८ ई० के जनवरी मास में ऋषि दयानन्द को अमरीका से आया हुआ निम्न लिखित पत्र मिला:—

To the Most Honourable Pandit Dyanand Sarswati, India.

Venerated Teacher—a Number of American and other students who earnestly seek after spiritual Knowledge, place themselves at Your feet and pray you to enlighten them. The boldness of their conduct naturally drew upon them public attention and reprobation of all influencial organs and persons whose worldly interests or private prejudices were linkel with the established order.

We have been called Athcists, infidels and pagans.

We need the assistance not only of the young and enthusiastic, but also of the wise and venerated. For this reason me come to your feet as Children to a parent and say look at us, our teacher teach us what we aught to do. Give us your council, your aid.

See that we approach yo not in pride byt humility, that we are prepared to recieve your counsel and do our duty as it may be shown to us.

(Sd.) Henry Olcott,

President of the Theosophical Soceity,

सेवा में परम सम्मानित पण्डित दयानन्द सरस्वती, भारतवर्ष ।

सम्मानित गुरो !

अध्यात्मिक विद्या से प्रेम रखनेवाले कुछ अमेरिकन तथा अन्य विद्यार्थी, अपने को आपके चरणों में रखते हैं और प्रकाश की याचना करते हैं। उन लोगों के

साहसिक व्यवहार ने कुदरतन उनकी ओर सर्व साधारण का ध्यान खेंचा है और उन समाचार पत्रों तथा व्यक्तियों की ओर से, जिनके दुनियावी, हित या निज् संस्कार पहले से विद्यमान स्थिति के साथ बंधे हुए हैं, उनका विरोध किया गया है।

हमें नास्तिक अविश्वासी और धर्महीन कहा गया। हम केवल युवक और जोशीले लोगों की ही सहायता नहीं चाहते, बुद्धिमान् और सम्मानित लोगों की सहायता भी चाहते हैं। इस कारण हम आपके चरणों में इस प्रकार आते हैं, जैसे पिता के चरणों में पुत्र आता है, और कहते हैं कि हमारे गुरु महाराज! हमारी ओर देखिये, और बताइये कि हमें क्या करना चाहिये।

देखिये, कि हम आपकी सेवा में अभिमान से नहीं अपितु नम्रता से आते हैं, और हम आपकी सलाह लेने और दिखाये हुए मार्ग पर चलकर कर्तव्य पालने के लिये उद्यत हैं।

(हस्ताक्षर) हैनरी अल्काट

प्रेसीडेण्ट, थ्योसाफिकल सोसाइटी

यह पत्र थ्योसाफिकल सोसाइटी के प्रधान की ओर से था। यह सोसाइटी १८७५ ई० के नवम्बर मास की १७ तारीख को अमरीका में स्थापित हुई थी। सोसाइटी की संस्थापना मैडेम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्काट के उद्योग से हुई थी। मैडेम ब्लैवेट्स्की रूस में बसे एक जर्मन परिवार में उत्पन्न हुई थी। १७ वर्ष की आयु में उसका एन. वी. ब्लेवेट्स्की के साथ विवाह हुआ। विवाह के तीन महीने पीछे मैडेम ब्लैवेट्स्की पति को छोड़ कर भाग निकली। भाग कर बरसों तक मैडेम ने सन्दिग्ध जीवन व्यतीत किया, और अपने पति के जीवित रहते ही मैट्रोविच नाम के एक पुरुष से सम्बन्ध स्थापित किया। बहुत समय तक अपना नाम बदल कर, और उसकी विवाहिता स्त्री की भांति बन कर मैडेम ब्लैवेट्स्की मैट्रोविच के साथ रही। इसी सम्बन्ध से एक लड़का भी उत्पन्न हुआ, जिस के बारे में पीछे से मैडेम ने बहुत सी आध्यात्मिक कल्पनायें कर के लोगों को समझाने का यत्न किया। मैट्रोविच का साथ छोड़ने पर मैडम बहुत समय तक मिसर की राजधानी कैरो में रही। यहां पर मैडेम को बहुत से जादूगरों और जोगियों से मिलने का मौका मिला, जिन से उसे चमत्कारों का रहस्य पता चला, और स्वयं भी बहुत से हस्तलाघव करने लगी। १८७३ में मैडम मिसर से अमरीका में आगई, और अध्यात्मिक विद्या के विषय में लिखकर अपना निर्वाह करने लगी। मिसर में सीखा हुआ जादू यहां मैडम के बहुत काम आया। Spiritualism पर लेख लिख कर वह अपनी पेट पालना कर लेती थी।

१८७५ के अप्रैल मास में मैडम ने माइकेल बैटले नाम के आर्मीनियन के साथ विवाह कर लिया था । इस विवाह के समय मैडम ने दो झूठ बोले । उसका पहला पति जीता था, तो भी उसने अपने को विधवा प्रसिद्ध करके दूसरे पुरुष से विवाह करा लिया । वह इस समय ४३ वर्ष की थी परन्तु उसने अपने को ३६ वर्ष का लिखा-था । यह विवाह भी देर तक स्थिर न रह सका । शीघ्र ही दोनों में झगड़ा हो गया, और तलाक ने असत्यमूलक सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया ।

रूस में बदनाम होकर मैडम ने अमरीका में आश्रम लिया और आध्यात्मिक विद्यापर लेख लिखकर अपना निर्वाह जारी रखा । १८७४ में मैडमका कर्नल अल्काट से परिचय हुआ । कर्नल अल्काट पहले सिपाही था, परन्तु उस समय एक समाचार पत्र के संवाददाता के रूप में एक आध्यात्मिक घटना की छानबीन में लगा हुआ था । दोनों आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा से निर्वाह करने वाले चिटण्डन नाम के नगर में मिले, और मिल कर दोनों ने अनुभव किया कि 'हम एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं' दोनों ने मिलकर आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा को बढ़ाने का यत्न करने का निश्चय किया । दोनों पुस्तकें लिखते और उनकी आय से निर्वाह करते, परन्तु फिर भी अमरीकन लोग उनके दिए हुए ज्ञान को इतना मूल्यवान् नहीं समझते थे कि उन ग्रन्थों से दोनों का गुज़ारा भली प्रकार हो सके । १८ जुलाई १८७५ का मैडम का एक पत्र है जिस में वह लिखती हैं—

"Here, you see, is my trouble. Tomorrow there will be nothing to eat. Something quite out of the way must be invented. It is doubtful if Olcotts 'Miracle Club' will help; I will fight to the last."

"मेरी कठिनाई यह है । कल के खाने के लिए कुछ नहीं है । कोई बिल्कुल नया ढंग बनाना चाहिए । यह सन्दिग्ध है कि अल्काट की चमत्कार सभा कुछ सहायता दे सकेगी । मैं आखीर तक लडूंगी ।"

भोजन की भी दिक्कत थी । उस दिक्कत को दूर करने के लिए कर्नल अल्काट ने 'मिरेकलक्लब' नाम से एक चमत्कार दिखानेवाली सभा बनाई थी, परन्तु उससे भी काफी आय नहीं हुई । कुछ पुस्तकें लिखी गईं—उनसे अन्नकष्ट दूर न हुआ । तब आखिर तंग आकर इस युगल ने थ्योसाफिकल सोसाइटी बनाने का निश्चय किया । १७ नवम्बर १८७५ को सोसाइटीकी स्थापना हुई । कर्नल प्रधान बने और मैडम ने मन्त्री का कार्य सम्भाला । ख़ज़ांची का कार्य एक लखपति को सौंपा गया, जिस से सोसाइटी के अधिकारियों की बहुत सी चिन्तायें दूर होगईं ।

१८७७ में मैडमब्लैवट्स्की की प्रसिद्ध पुस्तक Isis unveiled प्रकाशित हुई। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी थी। उसमें प्राचीन धर्मों का समर्थन था, ईसाइत पर बहुत आक्षेप थे, और जादू तथा चमत्कार की सम्भवता दिखाई गई थी। उस पुस्तक पर वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगोंने अधिक्षेप भरी दृष्टि डाली, और ईसाई खिम गये, परन्तु सर्वसाधारण को अनूठेपन ने बहुत खेंचा। लोगों को उस पुस्तक-लेखिका की लेख शैली अदभुत मालूम हुई। आशा हुई कि समय और श्रम की कीमत निकल आवेगी, परन्तु दैवको कुछ और ही अभीष्ट था। Isis के छपनेके कुछ समय पीछे मि० कोलमन ने Isis की आलोचना की, जिस में यह सिद्ध किया कि मैडम की पुस्तक में कुछ भी नवीनता नहीं है, सब कुछ लगभग सौ पुस्तकों से उद्धृत किया हुआ है। उन्हीं दिनों में मि० होम की Light and Shadows of Spiritualism. नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई, जिस में थ्यासोफीके लीडरोंकी पोल खोलनेका यत्न किया गया। मि० कोलमैनकी अलोचना और मि० होम के आक्रमणों ने थ्यासोफी के नेताओं की स्थिति असम्भव बना दी। ईसाई पहले ही खिमे हुऐ थे। Isis की पोल खुल जाने से थ्यासोफी के संस्थापक बड़ी विपदा में पड़े। अब तक कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की यदि कुछ थे तो Spiritualist थे—और कुछ नहीं थे। न वह हिन्दू थे, न बौद्ध थें। यदि आत्मा उन से बातें करती थीं तो किंग जान की। अमेरिका में उन की स्थिति बहुत बिगड़ गई। उन के लिये उस देश में रहना असम्भव होगया। यह दशा १८७७ में हुई। मैडमब्लैवेट्स्की ने उस समय एक पत्र लिखा, जिस का निम्न लिखित उद्धरण लेखिका की मानसिक दशा को चित्रित करके बताता है कि युगल को भारत की ओर प्रेरित करने का क्या कारण हुआ, और १८७८ में ऋषि दयानन्द कर्नल अल्काट की जो चिट्ठी मिली, उस की तह में क्या बात थी? पत्र में मैडम लिखती हैं—

"It is for this that I am going for ever to India, and for very shame and vexation I want to go where no one will know my name. Home's malignity has ruined me for ever in Europe."*

"मैं इसी लिये भारत को जारही हूं। लज्जा और खिमलाहट से तंग आकर मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूं जहां मेरा नाम कोई न जानता हो। होम के द्वेष ने योरप में सदा के लिये मेरा नाश कर दिया।"

इस प्रकार अमरीका और योरप में बेइज्जत और बदनाम होकर थ्यासोफी के संस्थापकों ने भारत के भोले निवासियों का उद्धार करने का निश्चय किया। इतनी प्रस्तावना

१. मैडम के पत्रों के उद्धरण जे. ए. फार्कुहर की Modern Religous Movements In India नाम की पुस्तक से लिये गये हैं।

को पढ़कर पाठक समझ सकेंगे कि थ्यासोफी के नेताओं ने ऋषि दयानन्द को ऐसे नम्रताभरे पत्र क्यों लिखे ? वे अमरीका और योरप में बिल्कुल बदनाम होचुके थे, वहां उनका रहना असम्भव था । भारत में पैर जमाने का यही उपाय था कि किसी शक्तिशाली व्यक्ति का आसरा लिया जाय । श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कर्नल अल्काट को ऋषि का परिचय मिला था । उस परिचय से लाभ उठाकर थ्यासोफी के प्रेज़ीडेन्ट ने ऋषि दयानन्द को अधीनता भरे पत्र लिखने आरम्भ किए ।

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में जो पत्र दिया गया है, उसके पीछे थ्यासोफी की ओर से हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा स्वामी जी के पास बराबर पत्र आते रहे । २१ मई १८७८ के पत्र में कर्नल अल्काट लिखते हैं:—

"जब मैं यह इशारा देता हूं कि हमारी सोसाइटी पं० दयानन्द सरस्वती की और मेरी पथदर्शकता में आर्यसमाज की शाखा विख्यात की जाय, तब मैं उस बुद्धिमान् और पवित्र मनुष्य को शिक्षक और मार्गदर्शक मानने के कारण गर्वका अनुभव करता हूं।"
२२ मई सन १८७८ के पत्र में थ्यासोफिकल सोसाइटी के रिकार्डिंग सेक्रेटरी अगस्टस गुस्टम लिखते हैं —

"आर्यसमाज के मुखिया, के नाम

आपको आदरपूर्वक सूचना दी जाती है कि २२ मई १८७८ को न्यू-यार्क में थ्योसाफिकल सोसाइटी की कौंसिल का जो अधिवेशन प्रेज़ीडेण्ट की अध्यक्षता में हुआ था, उसमें वाइस प्रेज़ीडेण्ट ए. विल्डर के प्रस्ताव और कारस्पांडिंग सेक्रेटरी एच. पी. ब्लैवेट्स्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि सोसाइटी मिल जाने के प्रस्ताव को स्वीकार करती है और यह भी स्वीकार करती है कि इस सोसाइटी का नाम 'दि थ्योसाफिकल सोसाइटी आव दि आर्यसमाज आव इण्डिया' रख दिया जाय ।

निश्चय हुआ कि थ्योसाफिकल सोसाइटी अपने और योरप तथा अमरीका में विद्यमान अपनी शाखाओं के लिये आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नियमानुसार पथदर्शक या मुखिया अंगीकार करे ।"

इस प्रकार थ्योसाफिकल सोसाइटी ने आर्यसमाज से उस समय सम्बन्ध स्थापित किया, जिस समय अमरीका के निवासी सोसाइटी के संचालकों को यह पता नहीं था कि 'कल का भोजन कहां से मिलेगा' । वहां वह खूब बदनाम, और तंग थे । ऊपर दिए हुए पत्रों से स्पष्ट होता है कि उस समय सोसाइटी के नेता स्वामी जी को गुरु मानने में अपना सौभाग्य समझते थे, और सब तरह से आर्यसमाज की संस्था में आने को तैयार

थे। अन्त को, बहुत से पत्र व्यवहार के पीछे, थ्योसाफिकल युगल १८७९ के जनवरी मास में बम्बई पहुंच गया, और जिसे गुरु माना था, उसके चरणों में भेंट रखने की उत्सुकता प्रगट करने लगा।

पहले पहल यह युगल स्वामी जी से सहारनपुर में मिला। इसके पीछे कई स्थानों पर स्वामी जी के साथ यह युगल घूमता रहा। स्वामी जी के शिष्य इन अपने को आर्य-समाजी कहने वाले थ्योसोफिस्टों के व्याख्यान करवाने लगे, और उनका आदर सत्कार करने लगे। लगभग एक साल तक यही प्रेमसम्बन्ध स्थापित रहा, और थ्यासोफिस्टों की भक्ति उमड़ती रही। इतना समय भारत में पांव जमाने और बहुत से शिष्य इकट्ठे करने के लिये पर्याप्त था। अंग्रेज़ी पढ़े लिखे भारतवासी युगल की बातों को सुनने और पसन्द करने लगे। लगभग साल तक प्रेम सम्बन्ध जारी रहा, और इस के पीछे नये रंग दिखाई देने लगे।

झगड़े के मुख्य कारण तीन हुए। भारतवर्ष में आकर थ्यासोफिस्ट युगल को ज्ञात हुआ कि जिस व्यक्ति को वह गुरु बनाकर आये हैं, वह गुरु बन कर ही रहेगा, शिष्य नहीं बन सकता। युगल समझता था कि वह पं० दयानन्द को अपनी वृद्धि का साधन बना सकेगा, परन्तु उसे शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि यह भारतीय पण्डित ऐसा भोला नहीं कि हथियार बन सके।

दूसरी ओर युगल ने देखा कि भारत वर्ष में अज्ञान और श्रद्धा की मात्रा बहुत अधिक है। कोई भी आदमी आकर गुरु बनना चाहे तो बिल्कुल निराश नहीं होगा, कुछ न कुछ शिष्य उसे मिल ही जायंगे। ऐसी दशा में थ्यासोफी के संस्थापकों ने यही उत्तम समझा कि अपनी दूकान जुदा ही खड़ी की जाय। आने से पूर्व वह आर्य समाजी थे, आकर शीघ्र ही उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके सिद्धान्त आर्य-समाज की अपेक्षा बौद्धों के साथ अधिक मिलते हैं।

तीसरी शिकायत इन्हीं दो शिकायतों की परिणामरूप थी। थ्यासोफी आर्यसमाज की शाखा थी। जो लोग थ्यासोफी के सभ्य थे, वह वस्तुतः आर्यसमाज के ही सभ्य समझे जा सकते थे। ऐसी दशा में यह सोचना भी असंगत था कि आर्यसमाज के सभासद् थ्यासोफी के सभासद् बनाये जायं। जो मूल संस्था का सभ्य है, उसे शाखा का सभ्य बनने की क्या आवश्यकता है? परन्तु कर्नल अल्काट तथा मेडम ब्लैवेट्स्की ने आर्यसमाज के सभासदों को अपने सभासद् बनाना प्रारम्भ किया। इस व्यवहार को स्वामीजी ने अनुचित समझा।

यह तीन बातें तह में थीं। वह थ्यासोफी के लीडर, जिन्हें अपने सिद्धान्त आर्यसमाज के ऐन अनुकूल दिखाई देते थे, शीघ्र ही संसार के कर्ता ईश्वर से इन्कार कर बौद्धों में नाम लिखाने लगे। अमरीका में मैडम ब्लैवेट्स्की के अन्दर केवल किंग जार्ज की आत्मा प्रवेश करती थी, परन्तु भारत में आते ही हिमालय निवासी महात्मा, और उन के प्रतिनिधि महात्मा कूटहूमी से मैडम का परिचय होगया, और हिमालय से सीधे सन्देश पहुंचने लगे।

सब से बड़ा कारण, जिस से मतभेद पैदा होगया, यह था कि थ्यासोफी के संस्थापक चमत्कारों को अपने धर्म का आवश्यक सिद्धान्त मानने और उद्घोषित करने लगे। चमत्कारों को वह योगसिद्धि के नाम से पुकारते थे, परन्तु योग के विना ही योगसिद्धि का दावा करते थे। सिद्धियां भी विचित्र थीं। किसी की गुम हुई वस्तु का पता दे दिया, किसी के दिल की बात बूझने की अटकल लगा दी। ऐसे चमत्कार थे, जिन्हें दिखा कर थ्यसोफी लोगों के हृदयों में योग के प्रति श्रद्धा का संचार करना चाहती थी। थ्यासोफी के उस समय के चमत्कारों के दो दृष्टान्त नीचे दिये जाते हैं, उन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होजायगा कि आर्यसमाज़ के संस्थापक के विचार थ्यासोफी के विचारों से क्यों नहीं मिल सकते थे?

मैडम ब्लैवेट्स्की शिमले में थीं। प्रसिद्ध मि० ए० ओ० ह्यूम के घर पर कुछ लोगों को निमंत्रण था। निमंत्रण में मैडम ब्लैवेट्स्की भी शामिल थीं। भोजन के पीछे यह बात उठी कि मैडम अपना कोई आध्यात्मिक चमत्कार दिखावें। मैडम तय्यार हो-गई। घर वालों से उन्हों ने पूछा कि 'क्या आप लोगों की कोई वस्तु गुम हुई है' उत्तर से पता चला कि कुछ रोज़ हुए, मि० ह्यूम के घर से एक आभूषण गुम हुआ था। मैडम ने कुछ देर तक ध्यान कर के बाग़ का वह स्थान बता दिया, जहां गुम हुई वस्तु गड़ी थी। वस्तु मिल गई, और चमत्कार की धूम दिग्दिगन्तर में फैलगई।

कुछ दिन पीछे इंगलिशमन, बाम्बेगजट, टाइम्स आव इण्डिया, और सिविल मिलटरी गज़ट में चिट्ठियां प्रकाशित हुईं, जिन से रहस्य का उद्भेद होगया। एक अंग्रेज़ नौजवान शिमले से बम्बई गया, और वहां वह मैडम से मिला, शिमले में वह मि० ह्यूम के यहां बहुत आया जाया करता था। बम्बई के मि० होर्मस्जी सीरवाई ने गवाही दी कि जैसा गहना चमत्कार से मिला हैं, ठीक वैसे ही गहने की मैडम ब्लैवेट्स्की ने उस से मरम्मत करवाई थी। रहस्य को खोल कर ऐतिहासिक घटना बना देना कुछ कठिन नहीं है। वह गहना मि० ह्यूम के घर से उड़वाया गया। बम्बई में उस की मरम्मत करवा कर मैडम अपने साथ शिमले लेगई और चमत्कार दिखा कर थ्यासोफी की सत्यता सिद्ध कर दी।

दूसरी घटना लाहौर में हुई। १८८३ के अप्रैल मास में थ्यासोफी के महात्माओं का एक चेला लाहौर में पहुंचा। मैडम ब्लैवेट्स्की के शिष्य ने बड़े जोर से उसका ढोल बजाया और यह घोषणा कर दी कि वह चेला चमत्कार दिखायेगा। वह अपनी उंगली आगे करेगा, पहले तो उंगली को कोई काट ही नहीं सकेगा, यदि काट भी सके तो वह झटपट जुड़ जायगी। भरी सभा में चमत्कार की घोषणा दीगई। पहले तो किसी हिन्दू का हृदय ऐसे कठोर कार्य के लिये तय्यार न हुआ, परन्तु जब बहुत देर होगई, और लोगों के दयाभाव का अभिप्राय यह निकाला जाने लगा कि चेले की शक्ति से किसी का हाथ नहीं उठता, तब एक सिख ने हिम्मत कर के उंगली काट दी। बेचारा चेला चक्कर में आगया। उंगली का जुड़ना तो क्या था, बेचारा कई दिनों तक दुःख भोगता, और महात्माओं के नाम का जाप करता रहा।

ऐसी घटनाओं को सुन कर आर्यसमाज का संस्थापक ऋषि कैसे चुप रह सकता था। वह दम्भ और धोखे का शत्रु था, वह धर्म में सुलहनामा करने पर विश्वास नहीं रखता था। इधर स्वामी जी को थ्यासोफ़ी के संस्थापकों के असत्य व्यवहार पर घृणा होने लगी, उधर मूर्ख जनता को जाल में फंसाने का खुला अवसर देखकर युगल भी स्वामी जी की शिष्यता से इन्कार करने का उपाय सोचने लगा।

कुछ दिनों तक पत्र व्यवहार जारी रहा। मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्काट का यत्न यह रहा कि किसी प्रकार आर्यसमाज के सभासदों को थ्यासोफी के चुंगल में फंसाया जाय। एक ओर थ्यासोफ़ी की ओर से कर्ता ईश्वर से इन्कार, दूसरी ओर चमत्कारों का दम्भ-ऋषि ने आवश्यक समझा कि आर्यपुरुषों को सचेत कर दिया जाय।

असौज बदी चतुर्दशी सम्वत् १९३७ को मेरठ के आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव था। इस उत्सव के अवसर पर श्री स्वामी जी के दो व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों में आप ने उन कारणों पर प्रकाश डाला, जिनसे आर्यसमाज थ्यासोफ़ी से जुदा होने पर बाधित हुआ, और यह भी घोषणा दी कि किसी आर्यसमाजी को थ्यासोफ़ी का सभ्य न बनना चाहिए। दोनोंमें कई मौलिक भेद उत्पन्न होगए थे। (१) थ्यासोफिस्ट सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते थे। (२) वह अपने को बौद्ध कहते थे (३) वह हिमालयवर्ती किन्हीं कल्पित महात्माओं के होने, और उनके गुप्त सन्देशों पर विश्वास रखते थे (४) वह सिद्धियों के नाम पर चमत्कारों को मानते और उनका दावा भी करते थे [५] थ्यासोफ़ी में ईसाई मुसलमान बौद्ध हिन्दू सब अपने एक दूसरे के विरुद्ध सिद्धान्तों को मानते हुए भी प्रविष्ट हो सकते थे। इस प्रकार थ्यासोफ़ी आर्य समाज से कोसों दूर चली गई थी। ऋषिदयानन्द की ओर से यह घोषणा आवश्यक होगई थी, अन्यथा आर्यसमाज के नाश का भारी भय था। थ्यासोफ़ी में कई ईसाई भी शा-

मिल हो गये थे । उनमें से अनेक राजकर्मचारी भी थे। थ्यासोफ़ी के संचालक चाहते थे कि राजकर्मचारियों की सहानुभूति का प्रलोभन देकर ही आर्यसमाज को फुसलाया जाय। परन्तु वह हथियार भी निकम्मा साबित हुआ।

मेरठ में ऋषि दयानन्द की की हुई घोषणा से कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की के कल्पित कार्यक्रम को भारी धक्का पहुंचा। वह दिल में सोचे बैठे थे कि अब शीघ्र ही सारे आर्यसमाज हमारे काबू में आजायंगे, और थ्यासोफ़ी, जो प्रारम्भ में आर्यसमाज की शाखा बनी थी, उसे खा जायगी। ऋषि के व्याख्यान ने इस मीठे मन्सूबे को तोड़ दिया। उस समय मैडमब्लैवट्स्की शिमले पर थीं। वहां उन्हें स्वामी जी की घोषणा का समाचार मिला। वह बहुत छटपटाईं और मेरठ के बाबू छेदालाल जी के नाम उन्होंने एक चिट्ठी भेजी। चिट्ठी बहुत लम्बी है, इस कारण उसके कुछ आवश्यक उद्धरण ही यहां दिये जाते हैं। चिट्ठी अंग्रेज़ी में थी, यहां उसका अनुवाद दिया गया है।

"............मेरठ आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव अभी मनाया गया है। उसमें अन्यान्य आर्यसमाजों के सभासद् सम्मिलित थे। ऐसे समय में स्वामी जी ने अपने व्याख्यान में सबके सामने ये विचित्र वचन कहे कि 'जब किसी अन्य सभा समाज के सभ्य आर्य समाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा करें तो उन्हें यह उत्तर देना चाहिये कि यदि आपकी सभा के नियम और उद्देश्य आर्यसमाज से मिलते हैं तो उसमें सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं है। यदि वे कहें कि हमारे नियम आर्य समाज के नियमों से भिन्न हैं तो आर्यसमाजियों को उत्तर देना चाहिए कि आर्यसमाज के नियम अखण्डित हैं। जिस सभा के नियम खण्डित हैं, उसमें मिल जाने की हमें आवश्यकता नहीं है।

यथार्थ में रोम का अभ्रांतिशील पोप इससे अधिक और क्या कह सकता है। स्वामी जी गर्वित ब्राह्मणों के दावों के विरोधी हैं। उनके कहने का यह तात्पर्य कदापि न होगा।

उन्होंने यह भी कहा था कि "अन्यदेशियों के समाज में वैसा मित्र भाव और स्नेह नहीं हो सकता, जैसा कि एक ही मत और देश के आर्य सभासदों में है'।

....

हमने आपके विना किसी भी आर्यसमाजी को अपनी सभा में मिलाने का यत्न नहीं किया। हां मुम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसमाजी हमारी सभा के सभासद् हैं। परन्तु उनको सम्मिलित होने के लिये हमने कभी नहीं कहा।

हमारे नियमों में आर्यसमाज से इतनी प्रतिकूलता है कि हम प्रत्येक सभ्य के धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रत्येक मतावलम्बी को चाहे वह आर्यसभाजी हो, ईसाई हो अथवा मूर्तिपूजक हो, हम सभा में मिला लेते हैं।

....

इसी हेतु से मैंने आपको और दो एक अन्य सज्जनों को सभा में भरती होने की सम्मति दी थी।

रही यह बात कि आर्य सामाजिक हम में मिलें या न मिलें, इसकी हमें परवाह नहीं है। इसमें उन्हीं की और कदाचित् समाजों की हानि है।

पुलिस के सबसे बड़े अधिकारी हंडरसन महाशय सभा में सम्मिलित हुए हैं। इससे हमारा अभीष्ट सर्वथा सिद्ध होगया। हमारी सभा में सम्मिलित होते उन्होंने कहा कि मैं इसमें इसलिये मिलता हूं कि इससे बड़े २ लाभ पहुंचे हैं। आप और अल्काट ने १८ मास में वह बात प्राप्त करली है जो हम अंग्रेज़ बहुत वर्षों में भी नहीं कर पाये। उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों और अंग्रेज़ों के बीच जो खाई है, उसे आप भर रहे हैं। आपके कारण हम उनकी अधिक प्रतिष्ठा करने लगे है और वे हमसे घृणा छोड़ रहे हैं। वे हमारे काम की प्रतिष्ठा करते और उसे श्रेष्ठ समझते हैं। मुझे आशा है कि जैसे उनके विचार हैं, वे वैसा ही कर दिखायंगे। परन्तु जब स्वामी जी का प्रसंग चला तो उन्होंने भी यह कहा कि थ्यासोफ़ी के समान स्वामी जी की सम्मति नहीं है। उनके विचार अनिषेधक और उदार नहीं दीखते। आर्यसमाज ईश्वर को हर्ता कर्ता मानने वालों का एक जत्था है। ऐसी दशा में हम उनको भाइयों के सदृश क्यों मानें............इत्यादि"

स्वामीजी ने इस पत्र का विस्तृत उत्तर भेजा। उस उत्तर के भी कुछ भाग यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"

प्रथम आप लोगों ने जैसा लिखा था, जैसा समागम में प्रथम विदित किया था, उसके अनुसार अब आपका वर्ताव कहां है ?

वे पत्र छाप कर दिए गये हैं जिनमें आपने लिखा था कि हम संस्कृत अध्ययन करेंगे, और अपनी सभा को समाज की शाखा बना देंगे, जो पत्र मैंने आप के पास भेजे थे, उनकी नकल भी मेरे पास है। देखिये, थोड़े दिन हुए जब आप से मेरठ में आर्य समाज और थियासोफी सभा के विषय में बातचीत हुई थी, उस समय मैंने सबके

सामने क्या आपसे नहीं कहा था, कि समाज के विषयों से सभा के नियमों में कुछ भी विशेषता नहीं हैं। यह बात मैंने बम्बई में भी पत्र द्वारा सूचित की थी। वैसे ही मैं अब भी मानता हूं और कहता हूं कि आर्य समाजस्थों को धर्मादिक विषयों के लिये सभा में मिलना उचित नहीं हैं।

अब विचारणीय विषय यह है कि ऐसी दशा में थियासफी वालों को आर्यसमाज में मिलना चाहिये अथवा आर्यसमाजियों को उस सभा में। देखिये, मैंने अथवा किसी आर्य सभासद् ने आजतक किसी भी थियसोफिस्ट को आर्यसमाज का सभासद् बनाने का यत्न नहीं किया। आप अपने आत्मा में विचारिये कि आपने क्या किया, और क्या कर रही हैं? आपने कितने ही आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भर्ती होने के लिये प्रेरणा की। कई सज्जनों से सभासद् बनने का दश रुपये चन्दा भी लिया।

अन्यदेशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसा कि स्वदेशियों के समाज में होता है-यह बात मैंने उस समय कही थी, अब कहता हूं, और आगे भी कहूंगा। परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसंग पर कही थी वह यह है कि 'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे'' अर्थात् जिनका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनको परस्पर जितना लाभ होता है, उनकी जितनी परस्पर प्रीति होती है, उतना लाभ और उन्नति भिन्न देशवासियों को भिन्न देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिये केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझको और यूरोपीय महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनता होती है।

....

आप जो लिखती हो कि 'आपके बिना बम्बई लाहौर और दूसरे नगरों के आर्य सामाजिक हमारी सभा में सम्मिलित हैं। परन्तु हमने उनको भरती होने के लिए कभी नहीं कहा' यह सत्य नहीं है। आपने बम्बई में श्री सेवकलाल जी आदि को, और प्रयाग में पण्डित सुन्दरलाल जी आदि सभ्यों को सभा में सम्मिलित होने के लिए अवश्य प्रेरित किया। इसका साक्षी मैं ही हूं। मैं जब तक न सुनता, तो इसका पता मुझे कैसे हो सकता था। जैसे मेरा नाम सभा के सभासदों में लिखती हो, वैसा अन्यत्र भी आपने किया होगा। यह बात निःसन्देह है।

....

इससे मैं आप से पूछता हूं कि आप का धर्म क्या है? यदि आप कहें कि हमारा धर्म अमुक धर्म से विरुद्ध है, तो विरुद्धधर्मवाला मनुष्य आप की सभा में नहीं मिल

सकता। यदि यह कहो की हमारा धर्म किसी से विरुद्ध नहीं है तो उस में कोई काहे को मिलेगा ? ....

आप ईश्वर को हर्ता कर्ता नहीं मानतीं यह इसी १९२७ के भाद्रपद मास की बात है। इस विषय में आपने पहले कुछ भी नहीं कहा। हां, प्रमोददास मित्र और डा० लाजरस ने मुझ से काशी में इसकी चर्चा की थी। प्रमोददास को मैंने कहा कि आप मैडम का आशय नहीं समझे होंगे। मैंने दामोदरद्वारा आप से पुछवाया तो उसने कहां कि वे ईश्वर को मानती हैं। क्या उक्त वार्ता असत्य है ?...............

मैं और सभी आर्य-सज्जन सदा से यही मानते आये हैं कि सामान्यतया आर्यावर्त इंग्लैण्ड, और अमरीका आदि सकल भूमण्डल के मनुष्य भाई हैं, परस्पर मित्र हैं और समान हैं। पर मानते हैं धार्मिक व्यवहारों के साथ, न कि असत्य और अधर्म के साथ।

यहां अंग्रेज़ आर्यों को चाहे जैसा माने। कोई राज्याधिकारी हो अथवा व्यवहारिक हो। मुझ को भी चाहे अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ट माने। परन्तु मैं तो सब मनुष्यो के साथ सुहृद्भाव से वर्तता हूं और और वर्तता आया हू। इन लोगों का यह कहना कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि स्वामी जी के अनन्तर अन्य आर्यसमाजियो से भी वैसा ही वर्ते, तब तक है जब तक वे आर्यावर्तीय आर्यों का पूर्व इतिहास आचार नीति विद्या पुरुषार्थ आदि उत्तम गुणों को नहीं जानते, वेदादि शास्त्रों के सच्चे अर्थ को नहीं समझते। जब उन को ऊपर की बातों का ज्ञान हो जायगा, तो उनका भ्रम अवश्य दूर होजायगा।

....

आप को स्मरण होगा कि काशी की चिट्ठी के उत्तर में आपने मुझे लिखा था कि यदि आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। आपकी यह बात धन्यवाद और प्रशंसा के योग्य है। यदि सभी योरोपियन इस उत्तम बात में सहमत होजांय तो कैसा आनन्द हो। और यदि वे लोग इस सिद्धान्त को न भी माने तो हम आर्यों और आर्यसमाजों की कोई हानि नहीं हो सकती। हम तो सृष्टि के आदि से वेदों को मानते चले आये हैं। क्या हुआ जो थोड़े समय से, अज्ञानवश, कुछ आर्यलोग वेदविरुद्ध चलने लग गए हैं।

इस अवस्था में जिसका जी चाहे आर्य समाज में मिले। उनके न मिलने से हमारी कुछ हानि भी नहीं हो सकती। हां, उनकी हानि अवश्य है। हम तो सब की उन्नति में अपनी उन्नति करना इष्ट मानते हैं। हमारी कामना भी यही है"

इस पत्र व्यवहार से दो तीन बातें स्पष्ट हो जाती है। थ्यासोफी के संचालक भारत के भोले हिन्दू और कुछेक अंग्रेज़ों का सहारा पाकर शिष्यता को त्याग चुके थे। वह लोग, जो शिष्य बनकर स्वामी जी के चरणों में बैठ कर योग का अध्ययन करने आये थे, स्वयं गुरु और योगी बन बैठे थे, जो सोसाइटी आर्यसमाज की शाखा बनने में अपना सौभाग्य समझती थी। वह आर्यसमाजियों को अपने में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दे रही थी। वह विनय और शिष्यभाव, गर्व और गुरुभाव में परिणत हो गये थे। कल के वेदानुयायी विद्यार्थी, आज सर्वमतवादी आचार्य बन रहे थे।

मेरठ के व्याख्यान और ऊपर उदधृत किये पत्रों ने आर्यसमाज और थ्यासोफी का सम्बन्ध तोड़ दिया। १८८२ ई० के मई मास में आर्य-समाज के सामयिक पत्रों में हम यह घोषणा पाते है कि 'आर्यसमाज और थ्यासोफी का सम्बन्ध टूट गया है'

आर्यसमाज से टूट कर थ्यासोफी क्या बनी, और किधर चली, इसे यहां दिखाना अभीष्ट नहीं है। केवल यह दरशाने के लिए कि थ्यासोफी के रूपपरिवर्तनों की तह में कौन सा कारण था, हम उस पत्रकी कुछ पंक्तियां उद्धृत करते हैं, जो १९२२ में थ्यासोफी से त्यागपत्र देते हुए, सोसायटी के पुराने सेवक मि० बी० पी०वाडिया ने लिखी थी। आपने लिखा था—

It (the Theosophical society) is no more a society of seekers of the wisdon but an organisation where many believe in the few and blind following has come to prevail; where shams pass for realities and the credulity of superstition gains encouragement and where the noble ideals of Theosophical Ethics are exploited and dragged in the mire of Psychism and immorality. ... ...Time, energy and money spent in the T. S. have brought the further knowledge that the existing conditions in the T. S. are so deep rooted and so wide-spread that the disease is incurable. etc.... ... ...

थ्योसाफिकल सोसाइटी सचाई के पहिचानने का यत्न करने वालों की एक संस्था नहीं रही, यह एक ऐसी संस्था बन गई है जहां थोड़े व्यक्तियों पर अधिक व्यक्तियों का विश्वास है, जहां अन्धपरम्परा का राज्य है, और जहां थ्योसाफिकल आचार शास्त्र के उत्तम आदर्श भूतवाद और अनाचार के कीचड़ में घसीटे जाते हैं।..................... थ्योसाफिकल सोसाइटी पर जितना समय शक्ति और धन व्यय किया जाता है, उन्होंने

यह साबित कर दिया है कि सोसाइटी की बुराइयां इतनी गहराई तक पहुंची हुई हैं, और इतनी विस्तृत हैं कि उनका इलाज करना कठिन है' इत्यादि

मि० वाडिया सोसाइटी के स्तम्भों में से एक थे। उन्होंने सोसाइटी के बारे में जो अन्तिम सम्मति दी है, वह सिद्ध करती है कि आर्यसमाज से सोसाइटी का सम्बन्ध तोड़ने में ऋषि दयानन्द ने कोई भूल नहीं की। प्रारम्भिक दशा की ही कमज़ोरियां थीं जो पीछे से ऐसा भयंकर रूप धारण करके मि० वाडिया जैसे भक्तों के डरने का कारण बनी।

पन्द्रहवां परिच्छेद

राजपूताने में कार्य

राजपूताने से स्वामी जी को बराबर निमन्त्रण आरहे थे। चिरकाल से उनका विचार था कि राजपूताने के राजाओं का सुधार किया जाय। कई अवसरों पर ऋषि ने यह विचार प्रगट किया था कि भारत का भला तभी होगा, जब रजवाड़े का उद्धार होगा। यदि राजा लोग सुधर जायं, तो प्रजा के सुधरने में क्या विलम्ब हो सकता है? यह विश्वास ऋषि के हृदय में घर कर गया था। यही कारण था कि थोड़ी देर के लिये अपने विस्तृत कर्मक्षेत्र संयुक्त प्रांत और पन्जाब की ओर पीठ करके ऋषि राजपूताने की ओर रवाना हुए।

५ मई १८८१ के दिन ऋषि दयानन्द राजपूताने के हृदयस्थानीय अजमेर शहर में पहुंचे, और धर्म का प्रचार आरम्भ किया। लगभग डेढ़ मास तक ऋषि का सिंह-नाद अजमेर निवासियों के हृदयों को धर्म के मन्दिर में निमन्त्रण देता रहा। जून के अन्त में ऋषि ने अजमेर से मसूदा रयासत की ओर प्रस्थान किया। मसूदा नरेश ने स्वामी जी का बड़ी भक्ति से स्वागत किया। धर्मप्रचार का अटूट क्रम जारी रहा। इस रयासत में बहुत से हिन्दू ऐसे थे, जो मुसल्मानों के राज्य समय में मुसलमान हुए राजपूतों को लड़कियां देने में कुछ भी संकोच नहीं करते थे। स्वामी जी ने उन लोगों को समझायाकि जिनका धर्म भिन्न है,उन्हें कन्या देकर अपनी कन्याओंको धर्मच्युत करना कभी न्याय नहीं है।

मसूदा से ऋषि दयानन्द रायपुर रयासत में पहुंचे। रायपुर के ठाकुर ने बड़ा सत्कार किया और धर्मप्रचार का प्रबन्ध कर दिया। यहां के मन्त्री शेख़ इलाही बख्श नाम के एक मुसल्मान थे, इस कारण रयासत में मुसल्मानों का काफ़ी ज़ोर था। यहां पर काज़ी जी से खूब बहस रही, जिसका परिणाम अच्छा हुआ। रायपुर से आसन उठाकर स्वामी जी ब्यावर और बड़ोदा होते हुए २६ अक्तूबर १८८१ को आर्य-जाति के केन्द्र, राजपूताने के शिरोमणि, चित्तौड़गढ़ में विराजमान हुए।

चित्तौड़गढ़ में उस समय बड़ी धूमधाम थी। लार्ड रिपन ने चित्तौड़ में एक बड़ा दरबार बुलाया था। राजा महाराजा इकट्ठे हुए थे, और सत्संग का बड़ा सुन्दर अवसर

था। स्वामी जी का आतिथ्य उदयपुर रियासत की ओर से था, रियासत के राजकवि श्यामलदास जी स्वामी जी के भक्त थे, उन्होंने ठहरने का तथा विश्राम का पूरा प्रबन्ध कर रखा था। इस राजपूतों के गढ़ में स्वामी जी का प्रताप और दुर्गादास की सन्तान की दशा देखने का अवसर मिला। कहां वह स्वाधीन शेर-कहां यह राज्य और इन्द्रियों के बँधुए। ऋषि ने राजपूताने की दशा को रोते हुए हृदय से देखा। जो लोग वीरता के आदर्श, मानके पुजारी, और स्वाधीनता के पुतले थे, वह ऋषि दयानन्द को विलास के दास, अफीम के पुजारी और अंग्रेजी सरकार के बँधुए दिखाई दिये। ऋषि के शिष्य स्वामी आत्मानन्द जी ने एक घटना बताई है। अपने शिष्यों के साथ ऋषि एक दिन चित्तौड़गढ़ का किला देखने गये। जिस ऋषि दयानन्द की आंखों में पिता माता और बहिनों का वियोग तरी न ला सका, चित्तौड़गढ़ की दशा देख कर उस की आंखों से झर झर आंसू बहने लगे। ऋषि ने एक ठंडी सांस लेकर निम्न लिखित आशयके वाक्य कहे। "ब्रह्मचर्य का नाश होने से भारतवर्ष का नाश हुआ है, और ब्रह्मचर्य का उद्धार करने से ही फिर देश का उद्धार हो सकेगा। आत्मानन्द! हम चित्तौड़गढ़ में गुरुकुल बनाना चाहते हैं।"

स्वामी जी के व्याख्यानो में कई राजा नियमपूर्वक आया करते थे। शाहपुरा रियासत के नाहरसिंह जी स्वामी जी के भक्तों में से थे। वह सत्संग में प्रायः रोज आते थे। महाराणा सज्जनसिंह अब तक स्वामी जीके दर्शनों को नहीं आये थे। एक दिन उपदेश में एक भव्यमूर्ति राजपूत पधारे। सब राजपूतों ने उन्हें बड़ा आदर दिया। व्याख्यान के अन्त में ऋषि ने शाहपुराधीश से कहा कि 'आपका (अभ्यागत महोदय का) पहले तो कभी साक्षात्कार नहीं हुआ दीखता। आप की शोभा वर्णन कीजिए' शाहपुराधीश ने उत्तर दिया कि "आप महाराणा श्री सज्जनसिंह जी हैं' इस प्रकार इन दो महान् व्यक्तियों का परिचय हुआ। महाराणा सज्जनसिंह यों तो अन्य राजपूत राजाओं की भांती ही पराधीन थे, परन्तु पराधीनता में भी उनके अन्दर एक विशेष महानुभावता पायी जाती थी। उनका हृदय विशाल था, विचार उदार थे, चरित में स्वाधीनता की बू थी। उस समय से ऋषि की मृत्यु पर्यन्त दोनों महानुभावों का गुरुशिष्यभाव अटूट और सन्निहित रहा।

चितौड़ गढ़ की एक और घटना भी स्मरणीय है। ऋषि दयानन्द अपने कुछ भक्तों के साथ घूमने जा रहे थे, रास्ते में एक वटवृक्ष के नीचे दो तीन मूर्त्तियां थीं। जब पास से गुज़रे तो ऋषि ने अपना सिर झुका दिया। इस पर एक शिष्य ने कहा कि 'महाराज! चाहे देवमूर्ति का कितना खण्डन कीजिए, पर उसका ऐसा प्रभाव है कि पास जाकर सिर झुक ही जाता है' इस पर ऋषि खड़े हो गये। पास

ही छोटे २ बालक खेल रहे थे। उन में एक चार वर्ष की नंगी बालिका भी थी। ऋषि ने उधर इशारा करते हुए कहा कि 'देखते नहीं हो, यह मातृशक्ति है, जिसने हम सब को जन्म प्रदान किया है' सब शिष्यों पर इस वाक्य का अपूर्व प्रभाव हुआ। ऋषि के मन में स्त्रीजाति के प्रति वैसा घृणा का भाव नहीं था, जैसा प्राय: सन्यासी या विरक्त दिखाया करते हैं। जो मनुष्य एक चार वर्ष की बालिका में माता की भावना कर सकता है, वह स्त्रीजाति के प्रति कैसी प्रतिष्ठा का भाव रखता होगा, और उसका हृदय कितना पवित्र होगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

१८८२ के प्रारम्भ में स्वामी जी को बम्बई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था। जब विदा होने का समय आया तो महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामी जी से प्रार्थना की कि 'भगवन्! उदयपुर में यथा सम्भव शीघ्र ही दर्शन दीजिएगा' ऋषि ने वादा भी कर लिया।

बम्बई का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ। यहां की दो घटनायें वर्णन योग्य हैं। प्रथम यह कि यहां स्वामी जी ने थ्योसाफिकल सोसाइटी के आर्यसमाज से पृथक् होने की अन्तिम सूचना दी। दूसरी यह कि बम्बई आर्यसमाज ने अपने पहले से निश्चित किये विस्तृत नियमों को छोड़ कर लाहौर आर्यसमाज के स्वीकृत नियमों को स्वीकार कर लिया।

यहां इन्हीं दिनों पादरी यूसुफ़ ने एक व्यख्यान दिया, जिस में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ईसाई धर्म ही ईश्वरीय हैं, शेष सब धर्म अनीश्वरीय है। स्वामी जी ने इस व्याख्यान के उत्तर में पादरी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। पादरी महाशय शास्त्रार्थ के लिए तय्यार न हुए। स्वाजी जी ने सार्वजनिक व्याख्यान देकर पादरी महाशय के दावे का भली प्रकार खण्डन कर दिया। बम्बई से चल कर खण्डवा इन्दौर और रतलात में प्राचार करते हुए ऋषि दयानन्द ११ अगस्त १८८२ को फिर उदयपुर पहुंच गये। ठहरने का प्रबन्ध महाराणा जी की ओर से था। सज्जन निवास बाग़ में ऋषि का आसन जमाया गया।

ऋषि दयानन्द प्राय: कहा करते थे कि प्रजा का सुधार राजा के सुधार पर अवलम्बित है। जहां कहीं भी ऋषि को अवसर मिलता, वह शासकों के सुधार में यत्नवान् रहते थे। उदयपुर में पहुंचकर आपने महाराणा के जीवन में परिवर्तन लाने का उद्योग किया। ऋषि को राजपूतों पर बड़ा विश्वास था, और उनमें से भी प्रताप के वंशजों पर तो विशेष आशा की थी। थोड़े ही समय में आपने महाराणा सज्जनसिंह

के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन पैदा कर दिया। आजकल के भारतीय रईसों में जितने दोष होते हैं, महाराणा में स्वामी जी के आने से पूर्व वह सभी थे। विलासिता, शराब, वेश्यागमन, आदि कुवृत्तियों, और मूर्तिपूजा बलिदान के आदि भ्रमात्मक विश्वासों ने महाराणा को घेरा हुआ था। स्वामी जी के उपदेश से बहुत शीघ्र ही सुधार होने लगा। महाराणा ने हर रोज़ स्वामी जी से पढ़ना आरम्भ किया। उन्हें संस्कृत का कुछ अभ्यास पहले से था। शास्त्रों के पढ़ने में उन्हें कोई विशेष दिक्कत न हुई। स्वामी जी ने उन्हें विशेष आग्रह से मनुस्मृति का राजप्रकरण पढ़ाया। वहां राजा के धर्मों का अनुशीलन करके महाराणा की आंखें खुल गईं। उन्होंने जीवन का सुधार आरम्भ कर दिया। महाराणाने अपना समयविभाग निश्चित कर लिया। प्रातः काल उठने लगे, सन्ध्योपासन नियमपूर्वक होने लगा, शराब और वेश्यागमन का त्याग कर दिया। राज्यकार्य से शेष समय में महाराणा सत्संग, और ऋषि से शास्त्रों का अध्ययन करते। धीरे २ महाराणा ने वैशेषिक पातञ्जल और योग दर्शन पढ़ लिये, और प्राणायाम की विधि भी ऋषि से सीख ली।

यहां उन दिनों पण्डित विष्णुलाल मोहन लाल जी पण्ड्या राज्य के कार्यकर्त्ताओं में थे। पण्डित जी ऋषि के भक्त थे। वह प्रायः स्वामी जी से ज्ञानचर्चा किया करते थे। एक दिन निम्न लिखित आशय की बातचीत हुई—

पण्ड्या जी ने पूछा-'भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहां जातीय उन्नति कब होगी?'

स्वामी जी ने उत्तर दिया-"एक धर्म एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहां भाषा भाव और भावना में एकता आजाय, वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक एक करके प्रविष्ट करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूं कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्यों में धर्म भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें, फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जायगा।" (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश) ऋषि ने एक दिन कविराज श्यामलदास जी से कहा कि 'मेरे मरने के पश्चात् मेरी अस्थियों को किसी खेत में डाल देना, कोई समाधि या कोई चिन्ह कभी न बनाना।'

कविराज ने कहा "महाराज! मैंने सोच रखा था कि अपनी एक पत्थर की मूर्त्ति बनवाऊं और उसे किसी जगह रख दूं ताकि मेरे पीछे वह मेरा स्मारक समझा जावे।"

स्वामी जी ने तुरन्त कहा कि

"देखो कविराज जी ! ऐसा भूलकर भी मत करना। बस यही तो मूर्त्तिपूजा की जड़ हुआ करती है"

ऋषि के यह वाक्य स्मरणीय हैं। ऋषि मूर्त्तिपूजा को हानिकारक समझते थे। वह जानते थे कि लोग असली आशय को भुलाकर स्थूलरूप में उलझ जाते हैं। ऋषि जीवित जागृत स्मारकों को मानते थे, जड़ या मुर्दा स्मारकों को नहीं, ऋषि अपना स्मारक आर्य समाज को, वेदभाष्य को और परोपकारिणी को मानते थे, किसी शिला या मकान को नहीं। जड़ स्मारक स्वामी जी के आशय के प्रतिकूल था।

एक दिन महाराणा सज्जनसिंह अकेले में ऋषि दयानन्द से बोले कि 'महाराज ! यदि आप देशकालोचित समझ कर मूर्त्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दें तो अति उत्तम हो क्योंकि आप जानते हैं कि यह रियासत एकलिंगेश्वर महोदय के आधीन चली आती है। यदि आप स्वीकार करें तो इस मन्दिर के महन्त बन सकते हैं। वैसे तो यह राज्य भी उसी मन्दिर के समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी भी लाखों की आय है। उसपर आप का अधिकार हो जायगा।"

ऋषि को क्रोध नहीं आता था, परन्तु अपने शिष्य की इस बात से वह भी झुंझला उठे। ऋषि ने उत्तर दिया "महाराणा जी ! आप मुझे लालच देकर उस सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर की अवज्ञा करने पर उद्यत कराना चाहते हैं। ये आप के मन्दिर और ये आपकी छोटी सी रियासत (जिससे मैं एक दौड़ में बाहर जा सकता हूं) मुझे किसी दशा में उस परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध नहीं कर सकते, जिसके राज्य से कोई कभी किसी प्रकार भी बाहिर नहीं जा सकता। आप निश्चय रखें, कि मैं परमात्मा और वेदों की आज्ञा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

यह उत्तर सुनकर महाराणा लज्जित हुए और क्षमा मांगने लगे।

सोलहवां परिच्छेद

परोपकारिणी सभा का निर्माण

ऋषि दयानन्द की दूरदर्शिनी दृष्टि अब समीप आते हुए अन्त को देख रही थी। मेरठ से चलते हुए ऋषि ने आर्यपुरुषों को जो आदेश दिया था, उसके वाक्य बतलाते हैं कि ऋषि भविष्य को देख रहे थे। आपने व्याख्यान में कहा था कि "महाशयो! मैं कोई सदा बना नहीं रहूंगा। विधाता के न्यायनियम में मेरा शरीर भी क्षणभंगुर है। काल अपने कराल पेट में सब को पचा डालता है। अन्त में इस देह के कच्चे घड़े को भी उसके हाथों टूटना है। सोचो, यदि अपने पांव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आंख मीचने के पीछे क्या करोगे? अभी से अपने को सुसज्जित कर लो। स्वावलम्ब के सिद्धान्त का अवलम्बन करो। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य बन जाओ। किसी दूसरे के सहारे की आशा छोड़ अपने ही पर निर्भर करो" ऋषि के हृदय में यह चिन्ता थी कि 'मेरे मरने के पीछे सभाओं का संभालने वाला कौन होगा?'

संभालने को बहुत कुछ था। सबसे प्रथम, ऋषि समझते थे कि आर्य समाजें देश भर में बिखरी हुई हैं। उनका एक केन्द्रभूत संगठन नहीं हैं। आपस के लड़ाई झगड़ों को निपटाने का कोई उपाय नहीं है। दूर २ के प्रांतों में स्थापित हुई समाजें एक दूसरे से कोई सहायता नहीं ले सकती।

दूसरी चिन्ता ऋषि को विदेशप्रचार की थी। उस समय तक प्रांतिक प्रतिनिधि सभायें भी नहीं बनी थीं, सार्वदेशिक सभा का तो अभी विचार ही दूर था। प्रचार का और विशेषतया विदेश प्रचार का कार्य छोटी सभाओं की शक्ति से बाहिर था। ऋषि के चित्त में यह विचार घर किये हुए था कि यदि वैदिक धर्म के योग्य प्रचारक भारत से बाहिर भेजे जांय, तो उन्हें अवश्य सफलता होगी'।

इसके सिवा ऋषि ने वेदभाष्य तथा अपने अन्य ग्रन्थ छपवाने के लिये १८८० में, बनारस में वैदिक प्रेस की स्थापना की थी। वह प्रेस अभी तक निराधार था। ऋषि को निरन्तर भ्रमण करना पड़ता था, इस कारण हिसाब में सदा गड़बड़ रहती थी। जब सामने ही यह हाल था, तो पीछे के लिये क्या भरोसा हो सकता था? ऋषि के ग्रन्थ जहां तहां छपे पड़े थे। उनका एक स्थान में संग्रह और संभालने का यत्न भी आवश्यक था।

इन सब बातों पर विचार करके ऋषि ने एक ऐसी सभा का बनाना निश्चित किया जो इन त्रुटियों को पूरा कर सके। उदयपुर में 'परोपकारिणी सभा' का विचार उत्पन्न हुआ और पकाया गया। वहीं वह कार्य में परिणत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि महाराणा सज्जन सिंह के सुधार ने ऋषि के हृदय को बड़ा सन्तोष दिया। हिन्दूपति के वैदिकधर्मी बन जाने पर ऋषि को यह भान होने लगा कि अब आर्यसमाज निराधार नहीं है। महाराणा की सज्जनता और दृढ़ता को देखकर ऋषि को विश्वास हो गया कि मेरे पीछे आर्यसमाज को लौकिक सहारे की कमी नहीं रहेगी। इसमें सन्देह भी नहीं कि यदि ऋषि के पीछे इतना शीघ्र उनके योग्यतम शिष्य न चल बसते तो परोपकारिणी सभा इतना शीघ्र ऐसी निर्जीव संस्था न हो जाती। परोपकारिणी सभा का निर्माण एक वसीयतनामे के रूप में हुआ। वसीयतनामे का प्रारम्भ इस प्रकार था

'मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेईस (२३) सज्जन आर्यपुरुषों की सभा को वस्त्रपुस्तक धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उसको परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अध्यक्ष बनाकरे यह स्वीकार पत्र लिखे देता हूं कि समय पर काम आवे'

इस प्रकार परोपकारिणी सभा ऋषि की उत्तराधिकारिणी बनाई गई थी। २३ सभासदों में से सभापति का स्थान मेवाड़पति महाराणा सज्जनसिंह को प्रदान किया गया था। सभासदों में कई राजपूत नरेश और रईस थे। उनके अतिरिक्त देश भर के प्रसिद्ध २ आर्यपुरुष और ऋषि के शिष्यों के नाम सभासदों की सूचि में प्राप्त होते हैं। राव बहादुर रानडे, राय बहादुर पं० सुन्दर लाल, राजा जयकृष्ण दास, ला० साईंदास, पं० श्यामजीकृष्ण वर्मा आदि महानुभावों को सभा के सभासद् बनाया गया था। परोपकारिणी के सभ्यों की सूचि का ध्यानपूर्वक आलोचन हमें बतला सकता हैं कि जीवन काल में ही ऋषि का प्रभाव कितना विस्तृत हो चुका था।

सभा के अन्य उद्देश्यों पर ध्यान देने से ऋषि के महान् उद्देश्य का परिचय मिलता है। पहला उद्देश्य है, स्वामी जी की सम्पत्ति को वेद और वेदांग आदि के पढ़ने पढ़ाने में और वैदिक ग्रन्थों के छपवाने में व्यय करना। शिक्षा का प्रबन्ध और पुस्तक प्रकाशन, यह दो ही विभाग इतने हैं कि एक सभा के लिये पर्याप्त हैं। दूसरा उद्देश्य रखा गया है, देश और देशान्तर में भोजनके लिये उपदेशकमण्डलियों के प्रबन्ध में सम्पत्ति का व्यय करना। तीसरा उद्देश्य है भारत के दीन और अनाथ जनों को सहायता देना। कितने विस्तृत उद्देश्य हैं। लेख और वाणी द्वारा देश और विदेश में प्रचार परोपकारिणी का पहला कर्त्तव्य है। दूसरा कर्त्तव्य है, वैदिक शिक्षाका प्रबन्ध। उसका अन्तिम

कर्त्तव्य दीनों और अनाथों को उठाना और उनकी सहायता करना है। ऋषि ने परोपकारिणी के लिये बड़ा भारी प्रोग्राम बनाया था। वह परोपकारिणी को अपना उत्तराधिकारी और आर्यसमाज का रक्षक बनाना चाहते थे।

वसीयतनामे के अन्तिम भाग में सभा के साधारण नियम हैं। सभा में वही रह सकेगा, जो सदाचारपूर्वक जीवन बिताये। दुराचारी को निकाल दिया जायगा। अधिक समय तक कोई स्थान रिक्त नहीं रह सकेगा। यदि सभा में कोई झगड़ा उठे तो सभा में फैसला होने की अन्य कोई भी सूरत होने तक उसे कचहरी में नहीं ले जाना चाहिए। यदि कोई सूरत बाकी न रहे तो न्यायालय से निर्णय होना चाहिए। यह नियम दिखलाते हैं कि सार्वजनिक संगठनों के निर्माण में ऋषि दयानन्द सिद्धहस्त थे—और सभ्यों की शक्ति को परिमित करने के लाभों को खूब समझते थे।

इन उद्देश्यों से और इन नियमों से ऋषि ने परोपकारिणी का निर्माण किया, और अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति सभा को सौंप दी। अपने जीवनकाल में ही प्रेस पुस्तक आदि सभा को दे दिए। ऋषि को सभा से बड़ी आशायें थी। वह सभा द्वारा केवल अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति को ही सुरक्षित नहीं करना चाहते थे, वह राजाओं और अन्य शिक्षित महानुभावों को इकट्ठे बिठा कर एक दूसरे के समीप लाना चाहते थे, वह राजपूताने के अशिक्षित नरेशों को भारतहित के सार्वजनिक कार्यों में लगाना चाहते थे। परोपकारिणी का निर्माण उस सपने का फल था जो चित्तौड़ की चोटियों पर खड़े होकर ऋषि ने देखा था। ऋषि इस सभा द्वारा सोये हुए राजपूताना—शेर को जगाना चाहते थे। वह आर्य जाति द्वारा मनुष्य जाति के धार्मिक और सामाजिक उद्धार का नेतृत्व आर्य नरेशों के हाथ में देना चाहते थे।

यह दूसरा प्रश्न है, कि परोपकारिणी को कहां तक सफलता हुई ? पूरी सफलता न होने के कारण हुए। पहला कारण तो ऋषि का शीघ्र ही स्वर्गवास था। दूसरा कारण ऋषि के थोड़ा ही समय पीछे उदयपुरनरेश का देहान्त था। तीसरा कारण यह था कि आर्य-समाज का प्रतिनिधियों द्वारा संगठन बहुत शीघ्र ही बन गया, और आर्य प्रजा की सम्पूर्ण शक्तियां उधर ही लग गई। अनेक प्रांतों में, सैंकड़ों मीलों की दूरी पर बैठे हुए रईस और समृद्ध महानुभावों के कार्य पर कड़ा निरीक्षण रखने की जितनी आवश्यकता थी, आर्यपुरुष उसे पूरा न कर सके। वह अपनी प्रतिनिधि-सभाओं और धीरे २ सार्वदेशिक सभा में इतने लीन हो गये कि परोपकारिणी की सुध न ली। परोपकारिणी भी अनुकूल अवसर जानकर स्वप्नावस्था में पड़ी २ जीवन के दिन काटने लगी।

सत्रहवां परिच्छेद

जीवन का अन्तिम दृश्य

—:•:—

उदयपुर में स्वामी जी १८८३ ईस्वी के फरवरी मास के अन्त तक रहे। मार्च के प्रारम्भ में आप शाहपुरा रयासत की राजधानी में पहुंच गए। शाहपुराधीश राजा नाहरसिंह जी स्वामी जी के भक्तों में से थे। उन्होंने बड़े भक्तिभाव से स्वागत किया। अपने विशेष बाग़ नाहिर-निवास में स्वामी जी का आसन जमाया। प्रतिदिन वैदिक धर्म का प्रचार होने लगा। महाराज स्वयं प्रतिदिन सायंकाल ३ घण्टेके लिए शिष्य भाव से आते थे, और अध्ययन करते थे। मनुस्मृति योगदर्शन वैशेषिक दर्शन आदि के आवश्यक भागों का महाराज ने पाठ समाप्त कर लिया।

स्वामी जी के उपदेशों से प्रेरित होकर महाराज ने महलों में एक यज्ञशाला बनवाई, जिस में प्रतिदिन हवन कराने का संकल्प किया। मई मास के मध्य तक शाहपुरे में धर्मवृष्टि करके ऋषि १७ मई १८८३ को जोधपुर की ओर रवाना हुए। शाहपुरे से जोधपुर की ओर रवाना होने के समय महाराज नाहरसिंह ने स्वामी जी से कहा कि 'महाराज! आप जोधपुर तो जाते हैं, परन्तु वहां वेश्या आदि का खण्डन न करना' ऋषि ने उत्तर दिया कि ' राजन! मैं बड़े वृक्ष को नहेरने से नहीं काटता, उसके लिए तो बड़े शस्त्र की आवश्यकता होगी।'

जोधपुर में कर्नल सरप्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईस ऋषि के शिष्य हो चुके थे। वह लोग देर से निमन्त्रण भेज रहे थे। अब समय पाकर ऋषि ने जोधपुर राज्य में भी सुधार का शब्द उठाने का संकल्प किया। शाहपुरे से आप अजमेर आये और वहां से जोधपुर के लिए रवाना हुए। अजमेर के आर्यपुरुषो ने ऋषि की सेवा में उपस्थित होकर फिर निवेदन किया कि 'अब आप मारवड़ प्रान्त में पधारते हैं, वहां के मनुष्य प्राय: गंवार और उजड्ड हैं, और उनका स्वभाव और बर्ताव भी अच्छा नहीं हैं, इस लिए अभी आप वहां न जाइये।' ऋषि ने उत्तर दिया कि 'यदि लोग मेरी उंगलियों की बत्तियां बनां कर जलावें, तब भी मुझे कुछ शंका नहीं हो सकती। मैं वहां जाऊंगा और अवश्य वैदिक धर्म का प्रचार करूंगा'

इस उत्तर को सुन कर सब चुप हो गये परन्तु एक सज्जन ने निवेदन किया कि 'तथापि आप वहां सोच समझ कर और मधुरता से काम लेना, कारण यह कि वहां के रहने वाले कठोर हृदय और कपटी होते हैं।' इसका उत्तर ऋषि ने दिया कि 'मैं पाप के बड़े २ वृक्षों की जड़ें काटने के लिए तीक्ष्ण कुठारों से काम लूंगा, न कि उन्हें बढ़ाने के लिये कैंचियोंसे उनकी कलम करूंगा।''

जोधपुर में स्वामी जी का भली प्रकार स्वागत हुआ। राजा जवानसिंह जी ने आवभगत की, पीछे से महाराजा प्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईसों ने दर्शन किये और अतिथ्य का उचित प्रबन्ध किया। कुछ दिनों पीछे स्वयं जोधपुराधीश महाराज यशवन्तसिंह भी दर्शनों को आये। ऋषि ने उन्हें बहुत उपदेश दिया। प्रति दिन सायंकाल के समय स्वामी जी सर्व साधारण को धर्मोपदेश करते और फिर दो घंटे तक राजभवन में जाकर महाराज तथा उनके अन्य समीपवर्तियों की शंकाओं का निवारण करते। महाराज प्रतिदिन ऋषि से कुछ न कुछ सीखते थे। ऋषि ने अपने व्याख्यानों में मूर्ति पूजा, वेश्यागमन, चक्रांकितसम्प्रदाय और इस्लाम का बड़े जोर से खंडन किया। जोधपुर में यही शक्तियां थीं। जोधपुर के पुजारी बड़े प्रचंड थे, महाराज और रईसों पर वेश्याओं का पूरा अधिकार था, रियासत में चक्रांकितों का ज़ोर था, और राज्य के मुसाहिब आला भय्या फैजुल्लाखां इस्लाम के खण्डन से बहुत क्षुब्ध हो गये थे। एक रोज़ उन्होंने स्वामी जी को यहां तक कह दिया कि यदि इस समय मुसलमानों का राज्य होता तो आप ऐसे व्याख्यान नहीं दे सकते और देते तो जीवित नहीं रह सकते थे। स्वामी जी ने उसका उत्तर दिया कि 'अस्तु कोई बात नहीं है। मैं भी उस समय दो क्षत्रिय राजपूतों की पीठ ठोंक देता तो वह उन लोगों को अच्छी तरह समझ लेते।''

इस प्रकार जोधपुर में स्वामी जी के शत्रुओं की संख्या बढ़ रही थी। इसी अवसर पर एक और घटना हो गई, जिसने विरोधियों के बल को बहुत बढ़ा दिया। महाराज यशवन्तसिंह का नन्हीजान नाम की एक वेश्या से गहरा सम्बन्ध था। एक रोज़ अपने निश्चित नियम के अनुसार स्वामी जी दरबार में पहुंचे। उस समय महाराज के पास नन्हीजान आई हुई थी। स्वामी जी के आने का समय जानकर महाराज उसे डोली में रवाना कर रहे थे। डोली उठने से पूर्व ही स्वामी जी को समीप आता देख कर महाराज घबरा गये और डोली को स्वयं कन्धा लगाकर उठवा दिया। ऋषि ने यह देख लिया। इससे उनका चित्त बहुत ही अधिक क्षुब्ध हुआ। उस दिन अपने उपदेश में ऋषि ने राजधर्म का वर्णन करते हुए बताया कि राजा सिंह के समान हैं

और वेश्यायें कुतियों के समान। राजाओं का सम्बंध सिंहनियों से ही उचित है, कुतियों से नहीं। महाराज का सिर लज्जा से झुक गया और उन्होंने अपने सुधार का निश्चय किया। नन्हीजान को जब यह समाचार मिला तो वह जल उठी। उसका क्रोध सीमा को पार कर गया।

२९ सितम्बर को रात के समय सोने से पूर्व स्वामी जी ने रोज़ के नियम से गर्म दूध मंगवा कर पिया। स्वामी जी का रसोइया जगन्नाथ नाम का एक ब्राह्मण था। दूध पीकर स्वामी जी सो गये। थोड़ी देर पीछे पेट में दर्द उठी और जी मचलाने लगा। रात को कई बार वमन हुआ। स्वामी जी ने किसी को सूचना न दी परन्तु निर्बलता के कारण प्रातः काल देर में उठे और घूमने न जा सके। घर की शुद्धि के लिये आपने हवन की आज्ञा दी। हवन किया गया। स्वामी जी की दशा और अधिक खराब होने लगी। उदर शूल पेचिश और वमन का ज़ोर बढ़ने लगा। डाक्टर सूर्यमल जी स्वामी जी के भक्त थे, पहले उनका इलाज प्रारम्भ हुआ, परन्तु शीघ्र ही दरबार की ओर से डा० अलीमर्दानखां को भेजा गया। इलाज बहुत हुआ परन्तु दशा सुधरने की जगह बिगड़ती ही गई। प्रतिदिन दस्तों की संख्या बढ़ने लगी, मुंह सिर और माथा छालों से भर गये, हिचकी बंध गई और शरीर बहुत ही कृश होने लगा। डा० अलीमर्दानखां का इलाज बिलकुल उल्टा पड़ रहा था। इस घातक परिवर्तन की तह में डाक्टर की मूर्खता थी, या कोई और गहरा भाव था—यह निश्चयपूर्वक कहने का इतिहासलेखक को तब तक कोई अधिकार नहीं, जब तक कि किसी एक कल्पना की पुष्टि में कोई पुष्ट युक्ति न दी जा सके। हां यह बात अवश्य सन्देह जनक हैं कि दशा तो बिगड़ रही थी और डाक्टर साहिब यही बताते थे कि दशा अच्छी हो रही है। ऋषि के शरीर में ज़हर घर कर गई थी। डाक्टरों ने यही सम्मति दी थी कि रोगी को ज़हर दी गई है। प्रतीत होता है कि कपटियों की प्रेरणा से जगन्नाथ ब्राह्मण ने रात को सोते समय दूध में ज़हर मिलाकर पिला दी थी। कहा जाता है कि पता लगने पर इस आशंका से कि मेरे भक्त रसोइये को सतायें नही, दयालु ऋषि ने किराया देकर उसे नैपाल की ओर भाग जाने को कहा था।

इतने कष्ट में भी ऋषि का धैर्य आश्चर्यजनक था। उसे देखकर मित्र और शत्रु दांतों तले उँगली दबाते थे। इतना कष्ट और 'आह' तक नहीं। धैर्य से रोग को सह रहे थे और पूछने पर केवल यथार्थ दशा बतला देते थे। शरीर छालों से भरा हुआ था, बोलने में असह्य कष्ट होता था, हिलना डोलना भी कठिन हो रहा था, ऐसी दशा में भी ऋषि के मुंह पर न घबराहट थी और न खिजलाहट थी। वही गम्भीर चेहरा था और वही शात मुद्रा थी। जिन लोगों ने उस दशा में स्वामी दयानन्द को देखा,

उन्होंने अनुभव किया कि इस मनुष्य में अवश्य ही कोई दिव्यशक्ति काम कर रही है। उनके हृदयों में यह बात अंकित हो गई कि इस महापुरुष के हृदय में निश्चय से परमात्मा की शक्ति काम कर रही है।

स्वामीजी की बीमारी का वृत्तान्त बहुत दिनों तक छिपा न रहा। अजमेर में समाचार पहुंचते ही आर्यपुरुष जोधपुर के लिए रवाना हुए और स्वामी जी की दशा देखकर आश्चर्यित हो गये। रोग की दशा, इलाज की शिथिलता और सेवा की असुविधा देखकर आर्यपुरुषों ने ऋषि से आग्रह किया कि आप आबू पहाड़ पर चलें। ऋषि ने स्वीकार कर लिया। महाराज को सूचना मिलने पर पहले तो वह बहुत दुःखित हुये परन्तु फिर स्वामीजी का आग्रह देखकर खिन्न मन से आदरपूर्वक विदाई का प्रबन्ध कर दिया। विदाई के समय स्वयं उपस्थित होकर रास्ते के आराम का भली प्रकार प्रबन्ध कर दिया। जोधपुर से डोली में स्वामी जी आबू पर्वत पर गये, परन्तु वहां भी कोई विशेष आराम दिखाई न दिया। तब स्वामी जी के शिष्य उन्हें अजमेर वापिस ले गये। इस यात्रा में उन्हें बहुत शारीरिक कष्ट हुआ परन्तु अच्छा इलाज करने की और स्वय-सेवा करने की शिष्यों की प्रबल इच्छा में बाधा डालना उन्होंने उचित न समझा। अजमेर में स्वामी जी को एक कोठी में ठहराया गया, और डा० लक्ष्मण दास जी का इलाज प्रारम्भ हुआ।

ऋषि का मृत्युसमय निकट आ रहा था। इलाज और सेवा कुछ परिवर्तन पैदा न कर सके। अन्तिम समय का दृश्य एक दर्शक की लेखनी ने जिन सरल शब्दों में चित्रित किया है, हम उससे उत्तम वर्णन नहीं कर सकते, इस कारण उसी को उद्धृत करते हैं।

"रेल से उतार कर स्वामी जी को पालकी में लिटा दिया गया, और सावधानी से उन्हें एक कोठी में ले आये जो पहले से इस काम के लिये नियत कर रखी थी। उस समय रात के तीन बजे थे। अक्तूबर का अन्त था, लोगों को सर्दी मालूम देती थी परन्तु स्वामी जी के मुंह से केवल 'गर्मी' 'गर्मी' का शब्द निकलता था। कोठी के सब दरवाज़े खुलवा दिये गये तब भी स्वामी जी को शान्ति न हुई। दूसरे दिन डा० लक्ष्मण दास जी का इलाज शुरू हुआ, पर उनकी दशा में कुछ अन्तर न हुआ। एक वार स्वामी जी ने अपने मनुष्यो से कहा कि 'हमको मसूदा ले चलो'। इसपर सबने कहा कि आराम होने पर हम आपको वहां पहुंचा देंगे, इस दशा में बारबार यात्रा करना ठीक नहीं हैं। इसपर स्वामी जी ने कहा कि 'दो दिन में हमको पूरा आराम पड़ जायगा'। यह उत्तर स्मरण रखने योग्य है। अब स्वामी जी

के सारे शरीर में छाले ही छाले दीखने लगे। २९ अक्तूबर को स्वामी जी का शरीर अत्यन्त ही निर्बल हो गया। अपने सेवकों से कहा कि हमें बिठा दो। जब बिठाया गया तो कहा कि छोड़ दो, हमें सहारे की आवश्यकता नहीं है। सो कितनी देर तक बिना सहारे बैठे रहे। उस समय सांस जल्दी २ चल रहा था पर स्वामी जी उसे रोक कर बल से फेंक देते थे, और ईश्वर के ध्यान में मग्न हो रहे थे। रात को कष्ट अधिक रहा। दूसरे दिन ३० अक्तूबर को डाक्टर न्यूमन साहेब बुलाये गये। जिस समय उक्त डाक्टर साहिब ने स्वामी जी को देखा तो बड़े आश्चर्य से कहने लगे कि 'धन्य है इस सत्पुरुष को, हमने आजतक ऐसा दिल का मज़बूत कोई दूसरा मनुष्य नहीं देखा, कि जिसको इसप्रकार नख से शिख तक अपार पीड़ा हो और वह तनिक भी आह वा ऊह न करे।' उस समय स्वामी जी के कण्ठ में कफ़ की बड़ी प्रबलता थी, जिसकी निवृत्ति के लिये डाक्टर न्यूमन ने कई उपाय किए, परन्तु उनसे कुछ लाभ न हुआ। ११ बजे दिन के स्वामी जी का स्वास विशेष बढ़ने लगा, और कहा कि हम शौच जायेंगे। उस समय स्वामी जी को चार आदमियों ने उठाया, और शौच करने की चौकी पर बिठा दिया। शौच गये, और आप पानी लिया। हाथ धोये, दांतन ली और कहा कि अब हमको पलंग पर ले चलो। आज्ञानुसार पलंग पर ला बिठाया। कुछ देर बैठकर फिर लेट गये। श्वास बड़े वेग से चलता था, और ऐसा प्रतीत होता था कि स्वामी जी श्वास को रोककर ईश्वर का ध्यान करते हैं। उस समय स्वामी जी से पूछा गया कि 'महाराज! कहिये, अब आप की तबीयत कैसी है?।' कहने लगे कि अच्छी है, एक मास के पीछे आज का दिन आराम का है।

इस समय लाला जीवनदास जी ने, जो लाहौर से स्वामी जी को देखने अजमेर गये थे, स्वामी जी से अभिमुख होकर पूछा कि 'महाराज! इस समय कहां हैं?' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'ईश्वरेच्छा में।''

''उस समय श्रीयुत के मुखपर किसी प्रकार का शोक या घबराहट प्रतीत नहीं होती थी। ऐसी वीरता के साथ दुःख को सहन करते थे कि मुंह से कभी हाय या शोक नहीं निकला। इसी प्रकार स्वामी जी को बातचीत करते २ पांच बज गये, और बड़ी सावधानता से रहे। इस समय हम लोगों ने श्रीयुत से पूछा कि 'कहिये, अब आप की तबीयत का क्या हाल है?' तो कहने लगे कि 'अच्छा है, तेज और अन्धकार का भाव है' इस बात को हम कुछ न समझ सके क्योंकि स्वामी जी इस समय सरल बातचीत कर रहे थे। साढ़े पांच बजे का समय आया तो हम लोगों से स्वामी जी ने कहा कि 'अब सब आर्य जनों को जो हमारे साथ और

दूर २ देशों से आये हैं, बुला लो और हमारे पीछे खड़ा कर दो। कोई सन्मुख खड़ा न हो' बस आज्ञा पानी थी, वही किया गया।

जब सब लोग स्वामीजी के पास आ गये तब श्रीयुत ने कहा कि चारों ओर के द्वार खोल दो और ऊपर की छत के दो छोटे द्वार भी खुलवा दिये। इस समय पण्ड्या विष्णुलाल मोहनलाल भी श्रीमान् उदयपुराधीश की आज्ञानुसार आगये। फिर स्वामी जी ने पूछा कौनसा पक्ष क्या तिथि और क्या वार हैं ! किसी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष और शुक्लपक्ष की सन्धि अमावस मंगलवार है। यह सुनकर कोठी की छत और दीवारों की ओर दृष्टि की, फिर पहले वेदमन्त्र पढ़े तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वर की कुछ उपासना की, फिर भाषा में ईश्वर के गुणों का थोड़ा सा कथन कर बड़ी प्रसन्नता और हर्षसहित गायत्रीमन्त्र का पाठ करने लगे, तत्पश्चात् हर्ष और प्रफुल्लित चित्त सहित कुछ देर तक समाधियुक्त नयन खोल यों कहने लगे कि "हे दयामय ! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर। तेरी यही इच्छा हैं। तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो ! अहा तैने अच्छी लीला की," बस इतना कह स्वामी जी महाराज ने जो सीधे लेट रहे थे, स्वयं करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोक कर एक वार ही निकाल दिया।"

(आर्यधर्मेन्द्र जीवन)

लेखक के शब्द सरल और अकृत्रिम हैं। यह शब्द बताते हैं कि दर्शकों के हृदयों पर उस तपस्वी की मृत्यु का गहरा असर हुआ था। कहते हैं कि लाहौर से पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी लाला जीवनदासजी के साथ ऋषि के दर्शनों को गये हुए थे। पं० गुरुदत्तजी इस से पूर्व अर्ध-नास्तिक थे। विज्ञान के धक्के ने हृदय के ईश्वर-विश्वास को हिला दिया था। ऋषि की मृत्यु के दिव्य-दृश्य को देखकर पण्डितजी के कोमल हृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। एक आस्तिक किस शान्ति से मर सकता है, यह देख कर गुरुदत्त का हृदय पिघल गया और जहां नास्तिकता के कारण शून्य हो रहा था वहां विश्वास और श्रद्धा का सुगन्धित पवन बहने लगा। जो अविश्वासी हृदय के साथ मरता है, उसे भविष्य में निराशा दिखाई देती है। जिसे ईश्वर पर भरोसा नहीं, उसके लिये मौत एक अथाह अन्धेरी खाई है। जिसने जीवन में केवल आस्तिकता का दम्भ भरा हो, मृत्यु के समय उसके मुंह पर से पर्दा उठ जाता है और जो प्रत्यक्ष में सन्तुष्ट दिखाई देता था, वह असलियत में अशान्तमय दिखाई होता है। मृत्युकाल सब पर्दों को उघाड़ देता हैं। उस समय कोई भाव छुपा नहीं रहता। ऋषि की मृत्यु बताती है कि उसका हृदय ईश्वर-विश्वास और धार्मिक श्रद्धा से परिपूर्ण था।

उसका जीवन उज्वल था, परन्तु मृत्यु उससे भी बढ़कर थी—वह दिव्य थी। इस भूलोक पर ऐसे दृश्य कम दिखाई देते हैं। वह मृत्यु थी, जो नास्तिक हृदय के मरुस्थल में से भी आस्तिकता की सरस्वती को बहा सकती थी।

जीवन के समय ऋषि के मित्र भी थे, और शत्रु भी थे; परन्तु मृत्यु ने उन सब भेदों को दूर कर दिया। देश में मृत्यु का समाचार फैलते ही एक ऐसा सार्वजनिक सहानुभूति का शब्द उठा कि छोटे २ विक्षोभ दूर होगये। ईसाई, मुसलमान, ब्राह्मो, थ्यासोफिस्ट, सभी ने एकस्वर से आर्यजाति के नेता की मृत्यु पर दुःख प्रकाशित किया। जीतेजी जो मुंह संकोचवश मौन रहते थे, वह खुल उठे और भारत के नेताओं और समाचार-पत्रों ने दयानन्द की अकाल मृत्यु को देश के दुर्भाग्य का चिन्ह समझा। सभी प्रकार के भारत हितैषी सज्जनों ने ऋषिकी मृत्यु पर शोक प्रगट किया। आर्य-समाज को कितना कष्ट हुआ होगा, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। आर्य-समाज का सर्वस्व लुट गया। उसका मूलाधार नष्ट हो गया। समाजें अनाथ हो गईं। उस समय समाजों की जो अनाथ दशा थी, उसकी कल्पना इस समय करना कठिन है। अब तो आर्य प्रतिनिधि सभायें हैं, दर्जनों विद्वान् हैं, पुराने २ विश्वासपात्र नेता हैं, और एक के ख़ाली स्थान पर बैठनेवाला दूसरा महानुभाव विद्यमान है। उस समय आर्यसमाज और आर्यसमाजियों को एक दयानन्द का भरोसा था। कोई झगड़ा हो तो वही निपटायें, शास्त्रार्थ हो तो वही पहुंचें, उत्सव की शोभा उन्हीं से हो—सारांश यह कि समाज का सर्वस्व केवल वही थे, आर्यसमाज में जो व्यापी मातम की घटा छा गई, वह यथार्थ ही थी।

आर्यसमाज के बाहिर समझदार हिंदुओं ने स्वामी जी के वियोग को किस प्रकार अनुभव किया, उसका दिग्दर्शन पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित, प्रयाग के 'हिंदी प्रदीप' के लम्बे लेख की निम्न-लिखित पंक्तियों से हो सकता है। स्वामी जी की मृत्यु का समाचार सुनाकर प्रदीप ने लिखा था, "हा! आज भारतोन्नतिकमिलिनी का सूर्य अस्त होगया। हा! वेद का खेद मिटानेवाला सद्वैद्य लुप्त हो गया। हा दयानन्द सरस्वती! आर्यों के सरस्वतीजहाज़ की पतवार बिना दूसरे को सौंपे तुम क्यों अन्तर्धान हो गये! हा सच्ची दया के समुद्र। हा! सच्चे आनन्द के वारिद! अपनी विद्यामयी लहरी और हितोपदेशरूपी धारा से परितप्त भारत भूमिको आर्द्र कर कहां चले गये? हा! चार दिन के चतुरानन! इस असभ्यताप्रिय मण्डली में आपने अपनी विलक्षण चतुराई को क्यों इस प्रकार सरल भाव के फैलाया!" इसी प्रकार लम्बा खेदपूर्ण लेख लिख कर भट्टजी ने यह प्रकाशित कर दिया कि जो जन

आर्यसमाज के सभासद् नहीं परन्तु आर्यत्व से प्रेम करते थे, वह दयानन्द को आर्य जातिका नेता समझते थे, संकुचित मत का प्रचारक नहीं।

मुसल्मान दुनिया के विचारों का प्रतिबिम्ब उस समय के भारतीय मुसलमानों के नेता सर सय्यद अहमदखां की राय में दिखाई दे सकता है। लाहौर के 'कोहेनूर' में आपने लिखा था-''निहायत अफ़सोस की बात है कि स्वामी दयानन्द साहिब ने जो संस्कृत के बहुत बड़े आलम और वेद के बहुत बड़े मुहक्किक थे, ३० वीं अक्तूबर १८८३ को ७ बजे शाम के अजमेर में इन्तकाल किया। इलावा इलम ओ फज़ल के निहायत नेक और दरवेश सिफ्त आदमी थे। इनके मुतअक्कद इनको देवता मानते थे, और बेशक वह इसी लायक थे। वह सिर्फ ज्योतीस्वरूप निरंकार के सिवा दूसरे की पूजा जायज़ नहीं रखते थे। हमसे और स्वामी दयानन्द मरहूम से बहुत मुलाकात थी, हम हमेशा इनका निहायत अदब करते थे। क्योंकि ऐसे आलम और उम्दा शख्सथे कि हरेक मज़हबवाले को इनका अदब लाज़िम था। बहर हाल ऐसे शख्स थे, जिनका मसल इस वक़्त हिन्दुस्तान में नहीं हैं, और हरेक शख्स को उनकी वफ़ात का ग़म करना लाजिम है, कि ऐसा बेनज़ीर शख्स इनके दर्मियान से जाता रहा।'' इस सम्मति को समझदार मुसलमानों की सम्मति का एक नमूना समझा जा सकता है।

अन्तिम दिनों में स्वामीजी का थ्यासोफिस्टों से बहुत मदभेद हो गया था, परन्तु मृत्युपर थ्योसाफिकल सोसायटी के नेताओं ने बड़ी सहृदयता से दुःख का प्रकाश करते हुए आन्तरिक भक्ति का प्रमाण दिया। स्वामीजी की मृत्यु के समाचार पर थ्यासोफी के मुखपत्र 'थ्यासोफिस्ट' ने हृदय के उद्गार निम्नलिखित शब्दों में प्रगट किये थे-'एक महान् आत्मा भारत वर्ष से चल बसी। पं० दयानन्द सरस्वतीजी जिन्होंने आर्यावर्त में आर्यसमाज की बुनियाद रखी थी, और इसके सबसे बड़े रुकन वा मुखिया थे, आज दुनिया से कूच कर गये। वह निडर और सरगर्मी से काम करने वाला रिफार्मर जिसकी ज़बर्दस्त आवाज़ और पुरजोश वक्तृत्वशक्ति से भारतके हजारों आदमी गत कई वर्षों के समय में प्रमाद और आलस्य के गढ़े से निकल कर देशभक्ति के झण्डे तले आ गये थे, आज भारत को वियोग से दुःखी करके स्वर्ग को चले गये।'

थ्योसाफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल अल्काट ने लिखा था, 'स्वामी जी महाराज निःसन्देह एक महान् पुरुष और संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उनमें ऊंचे दर्जे की योग्यता, दृढ़ निश्चय और आत्मिक विश्वास का निवास था। वह मनुष्यजाति के

मार्गदर्शक थे। वह अत्यन्त सुडौल दीर्घाकार अत्यन्त मधुर स्वभाव और हमारे साथ व्यवहार में दयाशील थे। हमारे दिमाग़ पर उन्होंने बड़ा गहरा असर छोड़ा है।'

ईसाई लोगों से स्वामी जी का बहुत खिंचाव रहता था क्योंकि ईसाइयत की विजययात्रा का उत्तरीय भारत में रोकनेवाला दयानन्द ही था। मृत्यु पर ईसाइयों की ओर से भी हार्दिक दुःख ही प्रकाशित किया गया। विलायत में समाचार पहुंचा। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने 'पालमाल गज़ट' में एक लेख लिखा। उस लेख में प्रोफेसर महोदय ने स्वीकार किया कि स्वामी जी वैदिक साहित्य के बड़े भारी पंडित थे और प्रसिद्ध सुधारक थे। प्रोफेसर साहिब ने लिखा है कि जहां कहीं भी शास्त्रार्थ हुआ, स्वामी दयानन्द का ही विजय हुआ। देश के सभी समाचारपत्रों ने ऋषि की मृत्यु को देश का परम दुर्भाग्य बतलाया। इस प्रकार देशभरद्वारा कृतज्ञता पूर्वक स्मरण किये हुए ऋषि दयानन्द ने दीवाली की रात को अभाग्य भारत भूमि को छोड़ कर परलोक की यात्रा की।

अट्ठारहवां परिच्छेद

आर्यसमाज का संगठन

—:o:—

इस खण्ड को समाप्त करने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द आर्यसमाज को जो संगठन दे गये थे, उसपर थोड़ा सा विचार करें। ऋषि दयानन्द अपने पीछे आर्यसमाजों को, अपने ग्रन्थों को, अपने चरित्र को, और कई शिष्यों को छोड़ गये थे, इनमें से हरेक उनका स्मारक है, परन्तु जिस स्मारक की स्थिरता सब से अधिक है, वह आर्यसमाज है। आर्यसमाज ऋषि दयानन्द का स्मारक ही नहीं, वह ऋषि का प्रतिनिधि भी है। ग्रन्थों की, सिद्धान्तों की, संस्थाओं की और वस्तुतः वेदों की रक्षा का बोझ आर्यसमाज पर है। ऋषि दयानन्द ने अपने पीछे अपना प्रतिनिधि आर्यसमाज को बनाया है, इस परिच्छेद में देखना है कि वह प्रतिनिधि बनने के योग्य भी था या नहीं?

आर्यसमाज के संगठन के सम्बन्ध में स्वयं आर्यसमाजियों में मतभेद है। अनेक विद्वान् आर्यपुरुषों ने भी वर्तमान संगठन (Constitution) से असन्तोष प्रकट किया है। ऋषि दयानन्द के किसी कार्य से असन्तोष प्रकट करना उचित न समझ कर उन महानुभावों ने आर्य समाज के वर्तमान नियमों तथा उपनियमों के लिये किसी ऐसे सज्जन को दोषी ठहरा दिया है, जिसे वह बुरा समझते थे। यहां तक कि आर्य-समाज के एक इतिहासलेखक ने तो आर्यसमाज के वर्तमान संगठन को ही बहुत से वर्तमान दुःखों का मूल मान लिया है।

यह मानना पड़ेगा कि आर्यसमाज का वर्तमान संगठन धार्मिक संसार में नया है। इससे पूर्व किसी धार्मिक समाज में प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली का ऐसी पूर्णता से प्रयोग नहीं किया गया। प्रायः सब मत किसी एक अलौकिक असर के नीचे रहते हैं। रोमन कैथोलिक ईसाई रोम के पोप को अपने धर्म का गुरु मानते हैं, इस्लाम की नज़र पहले खलीफा की ओर लगी रहती थी, अब मक्के की ओर लगी हुई है। बौद्ध भिक्षुओं के चुनाव में किसी प्रजामत का हाथ नहीं है। प्रोटेस्टैण्ट-ईसाई-चर्च यद्यपि प्रायः राजकीय शक्ति पर भरोसा रखता है तोभी यह मानना पड़ेगा कि प्रोटेस्टैण्ट

चर्च के मुख्य पुरुषों के चुनाव में आम ईसाइयों का कोई हाथ नहीं होता। धर्म के विषय में लोकमत का प्रतिनिधित्व ऋषि दयानन्द से पूर्व केवल एक जगह स्वीकार किया गया था। हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के पीछे जो खलीफा हुए, वह सर्वसाधारण की ओर से चुने गये, परन्तु शीघ्र ही जो तलवार अब तक इस्लाम और अन्यमतों के झगड़े में सत्यासत्यनिर्णय करने का अन्तिम साधन समझी जाती थी, वही इस्लाम को खिलाफत के अधिकारानधिकार के निर्णय के लिये भी अन्तिम प्रमाण मान ली गई। हज़रत अली और उमय्यदवंश की टक्कर में इस्लाम का प्रजासत्तात्मक रूप कुचला गया।

भारतवर्ष के लिये राजनीति में भी प्रजासत्तात्मकवाद नया था। अभी किसी स्थान पर उसका पूर्णतया प्रयोग नहीं हुआ था। ब्रिटिश सरकार बहुत सँभल २ कर कहीं२ प्रजामतको थोड़ा बहुत स्वीकार कर रही थी। और तो और, स्वयं इंग्लैंगड में भी पूरा प्रजासत्तात्मक शासन नहीं था। वहां का राजा प्रजा का चुना हुआ नहीं होता, आकस्मिक घटना का चुना हुआ होता है। राजा के घर में जो लड़का पहले पैदा हो गया, वही राजगद्दी का अधिकारी बन जाता है। इसे ऋषि दयानन्द की बुद्धि का अद्भुत चमत्कार कहना चाहिये कि उन्होंने धर्म के क्षेत्र में उस सिद्धान्त का पूर्णता के साथ प्रयोग किया, जिसे अन्य धर्म तो क्या, राजनीति भी लेती हुई घबराती थी। मानते सब थे, परन्तु प्रयोग में नहीं ला सकते थे। समझा जाता था कि प्रजासत्तात्मक शासन को चलाने के लिये सदियों के शिक्षण की आवश्यकता है। भारतवासी तो क्या, उनसे अधिक शिक्षित लोग भी काम में नहीं ला सकते थे। ऋषि दयानन्द ने उस सिद्धान्त को केवल भली प्रकार समझा ही नहीं, उसे व्यवहार योग्य बनाकर कार्य रूप में परिणत भी कर दिया, और यह सब कुछ अंग्रेज़ी और पाश्चात्य शिक्षा से अनभिज्ञ होते हुए किया। यदि ऋषि की परोक्षदर्शिता में किसी को सन्देह हो तो केवल एक इसी दृष्टान्त से उनका संशय दूर हो सकता है।

जो लोग आर्य समाज के प्रजासत्तात्मक संगठन के गुणों या दोषों के लिये दूसरों को उत्तरदाता ठहराना चाहते हैं, वह ऋषि दयानन्द के साथ अन्याय करते हैं। शायद वह लोग चाहते हैं कि किसी दूसरे व्यक्ति को उत्तरदाता ठहरा देने से उन्हें समालोचना करने की स्वाधीनता मिल जायगी, और ऋषि दयानन्द के ऊपर दोष नहीं लगेगा, परन्तु उनकी ऋषि के प्रति यह भक्ति वस्तुतः उनसे ऋषि पर बहुत बड़ा दोषारोपण करादेती है। उनके कथन का यही तात्पर्य हो सकता है कि ऋषि दयानन्द अपनी कोई सम्मति नहीं रखते थे। आर्य समाज के संगठन जैसे आवश्यक

विषय पर उन्होंने किसी दूसरे की तान पर ही गा दिया है, स्वतन्त्र बुद्धि का प्रयोग नहीं किया। जिस पुरुष ने संसार की पर्वा न करके एक नया रास्ता निकाल दिया है, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि उसने किसी दूसरे के कहने से आर्य समाज का स्थायी संगठन बना दिया है, लाञ्छन लगाने से कम नहीं है। सम्मति तो सभी लोग लेते हैं, परन्तु चुनाव अपने अधीन होना चाहिये। जो आदमी ऋषि के चरित्र को ध्यान से पढ़ेगा वह निश्चयपूर्वक कह उठेगा कि हरेक विषय में इतिकर्तव्यता का चुनाव ऋषि दयानन्द अपनी मर्ज़ी से किया करते थे।

परन्तु ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज का जो संगठन बनाया है, क्या वह सचमुच इस योग्य है कि किसी दूसरे को उसके बनाने का अपराधी ठहराया जाय? क्या वह आर्य समाज की उन्नति में बाधक हुआ है?

लेखक की राय है कि आर्य समाज का जो संगठन ऋषि दयानन्द ने बनाया है, वह बहुत उत्तम है। उससे भारतवर्ष की ही नहीं, अन्य देशों की धार्मिक तथा राज्य-संस्थायें भी शिक्षा लेसकती हैं। समय के अनुसार जो छोटे मोटे परिवर्तन आवश्यक होते जायं उन्हें करडाला जाय, परन्तु प्रधान अंशों में वर्तमान संगठन श्रेष्ठ है।

आर्य समाज के संगठन की श्रेष्ठता पर लिखने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ शब्द इस विषय पर लिखे जायं कि आर्यसमाज क्या वस्तु है? क्या वैदिक धर्मी मात्र के समूह का नाम आर्य समाज है? या वैदिक धर्म के प्रचार के लिये जो सोसायटी बनाई गई है वह आर्यसमाज है? दोनों प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं। यह आवश्यक नहीं कि वैदिकधर्मी मात्र आर्यसमाज के सभ्य हों, क्योंकि आर्यसमाज के सभ्य होने के लिये चन्दे की शर्त लाज़मी है। सन्यासी चन्दा नहीं दे सकते, और न गरीब लोग दे सकते हैं, ऐसी दशा में वह लोग सामान्यतया आर्यसमाज के सभासद् नहीं बन सकते। तब क्या वह वैदिकधर्मी नहीं हैं? वह वैदिकधर्मी अवश्य हैं। आर्यसमाज से बाहिर भी वैदिक धर्मी हैं, और हमेशा रहेंगें। आर्यजगत् आर्यसमाज तक परिमित नहीं है। आर्यसमाज तो उन लोगों की संस्था है जो वैदिकधर्म के प्रचार की अभिलाषा रखते हुए संगठन में शामिल होते हैं।

दृष्टान्त से यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाता है। एक शहर में ३ लाख निवासी निवास करते हैं। उनमें से वोट देने के अधिकारी केवल २५ हजार हैं और उनमें से भी म्युनिसिपल कमेटी के चुनाव में केवल १० हजार निवासी भाग लेते हैं ऐसी दशा में क्या वह १० हजार निवासी ही शहर के निवासी समझे जावेंगे?

उत्तर 'हां' में नहीं हो सकता। उसी प्रकार आर्यजगत् आर्य समाज से बहुत बड़ा है आर्य समाज शब्द भी दो अभिप्रायों से प्रयुक्त होता है। सामान्यतया हरेक वैदिकधर्मी-ऋषि दयानन्द की शिक्षाओं को स्वीकार करनेवाला हरेक व्यक्ति आर्यसमाजी माना जाता है। आर्यजगत् के लिये आर्यसमाज शब्द का प्रयोग होता है। यह विस्तृत आर्यसमाज है।

आर्य समाज एक निश्चित संगठन भी है। यह आवश्यक नहीं कि हरेक वैदिक-धर्मी आर्यसमाज में सम्मिलित भी हो। आर्यसमाज से बाहिर भी वैदिकधर्मी रह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज उन वैदिकधर्मियों का संघ है, जो वैदिक शिक्षाओं के प्रचार और रक्षार्थ इकट्ठे होते हैं। वैदिकधर्मियों का संघ आर्यसमाज से बहुत बड़ा है। यदि आर्यजगत् और आर्य समाज के भेद को ठीक प्रकार से समझ लें तो यह आक्षेप करने का अवसर नहीं रहता कि संगठन ने आर्य समाज को संकुचित बना दिया है। संकुचित बनाने का दोष आर्यसमाज के नियमों के बनानेवाले के सिर नहीं मढ़ा जा सकता, वह दोष तो हम लोगों का है जो वैदिक धर्म को आर्य समाज तक परिमित समझ बैठे हैं। यदि हम इस बात को अवगत कर लें कि वैदिकधर्मियों का समूह आर्यसमाज की संस्था से अधिक विस्तृत है, और आर्य-समाज उन लोगों का संगठन है जो वैदिक धर्म के प्रचार तथा रक्षा के लिये सभा में सम्मिलित होने की इच्छा रखते हैं तो सम्पूर्ण कठिनाई दूर हो जाती है। उस दशा में आर्यसमाजका संगठन अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीत होगा।

आर्यसमाज के वर्तमान संगठन की पूर्णता और सुन्दरता को वह लोग भली प्रकार समझ सकेंगे, जिन्होंने भिन्न २ देशों की राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं का अनुशीलन किया हो। थोड़ी बहुत बातों में समयानुकूल परिवर्तन होते ही रहते हैं, परन्तु सामान्य सिद्धान्त में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से आर्यसमाज का संगठन एक प्रकार से आदर्श है। सभासद् बनने की शर्त यह है कि ग्यारह मास तक चन्दा देने-वाला सभ्य रहा हो। चन्दा आमदनी का शतांश है। ग़रीब से ग़रीब आर्यसमाज का सभ्य रह सकता है क्योंकि वोट के अधिकारी होने के लिये कोई राशि निश्चित नहीं है, छोटी से छोटी आमदनी का शतांश है। यही कारण है कि आर्यसमाज कभी अमीरों का संघ नहीं बन सकता। अधिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष होता है। प्रति-निधियों का चुनाव तीसरे वर्ष आवश्यक है। सर्वसाधारण की सम्मति को जितनी अच्छी तरह आर्यसमाज के नियमानुसार बनी हुई सभायें प्रतिबिम्बित करती हैं शायद ही दूसरी कोई सभायें करती हों। स्विजरलैंड और अमरीका को तो छोड़ दीजिये,

साधारणतया अन्यदेशों के राजनीतिक संगठन भी लोकमत के ऐसे अच्छे प्रतिनिधि नहीं हैं। संगठन के मज़बूत होने का ही यह फल है कि बीसियों धार्मिक और राज-नीतिक चोटों को खाकर भी आर्य समाज की शक्ति वैसी ही बनी हुई है।

आर्यसमाज के संगठन पर एक आक्षेप हो सकता है। एक धार्मिकसंस्था के धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने के लिये जिस प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता है, वह आर्यसमाज में नहीं है। आर्यसभासदों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं या सार्वदेशिक सभा के सभ्यों तथा अधिकारियों में किसी के लिये धार्मिक योग्यता आवश्यक नहीं है। परिणाम यह है कि सम्पूर्ण आर्य संसार में एक भी प्रामाणिक सभा ऐसी नहीं है, जो आर्य जनता का धार्मिकनेतृत्व कर सके। इसका उपाय करने के कई यत्न हुए हैं। कहीं विद्वत्परिषद् बनी है, तो कहीं आर्यधर्मसभा की स्थापना हुई है। इसे कई सज्जन संगठन की अपूर्णता कह सकते हैं, परन्तु लेखक की राय है कि संगठन का इतना दोष नहीं, जितना आर्यसभासदों का है। आर्यप्रतिनिधिसभाओं में ऐसे विद्वानों की अधिक संख्या को भेजना, जो धर्म के विषय में राय देने का अधिकार रखते हों, आर्य सभासदों का कर्त्तव्य है। नियमों का इतना ही दोष है कि उन्होंने सम्मति देने वालों को यह स्पष्टता से नहीं बताया कि वह कैसे व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधि चुनें, किन्तु समझदार पुरुषों को इतने विस्तृत विदेश की आवश्यकता भी नहीं रहती। आज यदि आर्यसमाज के प्रबन्ध में व्यावहारिक पुरुषों की प्रधानता दिखाई देती है तो उसका कारण केवल आर्यसभासदों की उपेक्षादृष्टि है। आर्यप्रतिनिधिसभाओं के साथ किसी दूसरी समानान्तर सभा को स्थापित करने का विचार उस आशय के विरुद्ध है, जो ऋषि दयानन्द के चित्त में था।

ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज का जो संगठन बनाया है उसकी मुख्य विशेषतायें दो हैं। वह बिल्कुल स्वाधीन और अपने आपमें सम्पूर्ण है, और साथ ही लोकमत का सच्चा प्रतिनिधि है। आर्यसमाज अपने सभासदों की भलाई के लिये किसी अन्य संगठन की अपेक्षा नहीं करता। यदि अवसर आ पड़े तो वह अपने सभासदों की सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। वह लोकमत को प्रतिबिम्बित करने का उत्तम साधन है। यही दो कारण हैं कि वह स्थिर है। यदि आर्यसमाज का ऐसा अच्छा संगठन न होता तो जो ज़बर्दस्त झकोरे इसे गिराने के लिये आते रहे हैं वह कभी के कामयाब हो गये होते।

तृतीय-खण्ड

१८८३—१८९० ई०

पहिला परिच्छेद

भविष्य के अंकुर

[३० अक्तूबर १८८३ ई० से ३१ दिसम्बर १८८३ ई० तक]

१ मृत्यु का प्रभाव

ऋषि दयानन्द की मृत्यु आकस्मिक वज्र की भांति आर्यसमाज के सिर पर गिरी। ब्रह्मचारी और योगी के सम्बन्ध में आर्य पुरुषों की भावना थी कि वह कम से एक सौ सालतक जियेंगे। वे उस बालक की भांति निश्चिन्त थे, जो समझता है कि अभी पिता की छत्रछाया सिर पर विद्यमान रहेगी। उन्हें यह ध्यान भी नहीं था कि एक दम उन के सिर पर से ऋषि का रक्षक हाथ उठ जायगा। मृत्यु का धक्का पहले समय में असह्य प्रतीत हुआ। आर्यसमाज के सभासदों के हाथ में जो समाचार पत्र थे, उन के उस समय के लेखों से विदित होता है कि ऋषि की मृत्यु के समाचार ने एक वार तो उन के हाथपांव फुला दिये। मेरठ के आर्यसमाचार ने दुःखसमाचार सुनाते हुए एक लेख प्रकाशित किया था। उस के निम्नलिखित वाक्य उस निराशा के भाव को सूचित करते हैं जिसका आर्यपुरुष अनुभव कर रहे थे।

'रो, रो, ऐ बदबख्त आर्यावर्त ! खूब दिल खोल कर रो ले। आज तेरा फ़ज़लियत का सूरज गरूब हो गया। जिस जुल्मातेजहालत ने तुझको इस नौबत पर पहुचाया था उससे ज्यादा जमाना स्याह इस वकत तेरी नज़र के रोबरू मौजूद है। जिस फ़खे मुल्क पर तुझ को नाज़ था, वही आज तुझ में से उठ चला। लखूका तमन्नाओं का खून हो गया'—इत्यादि।

लाहौर के देशोपकारक ने निम्नलिखित पंक्तियों में अपनी असह्य वेदना को प्रगट किया था:—

'ऐ आर्यावर्त ! तेरी बदकिस्मती पर मुझे रोना आता है। ऐ आर्यावर्त ! तेरी यतीमी पर मेरा दिल खून होता है। ऐ आर्यावर्त ! तेरी बेकसी पर मुझे गैरत आती

है। ऐ आर्यावर्त। तेरी बेपरोवाही पर मेरा दिल कुम्हलाया जाता है। कैसी जल्दी तेरे प्यार के सरचश्मे को बन्द कर दिया गया'

ये दो उदाहरण इस बात को साफ़ कर देने के लिये पर्याप्त हैं कि ऋषि की मृत्यु का आर्यजनता पर पहला असर बहुत ही निराशाजनक हुवा। वे अपने आप आप को बेपर के पक्षी की तरह असमर्थ समझने लगे। आर्यसमाज के आकाश में घोर अंधियारी सी छा गई। अब तक हरेक कठिनाई का हल 'स्वामी जी' थे, अब कठिनाइयों का पहाड़ आंखों के सामने आने लगा। काम अधूरा रह गया, रास्ता बीच ही में कट गया, आर्यपुरुषों को भान होने लगा कि आर्यसमाज की नौका मंझधार में फंस गई, अब इसका निकलना दुष्कर है।

२. उत्तरदायित्व का अनुभव

परन्तु शीघ्र ही आर्यसमाज के सभासद संभल गये। ऋषि की स्मृति से ऋषि का उपदेश ज़बर्दस्त निकला। ऋषि की स्मृति भी उपदेश के प्रभाव को बढ़ाने का कारण बन गई। पहले धक्के का मोहक असर दूर होते ही आर्य-पुरुषों के हृदयों में एक नया भाव उत्पन्न होने लगा। वह नया भाव था, उत्तरदायित्व का भाव। अब तक आर्य पुरुष अपने आप को नाबालिग समझते थे। वे करते सब कुछ थे, परन्तु इसी विचार से प्रेरित होकर करते थे कि दुनिया और दूसरी दुनिया के स्वामियों के सामने उत्तरदाता 'स्वामीजी' होंगे। ऋषि की मृत्यु का पहला प्रभाव दूर होते ही उत्तरदायित्व के अनुभव ने आर्य-पुरुषों के हृदय में धीरे धीरे प्रवेश किया। वह समय आर्य-पुरुषों की परीक्षा का था, आर्यसमाज के भाग्य-निर्माण का था। यदि ऋषि की मृत्युका यह प्रभाव होता कि आर्य-पुरुष साल दो साल के लिये भी अकर्मण्य होकर बैठ जाते तो सिद्ध हो जाता कि स्वामी दयानन्द ने आर्यपुरुषों को जो कुछ सिखाया था वह असत्य था, अपूर्ण था। यदि आर्य-पुरुष ऋषि के कार्यक्षेत्र से प्रयाण करते ही उन के स्थान पर किसी आचार्य की तलाश करने लगते तो वे अपने आप को नाबालिग सिद्ध कर देते और दुनिया को यह दिखाते कि दयानन्द के उपदेश उनकी जिव्हा पर ही हैं, उन के हृदयों पर नहीं। ऋषि के मरने पर हम हर्ष-पूर्ण आश्चर्य के साथ देखते हैं कि एक भी आर्य-पुरुष यह शब्द नहीं उठाता कि ऋषि की स्थान-पूर्ति के लिये किसी व्यक्ति की तलाश करनी चाहिये। ऋषि दयानन्द आर्यसमाज का एक प्रजा-सत्तात्मक संगठन बनाना चाहते थे, समाज की नींव में आचार्यने समष्टि के भाव को भरा था। यदि ऋषि के अलग होते ही आर्य-पुरुष उस सिद्धान्त को भूल जाते,

तो आर्यसमाज का इतिहास किसी दूसरी ही तरह लिखा जाता। उस दशा में आर्य-समाज का इतिहास इस्लाम या ब्रह्मोसमाज के समान व्यक्तियों का इतिहास होता, जनता का इतिहास नहीं। आर्यसमाज परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। उसने ऋषि की स्मृति को स्थिर करने का यही यही उपाय समझा कि ऋषि के उपदेश को सर्वोपरि रखा जाय।

स्वामी जी की अकालमृत्यु से जो मूर्छा उत्पन्न हुई थी, वह शीघ्र ही जाती रही और आर्य-जनता ने अपने आप को बालिग़ मान कर उत्तर-दायित्व का अनुभव किया। ईश्वर को आचार्य और पथदर्शक बनाकर शीघ्र ही आर्य-पुरुष ऋषि के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कटि-बद्ध हो गये।

२ ऋषि स्मारक

ऋषि की मृत्यु के पीछे चेतना पैदा होने पर जो पहला विचार आर्यजगत् में पैदा हुआ, वह यह था कि आचार्य की स्मृति को कैसे ताज़ा किया जाय। इस विषय में आर्य-जगत् की परीक्षा थी। स्वभाव से मनुष्य अपने प्रिय की स्मृति को स्थूलरूप में चिरञ्जीवी बनाना चाहता है। वह ऐसा स्मारक चाहता है जो शान्दार भी हो, और सरल भी हो। किसी की याद में किताब लिख देना सरल हो सकता है पर स्थूलदृष्टि से पुस्तक शान्दार नहीं है, अपने प्रिय की याद में चीन की दीवार खड़ा कर देना शान्दार कहा सकता है परन्तु सरल नहीं है। साधारण मनुष्य दोनों गुणों को देखता है और किसी स्तूप, किसी मकबरे या किसी महल के रूप में स्मृति को अमर करने का यत्न करता है। ऋषि दयानन्द ने उदयपुर में कविराज श्यामलदास जी से कहा था कि—"मेरे मरने के पश्चात् मेरी अस्थियों को किसी खेत में डाल देना, कोई समाधि या कोई चिन्ह कदापि न बनाना।" कविराज ने कहा कि—"महाराज! मैंने तो यह सोच रखा था कि अपनी एक पत्थर की मूर्ति बनवाऊं और उसे किसी जगह रखवादूं, ताकि मेरे पश्चात् वह मेरा स्मारक समझा जाय।" स्वामी जी ने कहा कि—"देखना कविराज जी! ऐसा भूलकर भी मत करना बस यही तो मूर्ति—पूजा की जड़ हुआ करती हैं।" ऋषि का यह उपदेश था। वह शान्दार से शान्दार और सरल से सरल भी ऐसे स्मारक को पसन्द नहीं करते थे, जिस में मूर्ति-पूजा की प्रथा पायी जासके। यदि आर्यजनता ऋषि की यादगार में कोई स्तूप या मकबरा बनवा देती तो आज हिंदू स्त्रियां उस पर फूल और बतासे चढ़ा कर अपने जीवनों को सफल मान रही होतीं।

आर्यसमाज ने ऋषि दयानन्द के आशय को खूब समझ लिया, और स्मारक की ऊपर बताई हुई दो शर्तों के साथ एक तीसरी और शर्त जोड़ दी। वह शर्त यह थी कि स्मारक शानदार और सरल होने के साथ ही साथ उपयोगी भी हो। अजमेर से लौटकर आर्य-पुरुषों ने अपने स्थानों पर स्मारक की चर्चा प्रारम्भ की। अजमेर, प्रयाग, मेरठ, फ़ीरोज़पुर, मुलतान और लाहौर में वह चर्चा अधिक वेग के साथ होने लगी। प्रायः सभी स्थानों में उसका रूप एक सा था। यह आश्चर्य की बात है। चर्चा यही थी कि ऋषि की यादगार शिक्षणालय के रूप में स्थापित की जाय। इससे सूचित होता है कि आर्यसमाज की शिक्षा ही दिखावे के स्मारक के विरुद्ध थी। यह ठीक है कि परोपकारिणी में एक बार दिखावे के स्मारक की चर्चा आरम्भ हुई थी, परन्तु याद रखना चाहिये कि परोपकारिणी सभा में सौ फीसदी आर्यसामाजिक विचारों का राज्य नहीं था। आर्यजनता का दिमाग़ ही ऐसे ढंग का बना हुआ था कि वह स्मारकरूप में वैदिक शिक्षणालय से उत्तम वस्तु नहीं सोच सकती थी।

स्मारक की चर्चा कहीं पाठशाला के रूप में फलीभूत हुई तो कहीं स्कूल के रूप में परिणत हुई। मेरठ में हम सुशिक्षाप्रचारिणी नाम की सभा, और आर्यपाठशाला नाम की पाठशाला का वृत्तान्त पढ़ते हैं। प्रयाग में किसी न किसी रूप में पाठशाला का कार्य जारी रहा। अजमेर में परोपकारिणी सभा में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुये उनकी चर्चा हम आगे करेंगे। पञ्जाब में स्मारक की चर्चा तीन स्थानों पर आरम्भ हुई थी, परन्तु लाहौर के सिवा अन्य किसी स्थान पर वह घनीभूत नहीं हो सकी। लाहौर में वह शीघ्र ही घनीभूत हो गई, और साहस के साथ कहा जा सकता है कि कल्पनातीत शीघ्रता से लाहौरनिवासियों ने अपने आप को स्वामी जी के सच्चे भक्त सिद्ध कर दिया।

४. वैदिक शिक्षणालय

ऋषि दयानन्द के जीवनकाल में ही वैदिकग्रन्थों की शिक्षा का प्रचार करने के लिये एक शिक्षणालय की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। ऋषि दयानन्द ब्रह्मचर्य और सत्यशिक्षा के अभाव को ही भारतवर्ष की गिरावट का कारण समझते थे। काशी में, फ़र्रुखाबाद में ऋषि ने पाठशालाएँ स्थापित की थीं, परन्तु प्रतीत होता है कि उस समय तक अभी आर्यजनता में इतनी जागृति पैदा नहीं हुई थी कि वह उस बोझ को उठाने के लिये उद्यत होती। अभी शिक्षणालयों का समय नहीं आया था। लोग अनुभव कर रहे थे कि जब तक स्वामी जी जीवित हैं तब तक आर्यसमाज में वेदज्ञ की न्यूनता नहीं कही जा सकती। स्वामी जी के जीवन का अन्त हो सकता है—आर्य

पुरुषों के दिमाग़ में यह बात नहीं समाई थी। वे जानते थे कि आदित्य ब्रह्मचारी सौ साल से पहले नहीं मर सकता। उन्हें क्या मालूम थी कि संसार में ऐसे पुरुष भी वास करते हैं जो मनुष्य जाति के उपकारकों का प्राणसंहरण करने में सुख का अनुभव करते हैं।

ऐसी दशा में भी आर्यपुरुष यह अवश्य समझ रहे थे कि वैदिक ग्रन्थों की शिक्षा का प्रबन्ध करना पड़ेगा। १८८२ और १८८३ ई० के पूर्वभाग में पञ्जाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश के आर्यसमाचारपत्रों में वैदिक शिक्षणालय की आवश्यकता पर लेख निकलते रहते थे। लाहौर के 'आर्य' नाम के अखबार में १८८२ ई० के मई मास में हम ऐंग्लोवैदिक स्कूल की आवश्यकता पर एक लेख पढ़ते हैं। १८८२ ई० के मई मास में ऐंग्लोवैदिक स्कूल की चर्चा सिद्ध करती है कि दो बातें पहले से मानी जा चुकी थीं। एक ऐसे शिक्षणालय की आवश्यकता है जो वैदिक ग्रन्थों की शिक्षा दे सके, और वह शिक्षणालय ऐसा होना चाहिये कि जिसमें अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिम की अर्वाचीन विद्याओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध हो।

ऋषि की मृत्यु ने इन दो बातों के साथ एक तीसरी यह बात शामिल कर दी कि वह शिक्षणालय ऋषि का स्मारक भी हो।

५. डी. ए. वी. स्कूल का प्रस्ताव

३० अक्तूबर (१८८३ ई०) की रात्रि को अजमेर में वैदिक सूर्य अस्त हुआ। उस समय अजमेर में पञ्जाब के बहुत से महानुभाव भी विद्यमान थे। प० गुरुदत्त जी और ला० जीवनदास जी ने ऋषि के जीवननाटक पर पटाक्षेप होते देखा, और लाहौर पहुंच कर १ नवम्बर को सार्वजनिक सभा में आंखों से जो अद्भुत मृत्युमय जीवन देखा था उसका वृत्तान्त जनता को कह सुनाया। सुनने और कहने-वालों की यह दशा थी कि आंखें डबडबा रही थीं, गले भरे हुये थे, सभा में एक सन्नाटे का राज्य था; जिसे देखकर यह अनुभव करना कठिन नहीं था कि आर्यसमाज पर जो आपत्ति आई, वह अनाशंकित थी। सात दिन पीछे ८ नवम्बर को फ़िर लाहौर के आर्यपुरुषों की एक सभा हुई। उस दिन दृश्य ही बदला हुआ था। शोक के स्थान पर उत्साह और जीवन का राज्य हो रहा था। पं० गुरुदत्त एम. ए. और उनके साथियों ने भावपूर्ण शब्दों में प्रस्ताव किया कि ऋषि की यादगार को ऐंग्लो वैदिक स्कूल तथा कालिज द्वारा स्थिर किया जाय। सारी उपस्थित जनता ने प्रस्ताव को पास किया। उसी समय चन्दे के लिये अभ्यर्थना की गई। उस समय तक उत्तम कार्यों के लिये दान देने की प्रथा नहीं चली थी। अभी तक दान के लिये पण्डों के पेट और तीर्थों के

मठ ही श्रेष्ठ पात्र समझे जाते थे। उस समय सार्वजनिक कार्यों के लिये ५) दान भी विशेष महत्त्व रखता था। उस दान की चर्चा साधुवाद के साथ समाचार पत्रोंमें दी जाती थी। उस सभा में ८०००) का दान सुनाया गया, जिसे हम आजकल की दृष्टि से परखें तो ८००००) से कम नहीं समझना चाहिये। दानदाताओं की सूचि में कई स्त्रियों और बच्चों के भी नाम मिलते है, जिससे उत्साह का अनुमान लगाया जा सकता है। लाहौर के आर्यसमाज की अन्तरंगसभा ने दो दिन पूर्व डी. ए. वी. स्कूल के लिये धन एकत्र करने के निमित्त एक सब कमेटी बनाई थी, जिसके निम्नलिखित सभासद् थे:—

लाला लालचन्द एम. ए., लाला मदनसिंह बी. ए., लाला जीवन दास, पं० गुरुदत्त एम. ए.।

यह सब-कमेटी धन संग्रह के लिये बनी थी, परन्तु यह कहना कुछ अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि डी. ए. वी. स्कूल की स्थापना के लिये जितना उत्साह उत्पन्न होगया था, उसका दशांश भी न होता यदि लाहौर के महानुभावों को यह मालूम न होता कि एक योग्य आर्य नवयुवक उस श्रेष्ठ कार्य के लिये अपना जीवन अर्पण करने को तैयार है। उस आर्य नव-युवक का नाम 'हंसराज' था। लाला हंसराज ने अभी हाल ही में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ पंजाब यूनिवर्सिटी से बी. ए. पास किया था। उसके सामने नौकरी या व्यापार का मैदान खुला था। परन्तु सांसारिक इच्छाओं को लात मारकर उस त्यागी नव युवक ने धर्म-यज्ञ में अपने जीवन की आहुति डालने का संकल्प किया। बताने की आवश्यकता नहीं कि उस संकल्प ने आर्यपुरुषों के उत्साह को कितना बढ़ाया होगा। उस दृष्टान्त ने पंजाब में आर्यसमाज के जीवन पर कैसा उत्तम प्रभाव डाला, आर्यसमाज के इतिहास को जाननेवाले इसे खूब जानते हैं।

६. प्रचार का क्रम

एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद प्रचार का कार्य स्वामी जी की मृत्यु के साथ ही बन्द हो जायगा, परन्तु शीघ्र ही ऐसे महानुभाव खड़े हो गये, जिन्होंने प्रचार की टूटती हुई डोर में गांठ बाँध दी। इस समय के प्रचारकों में पहला नाम ऋषि के पटशिष्य स्वामी आत्मानन्द जी का है। १८८३ की समाप्ति होने से पूर्व ही हम स्वामी आत्मानन्द जी को नये २ आर्यसमाजों की स्थापना करते हुए पाते हैं। ऋषि की मृत्यु के डेढ़ मास पीछे ही स्वामी आत्मानन्द जी के उद्योग से नये आर्यसमाज की स्थापना हुई। उस समय देशभर में तीन ही शहरों में आर्यसमाज की अधिक शक्ति थी।

पंजाब में लाहौर, संयुक्त प्रदेश में मेरठ और पश्चिम में बम्बई। इन्हीं समाजों द्वारा आसपास के शहरों या ग्रामों में प्रचार होता रहता था। किसी शास्त्रार्थ का मौका आपड़ने पर भी इन्हीं शहरों के आर्यपुरुष दलबलसहित जा पहुंचते थे।

७. अन्य मतवादियों से मुठभेड़

अन्य मतवादियों से मुठभेड़ आर्यसमाज को जन्मघुट्टी में ही दी गई थी। ऋषि दयानन्द ने चौमुखी लड़ाई लड़ कर आर्यपुरुषों को जन्मसिद्ध योद्धा बना दिया था। एक आर्यसमाजी बालक धुरन्धर सनातनी पण्डित को ललकारने में नहीं झिझकता था। उसे विश्वास था कि सत्य उसके साथ है, इस लिये जीत उसी की होगी। शास्त्रार्थों का क्रम ऋषि की मृत्यु के पीछे भी जारी रहा। १८८३ के अन्त में हम कालका के आर्यपुरुषों को मुसलमानों के साथ उलझा हुआ पाते हैं। वृत्तान्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि मौ० मुहम्मद बुलाल और मुन्शी अब्दुल्ला खां नाम के मुसलमान प्रचारक कालका में बहुत दिनों से शोर मचा रहे थे कि "हमने पंडित दयानन्द के वह खाके उड़ा दिये हैं कि याद रहेंगे" अन्त को कालका आर्यसमाज के सभासद् पंडित गोपीचन्द और ला० खुशीराम उनसे भिड़ गये। देर तक मुबाहिसा हुआ। जो परिणाम हुआ, उसे एक आर्यसमाजी समाचार-पत्र के संवाददाता ने इन शब्दों में बयान किया है—

"इस पर अहलेइस्लाम इधर उधर की बातें करने लगे, और लगे बगल झांकने। इंजामकार मुन्शियों ने यह फैसला किया कि मौलवी साहिब से पंडित साहिब के सवालात का जवाब नहीं दिया गया, और फिर जलसा बरखास्त हुआ" इस मुबाहिसे में मीर बशीर हुसैन साहिब डिपुटी इन्सपेक्टर कोह डकशाई अहले इस्लाम की तरफ़ से और ला० मुन्नालाल साहिब डिपुटी इन्सपेक्टर कालकासमाजवालों की ओर से मुन्सिफ़ नियत किये गये थे।

इस समय थ्यासोफिस्टों के साथ आर्यसमाज का संघर्ष ज़ोर से चल रहा था, क्यों कि कर्नल अल्काट की समाज से जुदायगी अभी नई थी। पंजाब और युक्तप्रदेश के आर्यसमाचार पत्रों में थियासोफिस्टों की 'पोल खोलने' वाले लेख प्रायः प्रकाशित होते रहते थे।

बहुत से लोगों का विचार है कि विधर्मियों को शुद्ध करने की प्रथा नई है। आर्यसमाज पहले दिन से ही अन्य मतवादियों को अपने धर्म--भवन में प्रविष्ट करने के लिए उद्यत रहा है। उसके किवाड़ खुले रहे हैं। वैशाख और ज्येष्ठ (१९४१) के आर्यसमाचार से हम निम्नलिखित सूचनाएं उद्धृत करते हैं—

(१) आर्यसमाज अमृतसर ने अब तक ३५ आदमियों को जो एक मुद्दत से ईसाई और मुसलमान बने हुये थे, आर्य बनाया।

(२) रियासत राजगढ़ में भी बहुत से मुसलमान आर्य बनाये गये।

(३) अखबार विक्टोरिया पेपर से वाज़ह हुआ कि आर्यसमाज रावलपिण्डी के उपदेश से दो साहिबान अहले इस्लाम ने मज़हब मुहम्मदी को तर्क करके वैदिक धर्म अख्तियार किया।

शुद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित समाचार भी मनोरंजक है। "श्री महाराज साहिब बहादुर वाली-ए-काश्मीर ने धर्मसभा में यह कानून पास करा दिया है कि जिस हिन्दू ने मज़हब ग़ैर का अख्तियार किया हो, वह तीस बरस तक अपनी बिरादरी में शामिल हो सकता है। बनारस के पण्डितों ने भी इसकी ताईद में श्री महाराज काशीनरेश की सरपरस्ती से इस क़िस्म की व्यवस्था दी है,"

८. परोपकारिणी सभा का अधिवेशन

१८८३ ई० के आरम्भ में ऋषि दयानन्द मेवाड़ में धर्मोपदेश कर रहे थे। वर्तमान का अतिक्रमण करनेवाली सूक्ष्मदृष्टि से अपने जीवननाटक का अन्तिम अंक समाप्तप्राय देख कर ऋषि ने उस समय परोपकारिणी सभा का निर्माण किया था। उसकी चर्चा हम दूसरे खण्ड में कर आये हैं। ऋषि दयानन्द का अन्तकाल समय से पूर्व ही आ गया, इस कारण समाज का जैसा संगठन वह बनाना चाहते थे, वैसा न बन सका। लेखक का विश्वास है कि यदि आर्यप्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक सभा बन चुकी होतीं तो परोपकारिणी सभा की स्थापना न होती, परन्तु जैसी परिस्थिति थी, उसे देखकर अपने कार्य को जारी रखने और ग्रन्थों की रक्षा करने के लिए ऋषि ने परोपकारिणी सभा को ही उचित साधन समझा। सभा में सभी ऐसे प्रान्तों के प्रतिनिधि रखने का उद्योग किया गया था, जिन में आर्यसमाज के पाव जम चुके थे।

परोपकारिणी जिस उद्देश्य से स्थापित हुई थी, वह पूर्ण हुआ या नहीं, यह इतिहास के अगले प्रसंग में ज्ञात हो जायगा, परन्तु इतना हम प्रारम्भ में ही कह देना चाहते हैं कि परोपकारिणी में आर्यसमाज का रईस-मण्डल शामिल था, और यही कारण था कि आर्यसमाज के प्रजासत्तात्मक संगठन के साथ परोपकारिणी ने कभी ठीक २ मेल नहीं खाया।

ऋषि की मृत्यु से दो मास पीछे अजमेर में परोपकारिणी सभा का पहला अधिवेशन हुआ। २८ दिसम्बर को दोपहर के दो बजे मेयो कालिज में बनी हुई मेवाड़

दरबार की को०ी में ऋषि की वसीयत के ट्रस्टी इकट्ठे हुए। उपस्थिति पर्याप्त थी। कई सभासद् प्रतिनिधियों द्वारा उपस्थित थे। सभासदों ने ऋषि की वसीयत के अनुसार ज़िम्मेवारी का बोझ सिर पर लेना स्वीकार किया। मेरठ के रा० सा० रामसरनदास के स्थान पर महाराज श्री प्रतापसिंह सी. आई. ई. को नियुक्त किया गया। इसी प्रकार कुछ और पूर्तियां भी की गईं। वैदिक प्रेस के सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि उसे यथा सम्भव शीघ्र ही प्रयाग से अजमेर में लाया जाय। प्रेस के प्रबन्ध के लिये राव बहादुर रानडे, ठाकुर मसौदा, रा.ब. सुन्दरलाल, कविराज श्यामलदासजी पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या तथा प्रधान आर्यसमाज अजमेर की उपसमिति बनाई गई। वेद भाष्य की छपाई की देख भाल के लिये पं० भीमसेन और पं० ज्वालादत्त को वेतन पर रक्खा गया।

इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव बड़े महत्व का हुआ। पं० महादेव गोविन्द रानडे ने प्रस्ताव किया और रायबहादुर सुन्दरलाल ने अनुमोदन किया कि आर्यसमाजों को आपस में और परोपकारिणी के साथ अधिक समीप लाने के उद्देश्य से एक प्रतिनिधि सभा का संगठन होना चाहिए। जब तक यह कमेटी न बने तब तक परोपकारिणी के सभासद् ही जो आर्यसमाज के भी मेम्बर हैं प्रतिनिधि मान लिए जांय। जब प्रतिनिधि सभा बन जाय तब कुछ जगह, जो परोपकारिणी में खाली हों, ऐसे ढंग पर भरी जावें कि परोपकारिणी में कम से कम आधे प्रतिनिधि सभा के मेम्बर मुकरर हों। प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।

पं० महादेव गोविन्द रानडे ने एक और भी बड़ा महत्वपूर्ण प्रस्ताव उपस्थित किया, वह भी सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। प्रस्ताव यह था कि स्वामी दयानन्द जी की यादगार में एक दयानन्द आश्रम बनाया जाय, जिसमें कुतुबखाना, एंग्लो वैदिक कालिज, किताबों की दूकान, अनाथालय, अद्भुतालय, प्रेस और लेक्चररूम सम्मिलित हो। इस शुभ कार्य के लिये २४ सहस्र रुपया उसी समय लिखा गया।

दूसरा परिच्छेद

उन्नति--युग

१८८४ ई०—१८८५ ई०

१—प्रचारक

इस परिच्छेद में हम परोपकारिणी सभा के प्रथम अधिवेशन की समाप्ति से पीछे और लाहौर में डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना से पूर्व के समय में आर्यसमाज की जो गति रही, उस पर दृष्टि डालेंगे। वह समय कई प्रकार से असाधारण था। अभी तक आर्यप्रतिनिधि सभा की स्थापना नहीं हुई थी, और न कोई बड़ी संस्था ही खड़ी हुई थी, जिस पर आर्यपुरुषों की शक्तियां केन्द्रित होतीं। आर्यसमाज का शरीर अभी बाह्य नियमों में बद्ध नहीं हुआ था। वह इच्छा होने पर बहुत बढ़ सकता था। १८८४ और १८८५ ई० में आर्यसमाज ने जो उन्नति की, जब हम उस पर दृष्टि डालते हैं, तो एक उमड़ते हुए बादल की उपमा स्मरण हो आती है। ऋषि दयानन्द के उत्साह, निर्भयता, धर्म प्रेम आदि गुण आर्य पुरुषों के हृदयों से नये थे। वह लोग ऋषि की कार्यप्रणाली को देख चुके थे। उनमें से हरेक अपने आपको ऋषि का पटशिष्य और प्रतिनिधि समझता था। अभी तक प्रचारक और आर्यपुरुष में भेद नहीं हुआ था। हरेक आर्यपुरुष अपने आपको भजन, उपदेश, व्याख्यान और शास्त्रार्थ करने का अधिकारी समझता था। आर्य समाज में जितने सभासद् थे, उतने ही प्रचारक थे। ऋषि की मृत्यु ने जो थोड़ीसी मूर्छा उत्पन्न की थी, वह दूर हो गई थी, और ऋषि के उद्देश्य को पूर्ण करने की ज़बर्दस्त उमंग पैदा हो चुकी थी।

यह आश्चर्य की बात है कि—इन दो सालों में हमें बड़े नाम बहुत कम सुनाई देते हैं। चार पांच महात्माओं के नाम बार २ आते हैं परन्तु कार्य का अधिकांश साधारण आर्यपुरुषों द्वारा ही हुआ है। हम देखेंगे कि इन वर्षों में जितने नये आर्यसमाजों की स्थापना हुई, इतनी किन्हीं दो सालों में नहीं हुई। कई स्थानों पर शास्त्रार्थ हुए, परन्तु जब यह प्रश्न कीजिये कि आर्यसमाज की ओर से कौनसा पंडित था, तो उत्तर में ऐसा नाम लिया जायगा, जो शहर से बाहर किसी को ज्ञात ही न हो। उस समय का धर्मयुद्ध सिपाहियों का था, और किसी का उसमें कोई दख़ल नहीं था। न बड़े २

सेनापति थे, न फ़ौज के ज़बर्दस्त हैडक्वार्टर थे, न विशाल तोपें थीं, और न मशीनगनें थीं। उस समय हरेक आर्यपुरुष सिपाही था, और हरेक सिपाही के हाथ में धर्म की तलवार थी। वह युद्ध खस २ मैदानों में नहीं लड़ा जा रहा था, वह शहर शहर, गांव गांव और घर घर में लड़ा जारहा था। उस समय युद्ध की कला की नहीं, सत्य धर्म की जय हो रही थी। वह समय सचमुच स्वर्गीय था। नेतृत्व के लिये द्वन्द्वयुद्ध प्रारम्भ नहीं हुए थे, संगठन का आवश्यक अत्याचार अविद्यमान था, संस्थाओं का लंगर जहाज के साथ नहीं लटकाया गया था। मनुष्यगत निर्बलतायें उस समय भी विद्यमान थीं, परन्तु उन निर्बलताओं को प्रकाशित करने के जो प्रभावशाली साधन पीछे से बन गये, वह अभी नहीं बने थे।

यों तो उस समय आर्यसमाज के सभी सभासद् प्रचारक थे, परन्तु कुछेक विशेष प्रचारकों के नाम भी मिलते हैं। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ऋषि दयानन्द के पट्ट शिष्य समझे जाते थे। इस समय उनके उद्योग से बहुतसी नई आर्यसमाजें स्थापित हुईं। आर्यसमाज में अन्य सब महात्माओं की अपेक्षा स्वामी आत्मानन्द जी का आदर अधिक था। नई सन्तति ने उनका नाम नहीं सुना। आर्यसमाज के इतिहास में कुछेक कुर्बानियों ने बहुत से ऐसे नामों को तिरोहित कर दिया है, जो भुलानेयोग्य नहीं थे। जहां पर स्वामी आत्मानन्द जी जाते थे, प्रचार करते थे, और यदि पहिले से आर्यसमाज विद्यमान न हो तो स्थापित कर देते थे। १८८३-१८८९ ई० के समय में जितनी आर्यसमाजें स्वामी जी ने स्थापित कीं, उतनी किसी ने नहीं कीं। स्वामी जी में अनेक गुण थे। आपकी स्मरणशक्ति बहुत बलवती थी। आप आर्यसमाज के चलते फिरते विश्वकोष थे। जहां आप एकवार घूम आये, वहां के प्रधान, उपप्रधान, मन्त्री, उपमन्त्री, कोषाध्यक्ष आदि की पट्टी इनपर जिह्वाग्र पर रहती थी।

दूसरे प्रचारक स्वामी ईश्वरानन्दजी थे। स्वामी सहजानन्द ने भी इस समय आर्यसमाजों में अच्छा प्रचार किया, किन्तु चार पांच साल के पीछे आचार-भ्रष्ट होकर आर्यसमाज से अलग होगया। १८८९ में हम उसे आर्यसमाज का कट्टर दुश्मन पाते हैं। सनातन धर्म सभा में देर तक दाल न गलती देखकर फिर साल भर पीछे उसने आर्यसमाज में आने की चेष्टा की। पश्चिमोत्तर प्रदेश की आर्यप्रतिनिधि सभा ने उसे उपदेशक के स्थान पर रख भी लिया, परन्तु पंजाब के समाचारपत्रों ने बड़े ज़ोर का आन्दोलन उठाया, जिससे पश्चिमोत्तर प्रदेश की प्रतिनिधि सभा की आंखें खुल गईं, और आर्यसमाज एक अयोग्य मनुष्य के हाथ से बच गया, इससे उस समय के आर्य पुरुषों की आचरण सम्बन्धी तीव्र अनुभवशक्ति का बोध होता है। बम्बई प्रान्त की ओर

महता कृष्णाराम इच्छाराम ने बहुत कार्य किया। आप ऋषि के उन शिष्यों में से थे, जिन्होंने बम्बई में आर्यसमाज की नींव डाली थी। बम्बई की ओर की अधिकांश आर्यसमाजें महताजी के उद्योग की ही फलस्वरूप थीं।

२. आर्यसमाजों की स्थापना

ऋषि दयानन्द की मृत्यु के एक मास पीछे मेरठ के 'आर्य' समाचार ने उस समय विद्यमान समाजों की एक सूचि प्रकाशित की थी, जिसमें ७९ शहरों के नाम दर्ज थे। यह अवस्था १८८३ ई० के अन्त में थी। १८८५ के जुलाई मास में, लाहौर की आर्यपत्रिका की रिपोर्ट को ठीक मानें तो भारतभर में आर्यसमाजों की संख्या २०० थी। इसके कुछ मास पीछे आर्यपत्रिका के स्तम्भों में ही हम यह समाचार पढ़ते हैं कि भारत भर में २५० आर्यसमाजें हैं। इससे प्रतीत हो सकता है कि आर्यसमाजों की स्थापना के सम्बन्ध में १८८३--१८८५ का स्थान बहुत ऊंचा है। फिर विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इतना बड़ा कार्य विना संगठित प्रयत्न के केवल व्यक्तियों के उद्योग से हुआ। प्रारम्भ में आर्यसमाजों की स्थापना का विशेष कार्य पश्चिमोत्तर प्रदेश में हुआ। वह प्रदेश आजकल के संयुक्त प्रान्त का स्थानीय था। कारण यह था कि इस प्रदेश में आर्यसमाज को दो तीन पण्डितों की सेवा का सौभाग्य प्राप्त था। स्वामी आत्मानन्द जी आदि ने भी शुरू में पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही कार्य किया। २२ मई १८८४ को स्वामी आत्मानन्द जी मंसूरी पहाड़ पर पहुंचे और कई दिनों तक प्रचार किया। ८ जून को आर्यसमाज की स्थापना हुई, १८८५ के जनवरी मास में स्वा० ब्रह्मानन्द जी के उद्योग से नगीना में और अगले महीनो में सम्भल, पीलीभीत कर्णवास आदि में आर्य समाजें स्थापित हुईं। सहारनपुर और मेरठ के जिलों में प्रचार का कार्य विशेष वेग से हुआ। पंजाब में १८८५ में स्वा० ईश्वरानन्दजी ने अच्छा कार्य किया। आर्य सभासदों के उद्योग से भी अनेक समाजें बनीं। लाहौर और जालन्धर के जिलों में प्रचार का अधिक ज़ोर रहा। आर्यसमाज जालन्धर के मंत्री ला० देवराज जी थे, जो अपने धार्मिक उत्साह के कारण ख्याति प्राप्त कर रहे थे। इस आर्य समाज ने उसी समय से भविष्य में विशेष उन्नति करने के लक्षण दिखा दिये थे। लाहौर आर्यसमाज की शक्तियां अधिकतया शिक्षा-प्रबन्ध करने की ओर लग रही थीं, और आर्यसमाज जालन्धर का झुकाव प्रचार की ओर अधिक था। हम पंजाब की इन दो उठती हुई समाजों में दो प्रवृत्तियां देखते हैं, जिनका संघर्ष देर तक चलने वाला था। लाहौर में भी प्रचार के पक्षपाती थे, और जालन्धर में भी वैदिक शिक्षा के समर्थक थे परन्तु लाहौर के कार्यकर्ताओं का अधिक भाग प्रचार को शिक्षा की परिभाषा में, और जालन्धर के कार्यकर्ताओं का अधिक भाग

शिक्षा को प्रचार की परिभाषा में कहा करता था। आर्यसमाज जालन्धर के मंत्री ला० देवराज उस समय एक उत्साही नवयुवक थे। ला० शालिगराम जालन्धर के बहुत बड़े रईस थे। उनके विचार सनातनधर्मी थे। पुत्र कट्टर आर्यसमाजी बन गया। वह केवल समाज का मन्त्री ही नहीं बना, वह समाजी भजन भी बनाता था, और समाज में गाता भी था। पिता ने धार्मिक विचारों पर रुष्ट होकर उसे घर से निकल जाने की आज्ञा दी। ऋषि दयानन्द का सच्चा शिष्य शाही जायदाद को लात मारकर बर्मा के लिये चल खड़ा हुआ। धर्मात्मा पुत्र के इस प्रकार चले जाने से प्रेमपूर्ण पिता का दिल पिघल गया, और एक आदमी को उसे वापिस लाने के लिये दौड़ाया। उस आदमी ने धर्मपरायण देवराज को कलकत्ते के बन्दरगाह पर बर्मा के जहाज पर चढ़ते हुए जा पकड़ा। विनयी युवक जालन्धर में वापिस आकर पूरे उत्साह के साथ धर्म की सेवा में लग गया, और फिर पिता की ओर से उसके मार्ग में कभी बाधा न डाली गई।

इस समय के प्रचारकों में ब्र० रामानन्द का नाम भी उल्लेखयोग्य है। यह ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द के साथ रह चुके थे। ऋषि दयानन्द ने ही उन्हें शिक्षा दिलवाई थी। १८८५ में उन्होंने सन्यास धारण करके शंकरानन्द नाम रक्खा, और प्रचार में अच्छा उद्योग किया इसी वर्ष लाहौर में एक और नाम भी प्रसिद्धि पा रहा था। वह नाम था, चौधरी नवलसिंह का। चौधरी नवलसिंह की लावनियों ने लाहौर में धूम मचा दी थी। चौधरी जी के तेजस्वी शब्द उनकी ऊंची आवाज़ और गाने का प्रभावशाली ढंग अद्भुत असर पैदा करते थे। पंजाब में इस समय पं० मूलराज नाम के उपदेशक कार्य कर रहे थे। उन्हों ने भी कई समाजों की स्थापना की थी।

महात्मा कृष्णाराम इच्छाराम के उद्योग से अहमदाबाद तथा सूरत में भी आर्यसमाजें स्थापित हुईं।

३. राजपूताना

आज हम आर्यसमाज के क्षेत्र में राजपूताने की क्यारी को ऊसर ही समझे बैठे हैं। हमारे विचार को कोई अनुचित भी नहीं कह सकता, परन्तु जब ऋषि दयानन्द के जीवन के अन्तिम भाग को ध्यान से पढ़ा जाय तब प्रतीत होता है कि वह राजपूताने को ही आर्यसमाज का चित्तौड़गढ़ बनाना चाहते थे। थोड़े से समय में ऋषि को कामयाबी भी अद्भुत हुई थी, परन्तु दुःख है कि राजपूताने के अभेद्य दुर्ग में जो रास्ता ऋषि ने निकला था, उसमें घुसनेवाला कोई न निकला। उसका यह अभिप्राय नहीं है कि पीछे से आर्यसमाज के कोई योग्य विद्वान् रजवाड़ों में गये ही नहीं, अवश्य

गये, परन्तु दुःख है कि प्रायः अर्थी होकर गये, गुरु बनकर नहीं। राजपूताने के कुलीन वीर जानते हैं कि एक अर्थी और एक गुरु में क्या भेद है। वह असली और नकली उपदेशक में भेद कर सकते हैं। याद रहे कि राजपूताने में केवल वही आचार्य सफलता प्राप्त कर सकता है जो उदयपुर और जोधपुर के मानी मस्तकों पर लात मार सकता है। ऋषि ने राजपूताने के शेरों की नाक में नकेल डालदी थी, ऋषि के अनुयायियों में से जो लोग राजपूताने में गुरु बनने के लिये गये उनके दिलों में या तो आतंक था, और या मतलब था। ऐसे गुरुओं को राजपूताने में मान नहीं मिल सकता।

ऋषि दयानन्द ने राजपूताने में अनेक शिष्य बनाये थे, परन्तु वह सबसे ऊंचा स्थान महाराणा प्रताप के वंशज महाराणा सज्जनसिंह को देते थे। राजपूताने में उनके मुख्य शिष्य वही थे। ऋषि की मृत्यु के लगभग १ वर्ष पीछे महाराणा सज्जनसिंह की मृत्यु हो गई। इस मृत्यु से परोपकारिणी सभा का सबसे बड़ा स्तम्भ गिर गया और राजपूताने की आर्यसमाजों के पांव उखड़ गये। शाहपुर नरेश महाराजा नाहरसिंह ने महाराणा के वियोग दुःख को भुलाने का यत्न किया और आर्यसमाज के कार्य में बहुत उत्साह दिखाया। आपके ही उद्योग से २६ मार्च १८८५ को शाहपुरा में आर्यसमाज की स्थापना हुई।

जोधपुर राजपूताने की एक प्रसिद्ध रियासत है। राठौर राजपूतों का यह किसी समय गढ़ था। यह वही क्रूरभूमि है जहां आर्यसमाज के प्रवर्त्तक को विष दिया गया था और जहां व्यभिचार और साम्प्रदायिक पक्षपात ने एका करके अपनी जड़ उखाड़ने वाले का प्राण हरण करने का बीड़ा उठाया था। ज्येष्ठ सम्वत् १९४० में दयानन्द का सिंहनाद जोधपुर में होने लगा। उस निर्भय प्रचार का प्रभाव जब जोधपुराधीश महाराजा श्री यशवन्तसिंह जी पर पड़ने लगा तभी घातकों की कुमन्त्रणा का साधन, ब्राह्मणकुलोत्पन्न जगन्नाथ बना। जगदुद्धारक ऋषि ने तो पता लगते ही घातक को कुछ धन देकर भगा दिया, परन्तु आर्यजनता की उठती हुई आशाओं पर वज्रपात ही हो गया। यद्यपि राज के बहुत से महानुभावों को ऋषि के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथापि उन सब में से ऋषि के उद्देश्य को समझ कर, उसका आदर केवल महाराजा श्री प्रतापसिंह जी ने ही किया। उस समय न वह ब्रिटिश नाइट थे और न ही उन्होंने जी० सी० एस० आई० की उच्च उपाधि धारण की थी। मेजर जनरल तो क्या, उस समय क्या कोई यह भी सोच सकता था कि उन्हें ब्रिटिश सेना में कोई कप्तान भी बनायगा। परन्तु ब्रह्मचारी का उपदेश बिजुली का सा असर कर गया और श्री प्रतापसिंह ने वेदानुसार अपने आत्मिक गुरु से मानसिक प्रार्थना की—

नोऽश्माभवतु न स्तनुः। "हमारा शरीर पत्थर के तुल्य दृढ़ हो" और वह शरीर कैसा वज्र के समान हो गया, उसे काबुल की सरहद और फ्रान्स के मैदान ही जानते हैं।

महाराज प्रतापसिंह के नाम ऋषि दयानन्द का निम्नलिखित पत्र दोनों के गुरशिष्य भाव को प्रकट करता है—

"श्री....प्रतापसिंह जी आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा साहेब को भी दृष्टिगोचर करा दीजियेगा। मुझ को इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्यादि में वर्तमान, आप और बाबा साहेब दोनों रोगयुक्त शरीर वाले हैं।

अब कहिए, इस राज्य का, कि जिसमें सोलह लाख से कुछ ऊपर मनुष्य बसते हैं, रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप ही तीनों महाशयों पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर के आरोग्य, संरक्षण आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं-यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूं कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुन कर सुधार लेवें जिससे मारवाड़ को क्या अपने आर्यावर्त्त देशभर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत कम जन्मते हैं...............उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवे उतनी ही देश की उन्नति होती है...........ह० दयानन्द सरस्वती, आश्विन २ शनिवार सं० १९८५ वि०"

महाराज प्रतापसिंह के निज शरीर सेवक महाशय लछमा के हृदय में वैदिकधर्म का अंकुर पहिले पहल उगा। ऋषि दयानन्द के देहान्त के पश्चात् विक्रमी सम्वत् १९४२ में उन्होंने आर्यसमाज स्थापन किया परन्तु पर्याप्त उपस्थिति न होने के कारण ६ मास में ही उसकी समाप्ति होगई। सम्वत् १९४५ में स्वामी भास्करानन्द जी के उद्योग से फिर आर्यसमाज स्थापित हुआ। श्री महाराज प्रतापसिंह जी उक्त स्वामीजी का बड़ा आदर करते थे, इस लिये वह उक्त आर्यसमाज के प्रधान बने, जोधपुर राजा के महामन्त्री श्री पंडित सुखदेवप्रसाद बी. ए., सी. आई. ई. मन्त्री बने और अन्य बहुत से श्रीमानों ने शेष अधिकार लिये। उस समय जोधपुर की सारी प्रजा ही सभासदों की सूची में सम्मिलित समझी जाती थी और सात्सरिक अधिवेशनोंमें दो सहस्र से अधिक जन उपस्थिति होती थी। व्याकरणाचार्य पंडित ठाकुरदास, पंडित गणेशचन्द्र, पंडित अचलेश्वरादि इसी समय उपदेशक नियत किए गए थे।

४—अन्य धर्मों से संघर्ष

ऋषि की मृत्यु के समय आर्यसमाज और थ्यासोफी का संघर्ष हो रहा था। मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अल्काट भारत में धान की पकी हुई खेती सुनकर काटने के लिए आये थे, परन्तु यहां आकर देखते है तो रंग बदला हुआ पाते हैं। अमरीका से आते हुये दोनों चतुर साहसियों ने ऋषि दयानन्द को भक्ति और प्रेम से भरे हुए पत्र लिखे। उन्होंने वैदिक धर्म पर अपना विश्वास प्रकट किया, और थ्यासोफी को आर्यसमाज की शाखा बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु यहां आकर देखा कि भारत की भोली प्रजा के हृदयों पर आसन जमाने के लिये आर्यसमाजरूपी पायदान पर पर रखने की भी आवश्यकता नहीं है। हिन्दू जाति को चेला बनाने के लिये अधेले का गेरू पर्याप्त है। भारत में आने के थोड़े समय पीछे ही इस साहसिक-युगल ने ऋषि दयानन्द की शिष्यता का बाना उतार कर गुरु का चोगा धारण कर लिया, और स्वतन्त्र थ्योसाफिकल सोसाइटी की बुनियाद डाली। कुछ दिनों तक आर्यसमाज के लेखकों और सिपाहियों का थ्योसाफिकल सोसाइटी की ओर विशेष ध्यान रहा। १८८४ के मध्य में दोनों एक दूसरे को भूलने लगे। थ्योसाफिकल सोसाइटी ने आर्य समाज से उलझना खतरनाक समझकर 'भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्' को अपना मूलमन्त्र बनालिया और आर्यसमाज ने थ्योसाफिकल सोसाइटी को भी उसी कोटि में डाल दिया जिसमें और सैकड़ों सम्प्रदाय पड़े हुए थे।

ब्रह्मोसमाज के साथ आर्यसमाज की कभी ज़ोरदार टक्कर नहीं हुई। दार्शनिक वाद विवाद सदा जारी रहे हैं। ब्रह्मोसमाज के साथ ज़ोर से टकराना है भी बहुत कठिन। उसके सिद्धान्तों की दीवार रुई से बनाई गई है। टक्कर लगती ही नहीं। जिसमें प्रतिरोध की शक्ति होगी, वहीं टक्कर भी लगेगी। बहुत दिनों तक आर्यसमाज क्वेटा के साप्ताहिक अधिवेशन ब्रह्मोसमाज मन्दिर में होते रहे।

तीसरा सामयिक सम्प्रदाय, जिसके साथ आर्यसमाज को कई साल तक उलझना पड़ा, देवसमाज था। देवसमाज के संस्थापक पं० सत्यानन्द अग्निहोत्री के जीवन की कथा बड़ी मनोरञ्जक और उपदेश-पूर्ण है जो लोग धर्मों का अनुशीलन मनोवैज्ञानिक रीति से करते हैं, वह देवसमाज के उदय और अस्त के इतिहास को बड़ी दिलचस्पी से पढ़ सकते हैं। पं: शिवनारायण अग्निहोत्री का सार्वजनिक जीवन एक सन्देह शील स्कूल मास्टर की हैसियत से शुरू होता है। धीरे २ वह ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट हो जाता है। रवायत है कि जब ऋषि दयानन्द अमृतसर से गये थे, तब ब्रह्मोसमाजी शिवनारायण अग्निहोत्री उनसे मिले थे, और वेद पर कुछ आक्षेप किये थे। ऋषि ने वेद की पुस्तक

उठाकर हाथ में देदी और आक्षेपयोग्य मन्त्र निकाल देने को कहा। अग्निहोत्री जी बेचारे वेद क्या जानें ? उन्होंने विलायत के कुछ लेखकों के वेद सम्बन्धी उद्गार पढ़ रखे थे, उन्ही के आधार पर आक्षेप कर दिया था। जब बहुत देरतक ढूंढ कर भी वेद में से कुछ न निकाल सके तो लोग हँस दिये। तब से अग्निहोत्री जी आर्य समाज के दुश्मन हो गये।

ब्रह्मोसमाज में प्रविष्ट होकर पं: शिवनारायण ने अच्छे उत्साह से कार्य किया। आपकी बोलने की शक्ति अद्भुत थी। उधर बंगाल में बा० केशवचन्द्र सेन ब्रह्मोसमाज के आचार्य बन रहे थे। बाणी और योग्यता के बल पर वह पूजा पा रहे थे। खरबूज़े को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है। पं० शिवनारायण ने भी आचार्य और पूज्य बनने की दिल में ठानकर २० सितम्बर १८८२ के दिन सन्यास ले लिया। कुछ ही दिन पूर्व दूसरा विवाह हुआ था। नई बहू और बच्चों को साथ लेकर प० शिवनारायण अग्निहोत्री ने सत्यानन्द स्वामी बनकर भगवा धारण कर लिया, और घोषणा दी कि 'मैंने दुनिया से सन्यास लिया है, स्त्री और बच्चों से नहीं।' १८८३ में प० सत्यानन्द अग्निहोत्री ने धर्मजीवन नाम का एक पत्र निकालना आरम्भ किया।

नौकरी का त्याग और भगवां स्वामी पं० सत्यानन्द अग्निहोत्री को उस ऊचे आसन पर न बिठा सका, जिसकी उन्हें चाह थी। उग्र अहंभाव पहले से ही देवत्व के दावे की भूमिका बांध रहा था। आर्यसमाज के लेखक और प्रचारक पहले दिनसे ही इस अद्भुत जीवन कथा को समालोचना की दृष्टिसे देख रहे थे। समाचार पत्रों में अग्निहोत्री जी के सन्यास और गुरुभाव की आलोचना यथा शक्ति की जाती थी। उन्हीं के उत्तर के लिये 'धर्म जीवन'का जन्म हुआ था। इस समय से पं० सत्यानन्द स्वामी और आर्यसमाज में जो संघर्ष आरम्भ हुआ, वह देर तक जारी रहा। वह तब तक समाप्त नहीं हुआ जबतक कि ईश्वर का स्थान लेने के अभिलाषी देवगुरु भगवान् के धार्मिक दावे दुनिया की दृष्टि में मूल्यरहित नहीं होगये।

प्राचीन मतमतान्तरों से संघर्ष बराबर चला जाता था, परन्तु अभी तक विशेष ज़ोरदार लड़ाई सनातन धर्मसे ही आरम्भ हो रही थी। इस समयकी विशेषता यह थी कि बहुत बड़े २ शास्त्रार्थ अभी आरम्भ नहीं हुए थे। कारण यह प्रतीत होता है कि शास्त्रार्थ की कला में अभी कोई भी निपुण नहीं हुआ था। शास्त्रार्थों की पुरानी शैली, जिनमें अवच्छेदक की युक्तियां ही अमोघ शक्ति का काम करती थी, ऋषि दयानन्द के युक्तिरूपी गोलों से निकम्मी करदी गई थीं। पुराने पाण्डित्यदुर्ग को वीर दयानन्द के तर्क तीरों ने अजरेब कर दिया था। दयानन्द की वाणी प्राचीन पाण्डित्यदुर्ग पर बिजली की तरह

गिरी, और भस्ममात् कर गई । वह हथियार निकम्मे होगये । अवतार तू उस अनूठे बीर की भी शीघ्र लीला समाप्त होगई । पुराने किले गिर गये, नये बने नहीं, भूमि और आकाश शून्य से होगये । विरोधियों पर ऐसा रोब छाया हुआ था कि उनकी आंखें नहीं उठती थीं, और आर्यसमाज अभी नाच लगा था । उसके वीर तय्यार होरहे थे, जो शीघ्र ही प्रतिद्वन्द्वियों से चोमुखी लड़ाई आरम्भ करने वाले थे ।

अन्य मतों से आर्यसमाज में भरती बराबर जारी थी । इस प्रकार के समाचार आर्य समाचार पत्रों में बराबर मिलते हैं—

"दो शख्स भगवानदास और भगवानदीन बाशिन्दा जबलपुर जो कमी बनख्वाह किसी और तौर पर ईसाई बना लिये गये थे, फिर अपने कदीम मज़हब में बमदद आर्यसमाज इलाहाबाद दाखिल हुए ।"

आर्य समाचार, मेरठ श्रावण १९४१ ।

अमृतसर से एक महाशय सम्पादक आर्यसमाचार को लिखते हैं·······लालसिंह मै अपनी जोज़ा के हमारे पास आये और प्रायश्चित करकर शुद्ध किये गये ।

भाद्रपद १९४१

१५ अगस्त १८८५ की आर्यपत्रिका में हमें कई ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जिनमें ईसाई या मुसलमान बनते हुए हिन्दू आर्यसमाज के उद्योग से बच गये । दो महिने पीछे हम समाचार पत्रों में पढ़ते हैं, कि मिर्ज़ा इमामुद्दीन (रईस) और मुन्शी मुराद अली खां नाम के दो क़ादियान के मुसलमानों को आर्यधर्म में वापिस किये । अकेले आर्यसमाज अमृतसर ने १८८५ में यह दावा किया था कि कम से कम ४० आदमी उसीके उद्योग से विधर्मी बनते बनते बचे । इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज का ज़ोरदार प्रचार केवल पौराणिक सिद्धान्त मानने वालों पर ही नहीं, इंजील और बाईबिल के अनुयायीयों परभी प्रभाव पैदा कर रहा था ।

५. जीवन की उमंग

इस समय के कार्यकर्त्ताओं में एक जीवन की उमंग थी, जो शैशव में ही दिखाई देती है । तरह २ की स्कीमें तय्यार होरही थीं, भारी विघ्नों के पहाड़ रेत के टीलेकी तरह गिर रहे थे । मेरठ के आर्यसमाज में पश्चिमोत्तर प्रदेश के मुन्शी

लछनन स्वरूप जी ने एक प्रस्ताव किया था कि प्रान्त में आर्यप्रतिनिधिसभा स्थापित की जाय, पंजाबमें भी आर्य प्रतिनिधि सभा की चर्चा उठ रही थी। आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री ने पत्रों में एक चिट्ठी छपवाई थी, जिसमें ऋषिदयानन्द के जीवन चरित्रकी सामग्री भेजने की प्रार्थना की थी। राजपूताने के रामगढ़ स्थान में कालूराम नाम के एक ऋषिभक्त ने १०००० मनुष्यों को गायत्री देकर दयानन्दभक्त आर्यसमाजी बनाया। इधर पंजाबभूषण श्रीमती माई भगवती के उद्योग से अमृतसर तथा अन्य स्थानों पर स्त्री समाजें बनाने का उद्योग होरहा था। यह सब नई उमंग और नई ज़िंदगी के चिन्ह थे।

इस जीवन की ज्योति को जीवित रखने के लिये आजकल के शतमुख उपदेशक समाचार पत्र भी जन्म ले रहे थे। आर्यसमाचार भारतसुदशाप्रवर्तक आदि पत्र ऋषि के जीवनकाल में ही निकल चुके थे। लाहौर से अंग्रेज़ी के 'आर्य' नामके मासिक पत्र ने १८८२ ई० के मार्च मास में जन्म लिया। उसके सम्पादक मि० बारी थे। इस पत्र ने कई साल तक उपयोगी कार्य किया। पीछे से पत्र सम्पादन और वेदभाष्य द्वारा पैसा कमाने का उद्योग करने पर मि० बारी सर्व साधारण की दृष्टि में अप्रिय होगये और आर्य्यपत्रिका ने अंग्रेज़ी पत्र की आवश्यकता को पूर्ण कर दिया, इस कारण 'आर्य' बन्द हो गया लाहौर से Regeneration of Aryavart नामक पत्रिका निकली, उसने भी अच्छा कार्य किया। १ मई सन् १८८५ ई० में मुरादाबाद से आर्यभाषा का पाक्षिक 'आर्य्यविनय' निकलना आरम्भ हुआ। सन् १८८५ ई० के जून मास में लाहौर से आर्यपत्रिका प्रकाशित होने लगी, और उसी वर्ष के जुलाई मास में फीरोजपुर से आर्यगज़ट ने जन्म लिया। आर्यविनय को कुछ दिनों तक चमका कर पं० रुद्रदत्त जी सम्पादक आर्य कलकत्ते चले गये, पत्र बेचारा बहुत दिनों तक सिसकता रहा। आर्यपत्रिका का विशेष उद्देश्य डी० ए० वी० कालिज के सम्बन्ध में आन्दोलन करना था। सिद्धान्तों के संबन्ध में पं० गुरुदत्त एम० ए० तथा अन्य विद्वानों के लेखों से इस की उपयोगिता को बढ़ाया जाता था। आर्य गजट योद्धा था। इनके अतिरिक्त देशहितैषी (हिन्दी) मासिक अजमेर से, आर्यपत्र (उर्दू तथा हिंदी) बरेली से तथा आर्य प्रकाश (गुजराती मासिक) बम्बई से प्रकाशित हो कर आर्य जनता की धर्म पिपासा को बुझाने का यत्न कर रहे थे। इनमें से अधिकांश प्रायः मतान्तरों की उग्र मीमांसाओं से ही भरे होते थे। पहिले से ही आर्य पत्रिका की लेखशैली अधिक सौम्य और अधिक क्रियात्मक थी। अपने १२वें ही अंक में आर्यपत्रिका ने उस समय प्रचलित शास्त्रार्थ प्रणाली के विरोध में एक लेख प्रकाशित किया था। सामान्यतया लाहौर के इस साप्ताहिक का संपादन बहुत योग्यता और गम्भीरता से होता था।

तीसरा परिच्छेद

डी० ए० वी० कालिज

—:×○×:—

१८८६ ई०—१८८७ ई०

१—उत्साह

एक पुरुष की गृहिणी बच्चे को जननीविहीन छोड़कर परलोक को चली जाती है। एक क्षणभर के लिये पुरुष को प्रतीत होता है कि उसका संसार नष्ट होगया, वह प्रेम का अमृत, जिसके बिना जीवन निःसार है, निराधार होजाता है। वह दुखःमय काल होता है। शीघ्र ही पहला आवेग नष्ट होजाता है, पुरुष की दृष्टि मातृविहीन बच्चे पर पड़ती है, प्रेमामृत का सरोवर उमड़ आता है, और जो शून्य पैदा हुआ था, वह भर जाता है। प्रेम को एक केन्द्र मिल जाता है। पिता अपने पुत्र को गोदी में लेकर बार-बार चूमने लगता है। उस समय उसे वह पुत्र पहले से अधिक प्यारा प्रतीत होने लगता है।

यही अवस्था पजाब के आर्यपुरुषों की हुई। ऋषि दयानन्द के वियोग ने क्षणभर के लिये आर्य पुरुषों को निस्तब्ध सा कर दिया। उनका प्रेम निराधार होकर भटकने लगा। इतने में दयानन्दऐंग्लोवैदिक कालिज की स्कीम सामने आई। हृदय में जो शून्य उत्पन्न हुआ था, वह भर गया। आर्य पुरुषों के प्रेम को अपना ठिकाना मिल गया। पंजाब की आर्यसमाजो के सिरपर एक पागलपन सा सवार होगया। उन्हें ऋषि का स्मारक, प्रचारक निकालने का साधन, वैदिक स्वाध्याय को जागृत करने का उपाय— सब कुछ डी० ए० वी० कालिज ही प्रतीत होने लगा। उस अनिवार्य आग्रह के साथ, जिसके लिये पंजाबी मशहूर हैं, डी० ए० वी० कालिज की स्थापना का कार्य आरम्भ हुआ। पंजाब के आर्यसमाजों में जो थोड़े से कार्यकर्ता थे, उनकी शक्तियां इसी ओर लग गईं।

हम जिस प्रचारयुग का इतिहास गत परिच्छेद में लिख आये हैं, उसने एक वैदिक शिक्षणालय की आवश्यकता को और भी अधिक सिद्ध कर दिया। प्रचार के उत्साहकाल में ही प्रचारकों के अभाव का अनुभव हुआ करता है। उस समय सभी प्रचारक थे, परन्तु वह पगपग पर अनुभव करते थे कि जबतक शास्त्रों के जाननेवाले वाग्मी प्रचारक न हों तबतक कार्य खूबसूरती से नहीं चल सकता। विशेषतया लाहौर के आर्यपुरुषों ने तो कालिज को अपने कार्यक्रम का पहला भाग बना लिया। डी० ए० वी० कालिज के आन्दोलन को फैलाने के लिये आर्यपत्रिका निकाली गई, और जिस सबकमेटी की चर्चा पहिले परिच्छेद में कर चुके हैं उसके सिवा एक और सबकमेटी बनाई गई जिसके निम्नलिखित सभ्य थे—

१. ला० लालचन्द एम० ए० प्रधान

२. ला० मदनसिंह बी० ए० सेक्रेटरी

३. ला० अमोलकराम

४. ला० जीवनदास

५. ला० सुखदयाल

६. ला० बटालियाराम

यह कमेटी नियमपूर्वक अपने रजिस्टर रखती थी। एकत्रित चन्दा आगरा बंक में जमा किया जाता था।

इस कमेटी में एक नाम का अभाव खटकता है। पं० गुरुदत्त एम० ए० डी० ए० वी० कालिज के जन्मदाताओं में से थे। शिक्षणालयसम्बन्धी आन्दोलन के दिमाग़ और आत्मिकबल गुरुदत्त विद्यार्थी ही थे। उनका नाम कमेटी में नहीं दिखाई देता, जिसका कारण स्पष्ट है। वह आन्दोलन के गुरु ब्राह्मण समझे जाते थे। वह भाव के प्रचारक थे, उन्हें प्रबन्ध के झमेले से अलग ही रखा गया था। आर्यसमाज के उत्सवों पर अधिकतया कालिज के नाम पर आप ही अपील किया करते थे। इन दिनों ला० लाजपतराय हिसार में विकालत कर रहे थे। डी० ए० वी० कालिज के लिये उनका उत्साह प्रारम्भ से ही प्रकाशित होरहा था। आर्यसमाज

के मैदान में उनकी भाषणशक्ति की भी धाक बंधनी आरम्भ हो गई थी। उन्हें अच्छे बोलनेवाले समझा जाता था। कई स्थानों पर जाकर ला० लाजपतरात जी ने व्याख्यान दिये और चन्दा एकत्र किया। १८९५ में साधु रमताराम ने लाहौर में कालिज के नाम पर आटा फण्ड खोला, जिसमें बहुत कामयाबी हुई।

२--उद्देश्य

डी० ए० वी० कालेज के उद्देश्यों के सम्बन्ध में स्वयं कुछ न कहकर हम कालिज की पहली रिपोर्ट के कुछ उद्धरण, ला० लाजपतरायजी की The Arya Samaj नाम की पुस्तक से लेकर देते हैं।

"इन आवश्यक विचारों से प्रेरित होकर हम एक ऐसे शिक्षणालय की स्थापना करना चाहते हैं, जो वर्तमान प्रणाली के गुणों की रक्षा करता हुआ उसकी त्रुटियों को पूरा करे। मुख्य उद्दश्य यह होगा कि—

(१) राष्ट्रीय भाषाओं के स्वाध्याय को उत्साहित किया जाय और अशिक्षित लोगों को एक श्रृंखला में बांधा जाय।

(२) प्राचीन संस्कृत के अध्ययन पर ज़ोर देकर सदाचार और धर्म सम्बन्धी ज्ञान को फैलाया जाय।

(३) नियमपूर्वक जीवनद्वारा स्वास्थ्य और शक्ति सम्पन्न जीवन को पैदा किया जाय।

(४) अंग्रेज़ी साहित्य से पर्याप्त परिचय पैदा किया जाय।

(५) तथा भौतिक और क्रियात्मक विज्ञान के प्रचारद्वारा देश की आर्थिक उन्नति को सहायता दी जाय।

यह घोषणा संस्था के जारी होने से पूर्व की गई थी। संस्था के बन जाने पर सोसाइटी को रजिस्टर्ड करवाया गया। उस समय संस्था के निम्नलिखित उद्देश्य लिखे गये थे।

(१) हिन्दू साहित्य के अध्ययन को उत्साहित उन्नत और आवश्यक करना।

(२) प्राचीन संस्कृत और वेद के अध्ययन को उत्साहित और आवश्यक करना।

(३) अंग्रेज़ी साहित्य, कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक विज्ञान को उत्साहित और आवश्यक करना।

आर्य पत्रिका में भी कालिज के उद्देश्यों के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार प्रकट किये गये थे। मुख्यतया तीन उद्देश्य बताये गये थे। हिन्दू साहित्य की रक्षा वैदिक तथा आर्य साहित्य की शिक्षा और पश्चिम की भाषा और विज्ञान से अपनी भाषा और विज्ञान को पुष्ट करने का प्रयत्न यह तीन उद्देश्य थे, जो अनेक प्रकारों तथा नामों से बतलाये जाते थे। उस समय से लगभग ३६ वर्ष पीछे १९२१ में ऐंग्लोवैदिक कालिजकी कड़ी आलोचना करते हुए 'स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्यसमाज की मौजूदा हालत' नाम के ट्रैक्ट में ला० लाजपतराय जी ने कालिज के निम्न लिखित प्रारम्भिक उद्देश्य बतलाये हैं-

"दयानंद ऐंग्लोवैदिक कालिज के बानियान का यह मन्शा था, कि संस्कृत और हिंदी की तालीम को अंग्रेज़ी तालीम के साथ लाज़मी करार देकर वह उन नुकायस को दूर कर सकें जो एक तरफ महज़ संस्कृत की तालीम से और दूसरी तरफ महज अंग्रेज़ी की तालीम से पैदा होते हैं। उनकी गरज़ यह थी कि तालीमयाफ्ता जमाअत और अवामउल्नास के दर्म्यान जो दीवार हाल होती जाती है उसको दूर किया जाय, ऐसी तालीम दी जाय जिससे तालीमयाफ्ता लोग अवामउल्नास के साथ ऐसे गहरे ताल्लुकात पैदा कर सकें कि उनके ख्यालात का असर आम हो"।

इन उद्धारणों से बहुत सी जगह घेरने का लक्ष्य डी. ए. वी. कालिज के उद्देश्य को स्पष्टता के साथ दिखाना है। दो बातों की ओर विशेषतया ध्यान खिंचता है। एक तो इस ओर कि उस समय के किसी भी लेख में डी. ए. वी. कालिज को आर्य समाज के लिये उपदेशक तैयार करने का साधन नहीं बताया गया, और दूसरे इस ओर कि भारत के प्राचीन इतिहास को वर्तमान विज्ञान की अपेक्षा पहिला दर्जा दिया गया है। इन दोनों बातों को ध्यान में रखेंगे तो हमें उन बहुत से झगड़ों को समझने में सहूलियत होगी, जो आगे पैदा हो गये। प्रारम्भिक उद्देश्यों के लिखने वाले महानुभावों ने बड़ी सावधानता से काम लिया था। डी. ए. वी. कालिज सम्बन्धी प्रारम्भिक

साहित्य में हम धार्मिक आवश्यकताओं का बहुत ही कम निर्देश पाते हैं। उनमें राष्ट्रीय (National) दृष्टि को ही प्रधान रक्खा गया था।

यह कहना कठिन है कि आर्य जनता ने डी. ए. वी. कालेज के प्रारम्भिक संचालकों की सावधान भाषा को समझने और उसकी तह में जाने का यत्न किया था या नहीं? जहां तक सर्व साधारण के जोश और उद्गारों के चिन्ह मिलते है, यही प्रतीत होता है कि वह लिखित शब्दों की ओर नहीं जा रहे थे। वह डी. ए. वी. कालिज को ऋषि दयानन्द का स्मारक ही नहीं, प्रतिनिधि भी मान रहे थे। उनका जोश संचालकों की कानूनी और सावधान भाषा से उत्पन्न नहीं हुआ था, उनका जोश दयानंद और वेद के नाम पर पैदा हुआ था। रुपया प्राचीन साहित्य और साइंस को मिलाने के लिये नहीं बरसा था, ऋषि की यादगार में वेद पढ़ानेवाले शिक्षणालय की स्थापना के लिये बरसा था। इसमें भी सन्देह नहीं कि डी० ए० वी० कालिज के संचालक परिस्थिति को खूब समझते थे और मौखिक अपीलों में दयानन्द और वेद के नाम को ही दुहराते थे। सर्व साधारण के सामने पूर्व और पश्चिम के मेल की गहरी फिलासफी नहीं रखी जाती थी। इस प्रकार प्रारम्भ से ही दो प्रकार की विचारलहरें एकसाथ चल रही थीं। कागज़ पर सरकारी तौर से बहुत परिमित लक्ष्य रखा था, परन्तु जनता दूसरे ही विचार से मस्त थी। मौखिक अपीलों में डी० ए० वी० कालिज के सम्बन्ध में जो विचार रखे जाते थे उनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं।

३—अपील

१८८६ ई० में लाहौर आर्यसमाज के अवसर पर डी० ए० वी० कालिज के लिये ला० लाजपतराय जी ने और पं० गुरुदत्त जी ने अपील की थी। लाला लाजपतराय जी ने अपनी अपील के अन्त में जो शब्द कहे थे उन्हें २ मार्च १८८६ के अंक में आर्य पत्रिका ने निम्नलिखित प्रकार से रिपोर्ट किया है।

"He laid great stress upon the immence services wich the Swami had rendered to the country, and concluded by saying that not only should the people of India subscribe to the College Funds because of the immense debt of gratitude under which

the Swami had laid them by devoting his life in cause but also because of the want of moral and religious education.

वक्ताने उन आध्यात्मिक सेवाओं पर ज़ोर दिया, जो स्वामी दयानन्द ने देश के लिये की है और समाप्ति पर कहा कि केवल इसलिये देशवासियों को कालिज की सहायता न करनी चाहिये कि वह स्वामीजी के सेवामय जीवन के उपकारों के बोझ के नीचे दबे हुए हैं, परन्तु इसलिये भी कि इस समय सदाचार और धर्म की शिक्षाओं का नितान्त अभाव है।

अगले वर्ष लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर पं० गुरुदत्त एम० ए० ने डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील की। आपके व्याख्यान का सारांश यह था कि ब्रह्मचर्य के बिना जीवन दुःखमय होरहे हैं। जो लोग ब्रह्मचारी नहीं रहते वह आत्महत्या के पाप के भागी होते हैं। ब्रह्मचर्य तथा अन्य धर्मों का पालन करना असम्भव है जबतक कि हम वेद तथा शास्त्रों की सहायता न लें। डी० ए० वी० कालिज से देशको बड़ा लाभ होगा क्योंकि उसमें धर्म शास्त्रों तथा धर्म का ज्ञान कराया जायगा।

यह अपीलें प्राम्भिक दशा की हैं। ज्यों २ समय वीतता गया, डी० ए० वी० कालिज की अपीलों में वेद और शास्त्रो की शिक्षा पर और भी अधिक बल दिया जाने लगा। १८८८ ई० में लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर फिर पं० गुरुदत्त जी ने ही अपील की। आपने बताया कि वर्तमान विज्ञान मनुष्य की आत्मा को शान्ति नहीं देसकता। वेद में ही शान्ति देने की शक्ति है। वेद के अध्ययन से ही संसार का उद्धार हो सकता है। अन्त में व्याख्याता ने कहा कि जिस किसी संस्थामें वेद पढ़ाने का प्रबन्ध हो, उसे सहायता देना आर्यमात्र का कर्त्तव्य है। आपने किसी संस्था विशेष का का नाम नहीं लिया, लोगोंने स्वयं ही समझ लिया कि डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील की गई है। कालिज का नाम क्यों नहीं लिया गया, इसके कारण पर हम इस समय प्रकाश नहीं डालना चाहते। हमे केवल इतना ही दिखाना है कि जहां लिखित अपीलों में कानूनी सावधानता को क. .. लाकर डी० ए० वी० कालिज को केवल राष्ट्रीय संस्था बतलाने का यत्न किया जाता था, वहां सार्वजनिक मौखिक अपीलों में वेद शास्त्र ब्रह्मचर्य आदि के नामों को ही अधिकतया दोहराया जाता था। आर्य जनता लिखित भाषा की पेचीदगियों में नहीं जाती थी, वह दयानन्द और वेद को ही आगे रखती थी। हम इस प्रकार प्रारम्भ से ही दो प्रकार की लहरों को चलता देखते हैं। यही दोनों लहरें धीरे २ दृढ़ होकर पार्टी के रूप में परिणत होगई।

४—उत्साह

उत्साह का स्थूल रूप दान है। किसी सार्वजनिक संस्था के लिये जनता में उत्साह है या नहीं इसकी परख आर्थिक सहायता से होती है। इस कसौटी पर परख कर देखें प्रतीत होता है कि आर्यसमाज में उस समय डी० ए० वी० कालिज के लिये बड़ा उत्साह था। ऋषिकी मृत्यु के कुछ समय पीछे ही लाहौर में जब सभा हुई तो ८०००) एकत्र हुआ। इस राशि में आर्य ललनाओं के आभूषण भी शामिल थे। आज देखने में ८ सहस्त्र की रकम छोटी दिखाई देती है परन्तु उस समय की दशा में बहुत भिन्न थी। रुपया आज से महंगा था; सार्वजनिक कार्यों के लिये दान देनेकी आदत लोगों को नहा पड़ी थी, और आर्यसमाज में धनी पुरुषों का अभाव था। लाहौर के मुट्ठी भर आर्य पुरुषों में से कोई भी उस समय लखपति कहाने के योग्य नहीं था। उस समय के ८ हजार आजके २० हजार के बराबर थे। १८८६ मे हमें समाचार पत्रों में पढ़ते है कि कालिज के लिये २० हजार रुपया इकट्ठा होगया है।

पंजाब में आर्यसमाजों के उत्सवों पर डी० ए० वी० कालिज के लिये ही अपीलें होती थीं। अपील करने का काम पं०गुरुदत्त एम० ए० और ला० लाजपतराय के सुपुर्द था। पं०गुरुदत्त की योग्यता और धाराप्रवाह भाषण शक्ति जनता पर अद्भुत असर रखती थी। ला० लाजपतराय की ओजस्वी वाणी प्रारम्भ से ही सत्कार पा रही थी। कभी २ ट्रिब्यून के सम्पादक मि० मजुमदार भी डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील किया करते थे। साधु रमताराम पंजाब के एक उत्साही कार्यकर्ता थे। बोलने में तेज़, कार्य में अनथक, स्वभाव में अक्खड़, लगन के सच्चे साधु रमताराम ने डी० ए० वी० कालिज के लिये कुछ सालों तक खूब काम किया। लाहौर में आटा फंड चलाने का श्रेय साधुजी को ही था।

उस समय जिन दानियो ने पुष्कल राशियां देकर संस्था के संचालकों के उत्साह को बढ़ाया, उनमें से दो के नाम विशेषतया स्मरणीय हैं। म्यानी के ठेकेदार मलिक ज्वालाप्रसादजी ने ८०००) का इकट्ठा दान किया। मलिकजी की आर्यसमाज के लिये दान की यह पहली किश्त थी। अगली किश्तें बराबर आती रहीं। सन् १८९१ ई० के आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर आपने दो मौरूसी चाहात, दो मौरूसी मकानात, औरतों के कुल ज़ेवरात और बाकी कुल जायदाद के चौथे हिस्से की वसीयत ऐंग्लोवैदिक कालिज के नाम कर दी थी। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी रकमें

समय समय पर आपसे आर्य समाज को प्राप्त होती रही। डी. ए. वी. कालिज के लिये दूसरी बड़ी रकम भैरोंवाल के रईस बाबा नारायणसिंह से प्राप्त हुई थी। आपने अमृतसर में डी. ए.वी. स्कूल खोलने के लिए १० दस हजार रुपये नकद और ५० हजार की कीमत के गांव दान में दिये थे, जो पीछे से उनके पोते ने नालिश करके वापिस लेलिये थे। आर्यसमाज में मध्यम श्रेणी के लोगों की अधिकता उस समय भी थी और अब भी है। बड़े २ दान उत्साह को बढ़ाने के साधन होते थे, परन्तु खज़ाना छोटी २ राशियों से ही भरता था। कई आर्यसमाजें निश्चित मासिक चन्दा देती थीं। मुलतान आर्य समाज से ३०) मासिक, लुधियाना आर्य समाज से २१) मासिक, गुजरानवाला आर्य समाज से १५) मासिक के लगभग सहायता प्राप्त होती थी। अपनी थोड़ी सी आय का जितना अधिक भाग आर्य समाजी लोग दान में देते हैं, अनुपात से शायद उतना दान दूसरे किसी समाज के लोग नहीं देते। सारांश यह है कि डी. ए. वी. कालिज, पंजाब के आर्य पुरुषों के लिये एक लाड़ला उद्देश्य हो गया। पं० गुरुदत्त जी की महत्वपूर्ण सहायता, ला० लाजपतराय जी की तेजस्विनी वाणी, और ला० हंसराज जी की जीवनाहुति ने पंजाब की शिक्षित मंडली को कालिज के पीछे पागल सा कर दिया।

४—लाला हंसराज बी० ए०

जिस व्यक्ति के स्वार्थत्याग ने डी. ए. वी. कालिज के संचालकों के उत्साह को कई गुना कर दिया, उसका जन्म होशियारपुर ज़िले के बजवाड़ा नामक कस्बे में हुआ था। आपके पिता का नाम चुन्नीलाल था। जिस समय उनका देहांत हुआ, हंसराज जी के बड़े भाई ला० मलकराज जी की आयु १५ वर्ष की और उनकी अपनी आयु १० वर्ष की थी। पिता के मर जाने पर बड़े भाई ने ही बालक के लिये पिता का स्थान ले लिया। ला० मलकराज भल्ला ने लाहौर में आकर रेलवे में नौकरी कर ली, और हंसराज जी पढ़ने लगे। परिश्रम और बुद्धि ने अपने फल दिखाये। आप अच्छे विद्यार्थियों में समझे जाने लगे। बालकावस्था से ही आप के हृदय में धर्मप्रीति उत्पन्न होने लगी थी। आपके स्कूल के हैडमास्टर ईसाई थे। एक रोज़ वह भारतवर्ष का प्रामाणिक इतिहास (!) पढ़ाते २ कहने लगे, कि प्राचीन आर्य लोग पत्थरों और वृक्षों की पूजा किया करते थे। आप ने इस निर्मूल स्थापना का विरोध किया। विवाद यहां तक बढ़ा कि आप को दो दिन के लिये स्कूल छोड़ना पड़ा।

१८८० ई० में हंसराज जी ने ऐंट्रन्स परीक्षा, और १८८५ ई० में बी. ए. परीक्षा पास की। परीक्षा के उत्तीर्ण विद्यार्थियों में आपका नम्बर दूसरा रहा। विद्यार्थीकाल में ही आप आर्यसमाज के सत्संग में आने जाने लगे थे। उन दिनों आर्यसमाज लाहौर में एक ऐसी आत्मा का निवास था। वह एक सुगन्धित फूल था, जिसके साथ संसर्ग होते

ही सुगन्ध पैदा हो जाती थी। आर्यसमाज के प्रधान ला० साईंदास थे। नवयुवक हंसराज को उन्होंने पहिचान लिया, और उसमें धर्म की लाग लगानी आरम्भ कर दी जब ला०साईंदास जी ने हंसराज जी की हृदयभूमि को हल से खूब नर्म और तय्यार कर दिया तो एक दूसरे महापुरुष ने उस में धर्म का बीज बोया। कालिज में प्रविष्ट हो जाने पर ला० हंसराज जी पं० गुरुदत्त जी के संसर्ग में आये। आप पं० जी के गहरे मित्रों और सहयोगियों में से थे।

१८८५ ई० में आप बड़ी सफलता के साथ बी. ए. परीक्षा में उत्तीर्ण हुये। उधर पंजाब की आर्य समाजों में डी. ए. वी. कालिज के लिये उत्साह उमड़ रहा था। जोश था, धन था, इच्छा थी, परन्तु नई संस्था के लिये किसी योग्य हैडमास्टर के न मिलने से सम्पूर्ण आन्दोलन निराशामय सा प्रतीत होता था। उस समय ला० हंसराज जी ने अपने आप को सेवा के लिये पेश किया। आप ने बिना कुछ वेतन लिये डी. ए. वी. स्कूल में कार्य करने की इच्छा प्रकट की। अन्धे को आंखें मिली। डी. ए. वी. कालेज कमेटी का उत्साह दसगुना हो गया, और प्रांतभर में एक जोश की लहर चल निकली। आर्य समाज की उस समय की परिभाषा में "ला० हंसराज की उस कुर्बानी ने डी. ए. वी. कालिज को मुमकिन बना दिया।"

६—डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना

लम्बा परिश्रम अन्त को फलीभूत हुआ। १ जून १८८६ के दिन आर्यसमाज मन्दिर लाहौर में एक सार्वजनिक सभा हुई। विचार तो यह था कि स्कूल की स्थापना धूमधाम से की जाय, परन्तु जून के महीने को लोगों के एकत्र होने के लिये उचित नहीं समझा गया। बड़े उत्सव को किसी दूसरे समयके लिये मुल्तवी करके 'स्वल्पारम्भ' पर ही सन्तोष किया गया। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० ने एक प्रभावशाली व्याख्यान में डी० ए० वी० कालिज के उद्देश्यों का वर्णन किया। अगले दिन आर्यसमाज मन्दिर में ही लड़कों की भर्ती आरम्भ हो गई। जून मास में भर्ती होने से विद्यार्थियों से कोई प्रवेश की फीस नहीं ली गई। प्रारम्भ में स्कूल का निम्नलिखित अध्यापक-वर्ग नियत किया गया।

१ ला० हंसराज बी० ए० हैडमास्टर

२ ला० दुर्गाप्रसाद सेकेंड मास्टर

३ भाई सोहनसिंह सायंस के अध्यापक

४ ला० देवीदयाल गणिताध्यापक

५ पं० श्रीकृष्ण शास्त्री, प्रथम संस्कृताध्यापक

६ पं० मुनीराम विशारद, द्वितीय संस्कृताध्यापक

७ पं० मनीराम विशारद, प्रथम हिन्दी शिक्षक

८ पं० मूलराज, द्वितीय हिन्दी शिक्षक

९ पं० हरनामदास, प्रथम उर्दू शिक्षक

१० ला० प्यारेलाल, द्वितीय उर्दू शिक्षक

११ ला० फग्गूराम

इस प्रकार ११ अध्यापकों की मंडली ने ऋषि के स्मारक की बुनियाद रखी। प्रारम्भ से ही यह स्कूल सर्वसाधारण का प्यारा बन गया। पहले ही सप्ताह में ३५० बालक भर्ती हो गये। दूसरे सप्ताह के अन्त में छात्रों की संख्या ५०० तक पहुंच गई। जून का महीना समाप्त होते २ स्कूल में ६०० छात्र पढ़ने लगे। पहले दिन से डी० ए० वी० स्कूल ने विद्यार्थियों में जो प्रियता प्राप्त की, वह बढ़ती गई, यहां तक कि किसी दिन लाहौर में संख्या में सब से बड़ा स्कूल डी० ए० वी० स्कूल और संख्या में सब से बड़ा कालिज डी० ए० वी० कालिज हो गया।

६—उन्नति और दृढ़ता

डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना के पीछे उसकी प्रसिद्ध प्रति दिन बढ़ती गई। संचालकों ने स्थिरता उत्पन्न करने में भी कोई कसर न उठा रखी। २७ अगस्त १८८६ को दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कालिज सोसाइटी की रजिस्ट्री करा दी गई। रजिस्ट्री के समय सोसायटी के दो उद्देश्य बतलाये गये थे।

(१) पंजाब में दयानन्द ऐंग्लोवैदिकस्कूल कालिज तथा आश्रम की स्थापना।

(२) शिल्प की शिक्षा का प्रबन्ध करना।

शिक्षा की निम्नलिखित विशेषतायें उद्घोषित की गई थीं।

(१) हिन्दू साहित्य (२) प्राचीन संस्कृत साहित्य (३) और अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य विज्ञान के शिक्षण पर बल देना। रजिस्टर्ड होते समय सोसाइटी के मुख्य २ सभासद् निम्नलिखित थे।

ला० लालचन्द्र एम० ए०, प्लीडर चीफकोर्ट प्रधान

ला० ईश्वरदास एम० ए० प्लीडर रावलपिंडी प्रधान

मलिक ज्वालासहाय ठेकेदार

ला० मदनसिंह बी० ए०, मंत्री

ला० साँईदास प्रधान आर्यसमाज लाहौर सभासद

ला० काशीराम प्लीडर मुल्तान "

पं० गुरुदत्त एम० ए०

राय मूलराज एम० ए०

ला० गंगाराम सिविल इंजिनियर

ला० द्वारिकादास एम० ए० प्रिन्सिपल महेन्द्र कालिज पटियाला इत्यादि

आश्रम बनाने का निश्चय पहले से ही हो चुका था। मैमोरैंडम में भी आश्रम की चर्चा थी। आश्रम के नियम १८८८ में ही प्रकाशित कर दिये थे। नियमों की विशेषता यह थी कि आश्रम में रहते हुए कोई बालक विवाह नहीं करा सकता था। २० वर्ष से ऊंची उमर का युवक आश्रम में नहीं आ सकता था। नियम प्रकाशित होगये, और उन पर विचार होता रहा। स्कूल के समीप ही ला० रतनचन्द दूगल का मकान किराये पर लेलिया गया। उसे यथासम्भव विद्यार्थियों के लिये उपयोगी बनाकर १२ अप्रैल १८८६ को आश्रम का उद्घाटन कर दिया गया। मा० दुर्गाप्रसाद जी आश्रम के अध्यक्ष बनाये गये। प्रारम्भ में तो थोड़े ही बोर्डर भर्ती हुए परन्तु शीघ्र ही इतने प्रार्थना पत्र आगये कि अधिकांश को अस्वीकृत करना पड़ा।

चौथा परिच्छेद

आर्य प्रतिनिधिसभाओं की स्थापना।

१८८६ ई०——१८८७ ई०

१. वैदिकधर्मप्रचार

जिन दो वर्षों में पंजाब के आर्यपुरुषों ने अनथक परिश्रम करके डी० ए० वी० स्कूल को स्थापित कर दिया, उन्हीं दो वर्षों में आर्यसमाज के संगठन को मज़बूत बनाने के लिये भी बहुत सा कार्य हुआ। बहुत सी नई आर्यसमाजें स्थापित हुईं, पुरानी आर्यसमाजों के सभासदों की संख्या बढ़ती गई, और सबसे बड़ा काम यह हुआ कि आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन हो गया। आर्यसमाज के प्रचार और बलसम्पादन की दृष्टि से भी यह दो वर्ष स्वर्गीय रहेंगे। यह आर्यसमाज के उत्साह का समय था। नया जोश आर्य पुरुषों के रुधिर को वेग से दौड़ा रहा था। दुनियाभर का विरोध परस्पर प्रीति को पैदा करके आर्यत्व के नाते को रुधिर के नाते से भी अधिक मज़बूत बना रहा था। परस्पर मतभेद को क्षमा किया जाता था, आर्यपुरुष एक दूसरे से इतनी सहानुभूति रखते थे कि छोटे २ संघर्ष कोई असर नहीं पैदा कर सकते थे। आर्यसमाज रूपी शिशु प्रकृति की चोटों को सहता हुआ निरन्तर उन्नति की ओर कदम बढ़ा रहा था।

१८८६—१८८७ के दो वर्ष में लगभग डेढ़ सौ नई समाजों की स्थापना का पता चलता है। १८८७ के आरम्भ में हम आर्य समाचार पत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ पाते हैं कि १८८६ में ६३ या ६५ नई समाजें बनीं। अगले वर्ष का हिसाब देखने से भी ऐसा अनुमान होता है कि ८० से कम समाजों की स्थापना नहीं हुई। इन दो वर्षों में आर्यसमाज के प्रचारकों की संख्या बहुत बढ़ गई। स्वा० आत्मानन्द जी और स्वा० ईश्वरानन्दजी के अतिरिक्त कई नये सन्यासी भी मैदान में आ रहे थे। स्वामी स्वात्मानन्दजी की अच्छी धूम थी। वह विद्वान और सुवक्ता थे। आर्य समाजों के उत्सवों पर उनके व्याख्यानों को बड़े चाव से सुनाजाता था, परन्तु प्रतीत होता है कि मौलिक सिद्धान्तों पर उनका मजबूत विश्वास नहीं था। चार साल बाद

१८६० में आपने आर्यसमाज को छोड़ दिया। उस समय लाहौर की आर्य पत्रिका ने लिखा था कि 'जब हम देखते हैं कि ईमान्दारी से वह आर्यसमाज के लिये काम नहीं कर सकते तब हम समझते हैं कि उनका भी आर्यसमाज से जुदा होना ही अच्छा है। उसमें उनका भी भला है और सत्य का भी भला है।''

साधु रमताराम का नाम विशेषतया उल्लेखयोग्य है। साधु रमताराम कट्टर धर्म-भक्त थे। आर्यसमाज में उनकी खरी और अनन्य श्रद्धा थी। उद्योग में आप अनुपम थे। खरी और सीधी सुनाने के कारण आपसे अपने और पराये सभी नाराज़ हो जाते थे परन्तु आपके धर्मभाव का सभी जगह आदर था। प्रचार में और डी० ए० वी. कालिज की सहायता में आपने बड़ा भारी काम किया जिसकी प्रशंसा उस समय के प्रायः सभी समाचार पत्रों में मिलती है। आपकी भाषा अधिक कठोर थी। उसकी शिका-यत भी आर्यपत्रिका सद्धर्म प्रचारक आदि समाचारपत्रों में पाई जाती है।

स्वा० आलाराम उस समय आर्यसमाज के उपदेशक थे। पौराणिक मत के खण्डन में छोटी २ दो एक पुस्तिकायें भी उन्होंने लिखी थीं। दूबे में कई आर्यसमाज स्वा० आलाराम के उद्योग से ही स्थापित हुए थे। प्रतीत होता है कि उस समय भी उनके विचार दृढ़ नहीं थे, क्योंकि हमें दो वर्ष पीछे आर्यसमाचारपत्रों में यह घोषणा मिलती है कि स्वामी आलाराम के सिद्धान्तों के लिये समाज उत्तरदाता नहीं है। पीछे से स्वामी आलाराम कट्टर सनातनधर्मी बनकर आर्यसमाज से शास्त्रार्थ करते रहे और अन्त में मठधारी बन गये। स्वामी भास्करानन्द ने गुजरात की ओर प्रचार किया था, और स्वामी प्रकाशानन्द पंजाब में भ्रमण करते थे। साधु सदानन्द स्वामी गिरानन्द, कृष्णानन्द अक्षयानन्द मौजानन्द गोकुलानन्द आदि अन्य अनेक सन्यासी भी आर्यसमाज का प्रचार करते हुए देश में विचरते थे। गृहस्थ व्याख्यान दाताओं में पं० गुरुदत्त एम. ए. लाला लाजपतराय और भगत रेमल के नाम बार बार आते हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में भी और सहारनपुर के अनेक महानुभाव प्रचार के लिये दौरे लगाते रहते थे।

२. लन्दन में आर्यसमाज

उस समय आर्यसमाज के अनुकूल विचार रखने वाला प्रत्येक पुरुष अपने आपको प्रचारक समझता था। वह ऐसे कार्य करता था मानों संसार भर को आर्य बनाने का बोझ उसी पर है। इसका दृढ़ प्रमाण यह है कि जो थोड़े से आर्यपुरुष शिक्षा ग्रहण करने के लिये इंग्लैण्ड में पहुंच गये थे, उन्होंने वहां आर्यसमाज की स्थापना कर दी। पंजाब से ला० लक्ष्मीनारायण बैरिस्टरी पास करने विलायत गये थे। उनके

हृदय में आर्यसमाज का जोश था। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना के लिये बहुत उद्योग किया, जो शीघ्र ही सफल हो गया। १८ अप्रैल १८८६ को लन्दन की आर्यसमाज का पहिला अधिवेशन हुआ। ला० भगतराम और सर्दार कृष्णसिंह के निवास स्थान पर ६ सज्जन उपस्थित हुए। उन ६ में से एक लाहौर के पुराने भक्त आर्यसमाजी ला० रोशनलाल भी थे। ५ सज्जन लन्दन आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्य बने।

स्थापना के समय केवल ६ सभासद् बने थे, परन्तु शीघ्र ही लन्दन की भारतीय मण्डली का हृदय उस ओर खिचने लगा। साप्ताहिक अधिवेशनों में अच्छी उपस्थिति होने लगी। दृष्टान्त के लिये हम पांचवें साप्ताहिक अधिवेशन का दृष्टान्त देते हैं, जिस से प्रतीत होगा कि लन्दन में विद्यमान आर्य पुरुषों का उद्योग निष्फल नहीं जारहा था।

६ जून १८८६ को आर्यसमाज का एक अधिवेशन हुआ। हाज़िरी में ग्यारह नाम देकर आगे 'इत्यादि इत्यादि' लिखा है। प्रारम्भ में ईश्वरप्रार्थना के भजन हुए। ला० उमाशंकर ने आर्यसमाज के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ा। उसके पश्चात् लाला (?) वैंकटरामन नायडू ने [Ode to India] नाम की एक अंग्रेज़ी कविता गाकर सुनाई। कविता के पीछे ला० रोशनलाल बी० ए० का आर्यसमाज के तीसरे नियम पर अंग्रेज़ी में व्याख्यान हुआ जिस में वेदों की शिक्षा पर बल दिया गया। इस व्याख्यान के पीछे मि० एफ पिन्काट ने खडे हो कर जो कुछ कहा वह २५ जून १८७६ की आर्य पत्रिका में निम्नलिखित शब्दों में दिया गया है।

" He himself has read Rigveda and discovered the most natural method of its arrangement. There must be no doubt of its contents being true. He can without hesitation endorse the speech of Lala Roshan Lal.

सर्दार किशनसिंह कपूर ने दोनों वक्ताओं के कथन की पुष्टि की। अन्त में आर्यसमाज के नियमों की कापियां वितीर्ण की गई, और भजनों के साथ सभा समाप्त हुई (आर्य पत्रिका २७ जुलाई १८८६)

आर्यसमाज के अधिवेशन बराबर जारी रहे, और प्रवासी भारतवासियों की रुचि उधर बढ़ती गई। साप्ताहिक अधिवेशनों में प्रतिष्ठित भारतवासी शामिल होने लगे। एक अधिवेशन में पं० विशन नारायण दर ने निबन्ध पढ़ा। दूसरे अधिवेशन में मि० दादाभाई नौरोजी महारानी कूचविहार आदि की उपस्थिति में वैदिकधर्म के महत्व पर व्याख्यान हुए। महारानी कूचविहार ने आर्यसमाज के उद्देश्यों से सहानुभूति प्रकट की,

और उसकी संरक्षिका होना स्वीकार कर लिया। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में शामिल होने के लिये प्रो० मैक्समूलर को भी निमन्त्रण भेजा गया था। प्रो० मैक्समूलर जन्म से जर्मन थे, निवास से अंग्रेज थे, और विचारों से एशियाटिक थे। योरुपियन भावों का मिश्रण होते हुए भी प्रोफेसर मैक्समूलर के मन का झुकाव पूर्व की ओर था। आर्यसमाज के निमन्त्रण पत्र के उत्तर में आपने निम्नलिखित पत्र लिखा—

*आक्सफोर्ड ता० १४ मई १८८७

प्रियमहाशय! लन्दन आर्यसमाज के जल्से में शामिल होने और योग्य सेवा करने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती। मुझे मालूम है कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज के उद्देश्य बहुत श्रेष्ठ और अच्छे थे। उन्होंने अपने देशवासियों को बड़ा लाभ पहुंचाया है और अगर यह महात्मा कुछ अधिक अर्से तक ज़िन्दा रहते तो भारतखण्ड के लोगों को और अधिक लाभ पहुंचाते। जो कुछ वह करना चाहते थे, वह अब आर्यपुरुषों को करना चाहिये। केवल वेद मतावलम्बी होकर सन्तुष्ट न होना चाहिए, बल्कि स्वामी जी के अनुकूल उससे आगे कार्य करना चाहिये जहांतक स्वामी जी कर गये हैं। मैं हर तरह से इस कार्य में आप लोगों की सहायता करने को राज़ी हूं। आजकल आक्सफर्ड में परीक्षा के निरीक्षण के कार्य में लगा हुआ हूं, और जब परीक्षा समाप्त होगी तब अपने घर जाऊंगा। क्योंकि मेरे घर के लोग इंग्लिस्तान से चले गये हैं। परीक्षा के कारण मैं उनके साथ न जा सका। परीक्षा की तैयारी में लगे रहने के कारण मैं अभी समय नहीं दे सकता, किसी दूसरे समय अवश्य आर्यसमाज के सभासदों से परिचय का लाभ प्राप्त करूंगा।

आपका हितैषी

मैक्समूलर

लन्दन आर्यसमाज ने एक और बड़ा कार्य किया, जिससे उसकी चर्चा इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों में भी खूब हुई। चन्दनसिंह नाम का एक गरीब ब्राह्मण लन्दन में रहता था। वह हस्पताल में मर गया। हस्पताल के अधिकारियों ने लाश को लावारिस समझकर ईसाई ढंग पर दफनाने का निश्चय किया। जब यह समाचार आर्यसमाज के अवैतनिक मन्त्री ला० लक्ष्मीनारायण को मालूम हुआ, तो वह हस्पताल में गये और शव को जलाने के लिए मांगा। हस्पताल के अधिकारियों ने शव आर्यसमाज के सुपुर्द कर दिया। लन्दन के बाज़ारों में वह एक अद्भुत ही दृश्य था। अर्थी के साथ बहुत से भारतवासी, और अनेक अंग्रेज़ नरनारी जा रहे थे। वह एक ख़ासा मातमी जलूस बन

* आर्य समाचार। आषाढ़ १९४४

गया। अर्थी पर 'आर्यसमाज की जय' 'हिन्दुस्तानी नौकर' यह शीर्षक लगा हुआ था। जनता पर इसका अद्भुत प्रभाव पड़ा। लन्दन में यह पहला ही अवसर था कि एक लावारिस भारतवासी को वारिस बनाने का साहस भारतवासियों ने किया। उस से पूर्व कई धनीमानी भारतवासियों के अन्त्येष्टि संस्कार भी ईसाई रीति पर हो चुके थे। श्मशानभूमि पर दाहक्रिया को देख कर तो बहुत से अंग्रेज़ों पर बहुत ही अच्छा असर पड़ा। इस मृतक संस्कार पर १५०) ख़र्च हुए, जो समाज के पुरुषार्थी मन्त्री ला० लक्ष्मीनारायण की जेब से ही निकले।

३. मुख्य २ आर्यसमाजें

इस समय पंजाब में लाहौर अमृतसर और जालन्धर पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध (आजकल का संयुक्त प्रान्त) में मेरठ और सहारनपुर और पश्चिम में बम्बई—यह आर्यसमाजें मुख्य थीं। दिल्ली की आर्यसमाज भी उठ रही थी। इनमें से लाहौर की आर्यसमाज अपने शिक्षा सम्बन्धी जोश के लिये विख्यात हो रही थी। उस समय के सभासदों में दो प्रकार की प्रवृत्तियां पाई जाती थीं। कुछ सज्जन जिनमें ऊंची अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त किये हुए सज्जन मुख्य थे, शिक्षा को निजरूप में ही आवश्यक समझते थे, वह मानते थे कि यदि आर्यसामाजिक वातावरण में अच्छे ढंग पर कोई भी शिक्षा दी जाय तो वह वैदिकधर्मी पैदा करने का साधन बन सकती है। इस प्रवृत्ति के सज्जनो में शिक्षा का स्थान अन्य वस्तुओं से ऊंचा था। दूसरी प्रवृत्ति के नेता पं० गुरुदत्त एम. ए. थे, और अनुयायी सर्वसाधारण थे। इन लोगों में शिक्षा को साधन समझ कर ही कालिज के लिये प्रेम पाया जाता था। वह शिक्षा को निज रूप में, वेद प्रचार के रूप में, आदर देते थे। प्रवृत्तियां दो थीं, परन्तु फल एक ही था। आर्यसमाज लाहौर इस समय शिक्षा की धुन में था। उसकी सब शक्तियां डी. ए. वी. स्कूल की ओर लगी हुई थीं। आर्यसमाज लाहौर का वृत्तान्त अधूरा रहेगा यदि उसके उस समय के प्रधान ला० साईंदासजी के विषय में कुछ शब्द न लिखे जायं। ला० साईंदासजी उन आर्य पुरुषों में से थे, जिनसे मिलकर मनुष्य अपने आपको ऊंचा उठता हुआ समझता है। आप न व्याख्याता थे, और न लेखक। आपकी शक्ति सदाचार तथा बातचीत में थी। जिस नवयुवक को दो चारवार आपके साथ टहलने का मौका मिला, वही आपके काबू आजाता था। उस पर वैदिक धर्म का रंग चढ़े बिना नहीं रहता था। ला० साईंदासजी की हस्ती आर्यसमाज लाहौर के लिये धन्य थी।

पंजाब का दूसरा मुख्य आर्यसमाज जालन्धर का था। जालन्धर का आर्यसमाज अपने प्रचार कार्य के लिये विख्यात होरहा था। जैसे लाहौर की प्रवृत्ति शिक्षा की ओर

थी, वैसे ही जलंधर की प्रवृत्ति प्रचार और स्त्रीसुधार की ओर थी। आर्यसमाज जालन्धर के मन्त्री ला० देवराजजी का उत्साह असीम था। उनकी सहायता के लिये उनके सम्बन्धी और मित्र ला० मुन्शीरामजी भी मैदान में आरहे थे। यह जोड़ी जालन्धर के आर्यसमाज को घसीटकर आगे लेजाने का यत्न कर रही थी। ला० देवराज जी का भक्तिभाव, धर्म प्रेम और दृढ़विश्वास, ला० मुन्शीरामजी के प्रचण्ड साहस, धार्मिक आवेश और उग्रशक्ति के साथ मिलकर जालन्धर को लाहौर से भी आगे ले जाने का चिह्न दिखा रहा था। १८२६ के आरम्भ में जालन्धर आर्यसमाज ने मण्डलिया बनाकर आसपास के ग्रामों में प्रचार का कार्य आरम्भ किया। १८२६ के अक्टूबर में जालन्धर के कोट किशनचन्द में आर्यसमाज की ओर से एक कन्या पाठशाला जारी की गई। यह सुविख्यात कन्या महाविद्यालय का बीज था। ला० मुन्शीरामजी इस समय जालन्धर में मुख्तार थे, और आर्यसमाज के प्रधान थे। १८८६ में आर्यसमाज लाहौर का जो उत्सव हुआ उसपर आपका व्याख्यान भी हुआ था। उस व्याख्यान पर आर्यपत्रिका की टिप्पणी यह थी कि व्याख्यान 'eloquent' और 'forcible' था। आपके व्याख्यानों में पहले से एक विशेष जोर पाया जाता था, जो एक आवेशपूर्ण हृदय के उद्गार में ही मिलता है। १८८६ के अन्त में आर्यसमाज जालन्धर का वार्षिकोत्सव हुआ, जिसमें बहुत पर्याप्त भीड़ थी। उन दिनों उत्सवों पर महता अमीचन्दजी के मधुर और रसीले भजनों की बहार रहती थी।

पश्चिमोत्तरप्रदेश में मेरठ और सहारनपुर की आर्यसमाजों के कार्यकर्ता विशेष उत्साह से कार्य कर रहे थे। मेरठ से आर्यसमाचार पत्र निकलता था। प्रारम्भ से ही मेरठ को यह सौभाग्य मिला कि उसमें प्रतिष्ठित आर्यपुरुष समाज के अधिकारी बनें। यहां की आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर दूर २ से आर्यपुरुष पहुचते थे। सहारनपुर में भी अच्छा कार्य हो रहा था। इलाहाबाद में वैदिक प्रेस था। इसके कारण दो एक पण्डित हमेशा वहां रहा करते थे।

दिल्ली यद्यपि पञ्जाब का एक भाग है, तो भी उसमें आर्यसमाज का जीवन पृथक ही रहा है। दिल्ली में आर्यसमाज का कार्य मित्रसभा के नाम से शुरू हुआ था। कई वर्षों तक मित्र सभा ही आर्यसमाज के स्थान की पूर्ति करती रही। पीछे से आर्य समाज बन गई। ला० गिरधारीलाल वकील आर्यसमाज के प्रारम्भिक स्तम्भ थे। जब तक वह जीवित रहे, तब तक आर्यसमाज को उनका बड़ा सहारा रहा।

बम्बई की आर्यसमाज को प्रथम आर्यसमाज होने के कारण जिस उत्साह से कार्य करना चाहिये था उसने वैसा नहीं किया। महता दुर्गाराम इच्छाराम अकेले ही पश्चिम

में वैदिक सन्देश सुनाने का प्रयत्न कर रहे थे। नवसारी में एक विशेष सभा करके बड़ोदा नरेश ने महता जी का वैदिक सिद्धान्तों के विषय पर व्याख्यान सुना, जिसका प्रभाव बहुत उत्तम पड़ा।

४—आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना

संगठन ही आर्यसमाज का जीवन है। ऋषि दयानन्द की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने आर्यसमाज की दीवार को नियम की नींव पर खड़ा किया है। आर्यसमाज का संगठन ही ऐसा है कि वह विस्तृत और मज़बूत हुए बिना नहीं रह सकता। सभा के निर्माण और प्रजा के अधिकार पर ऋषि ने इतना बल दिया है कि जिन लोगों ने योरप के इतिहासलेखकों की राय के अनुसार भारतवासियों की प्रजामत की ओर उपेक्षा दृष्टि को सिद्धान्त रूप में मान छोड़ा है उन्हें आश्चर्यित होना पड़ता है। एक सभासद् आर्यसमाज की इकाई है, और भूमण्डल के आर्यों का संगठन उसका लक्ष्य है। यह उदार और ऊंचा विचार है, जो आर्यसमाज के संगठन की तह में काम करता है।

ऋषि की मृत्यु के उपरान्त ही आर्यपुरुषों में यह चर्चा चल गई थी कि देशभर में बिखरे हुए आर्यसमाजों को एक सूत्र में पिरोना आवश्यक है। १८८३ ई० के अन्त में परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में पं० महादेव गोविन्द रानडे ने आर्य प्रतिनिधियों को एकत्र करने का विचार उठाया था। १८८४ के सितम्बर मास में बम्बई आर्यसमाज के उपप्रधान सेवकलाल कृष्णदास की ओर से सब आर्यसमाजों में एक पत्र जारी किया गया था। उस पत्र में देशभर की आर्यसमाजों को परस्पर परिचय तथा सहायता के लिये एक शृंखला में बांधने की उपयोगिता दिखाकर प्रस्ताव किया गया था कि एक 'प्रधान आर्यसमाज' बनाया जाय, जिसमें सब आर्यसमाजों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। उस प्रधानसमाज की नियमावली में सम्पूर्ण देश को एक ही प्रान्त मानकर उसकी प्रतिनिधिसभा संगठित करने का प्रस्ताव सामने रखा गया था। आर्य सामाजिक समाचार पत्रों में प्रतिनिधिसभा की आवश्यकता की चर्चा बराबर जारी रही। मेरठ के आर्य समाचार में पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध और लाहौर की आर्यपत्रिका ने पंजाब में प्रतिनिधि सभा के आन्दोलन को विशेष रूप से उठाया।

आर्यपुरुषों के यत्न फलीभूत हुए। ४ तथा ५ अक्तूबर (१८८६ ई०) को लाहौर में पंजाब के आर्यसमाजों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। उस अधिवेशन में १६ आर्यसमाजों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। नियमों और उपनियमों पर बहुत से विचार के अनन्तर अस्थायी रूप से अन्तरंग सभा के १५ सभासद चुने गये। सेक्रेटरी का कार्य लाला

मदनलाल बी. ए. के सुपुर्द हुआ। पहली अन्तरंग सभा के सभ्यों की नामावली को अविकल रूप में देना मनोरंजकता से खाली न होगा।

१. पंडित शिवदत्त राम, अमृतसर
२. ला० नारायण दास एम. ए., गुजरानवाला
३. ला० मुर्लीधर, हुश्यारपुर
४. ला० साँईदास, लाहौर
५. ला० जीवनदास ,
६. ला० लालचन्द एम. ए. ,
७. ला० मदनसिंह बी. ए. ,
८. बा० रूपसिंह, कोहाट
६. ला० ईश्वरदास एम. ए. रावलपिंडी
१०. ला० गंगाराम फीरोज़पुर छावनी
११. ला० उमरावसिंह, दिल्ली
१२. ला० मूलचन्द, पेशावर
१३. ला० तुलसीराम, लुध्याना
१४. एक मेम्बर, मुल्तान समाज
१५. एक मेम्बर फीरोज़पुर शहर

इस चुनाव में जालन्धर का कोई स्थान नहीं हैं, लाहौर के कई सभासद् हैं। कई मेम्बरों के स्थान पर समाजों के ही नाम हैं। यह अन्तरंगसभा एक प्रकार की उपसभा बनाई गई थी, जिसेके सुपुर्द प्रतिनिधि सभा में उपस्थित करने के लिये नियम तय्यार करना और उन समाजों को जिनके प्रतिनिधि उस समय तक नहीं आये थे, सम्मिलित करने का यत्न करना था।

पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध में चर्चा पहले शुरू हुई थी, परन्तु परिणाम कुछ देर से निकला। लाहौर में प्रतिनिधि सभा की स्थापना के समय मेरठ के कुछ प्रतिनिधि भी दर्शक रूप से उपस्थित हुए थे। २८, २६ दिसम्बर (१८८६) को आर्यसमाज मेरठ के उत्सव के साथ ही प्रतिनिधियों का जमाव हुआ। पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध की ४८ आर्यसमाजों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। नियमों पर बहुत गर्मागर्म बहस हुई। नियमों का अन्तिम निर्णय न हो सका। निश्चय हुआ कि प्रस्तावित नियमों की प्रतियां

मुद्रित करके समाजों में भेजदी जांय, और अगले अधिवेशन में निश्चय हो। कार्य-संचालन के लिये निम्नलिखित चुनाव हुआ।

मुन्शी लछमन स्वरूप साहिब (मेरठ) प्रधान
पं० बिहारीलाल (मेरठ) मन्त्री
ला० रामसरन्दास साहिब (मेरठ) खजांची
बा० आनन्दीलाल साहिब (मेरठ) पुस्तकाध्यक्ष

५—परोपकारिणी सभा का अधिवेशन।

१८८५ ई० में एक अधिवेशन करके परोपकारिणी सभा लम्बी तान कर सो गई। इधर समाचारपत्रों में सभा के आलस्य की चर्चा आरम्भ होगई। वैदिक प्रेस का प्रबन्ध असन्तोष जनक था। उसकी शिकायतों के भी दफ्तर तय्यार हो रहे थे। चारों ओर से प्रेरित किये जाकर १८८७ ई० के अन्त में मन्त्री जी ने परोकारिणी सभा का अधिवेशन अजमेर में बुलाया। उस समय तक प्रान्तों की प्रतिनिधि सभाओं ने ज़ोर नहीं पकड़ा था। इस कारण आर्य पुरुषों का ध्यान परोपकारिणी सभा पर केन्द्रित रहता था। यह भी ख़बर थी कि परोपकारिणी सभा एक वैदिक आश्रम की स्थापना करने वाली है। यही कारण थे, जिनसे अधिवेशन पर भारत भर की मुख्य २ समाजों के प्रतिनिधि अजमेर में उपस्थित होगये थे। अधिवेशन २८, २९ दिसम्बर को था, परन्तु आर्य पुरुषों की भीड़ २५ तारीख़ से ही आरम्भ होगई थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध की आर्य प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन भी उन्हीं दिनों अजमेर में रखा गया था। इस कारण और भी अधिक रौनक होगई।

परोपकारिणी सभा का अधिवेशन दो दिन हुआ। ९ समासद् उपस्थित थे। वैदिक आश्रम सम्बन्धी प्रस्ताव पर देर तक बहस होती रही। अन्त में शाहपुराधीश श्रीयुत नाहरसिंह वर्मा की ओर से बा० जीवनराम साहिब ने अनासागर के किनारे पर विद्यमान उद्यान आश्रम के लिये भेंट के रूप में पेश किया। सभा ने भेंट को सहर्ष स्वीकार कर लिया। दूसरे रोज़ प्रातःकाल ९ बजे से आश्रम का बुनियादी पत्थर रखने की विधि का समारोह था। प्रातःकाल ही बाहिर से आये हुए और अजमेर के सज्जन इकट्ठे होकर भजन गाते हुए अनासागर की ओर रवाना हुए। उद्यान में पहुंचकर पहले ईश्वरभक्ति के भजन हुए, फिर पं० गुरुदत्त जी तथा अन्य कई विद्वानों ने मिलकर वेद पाठ किया। परोपकारिणी सभा की ओर से पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने आश्रम की आधारशिला रखी, आधारशिला के साथ एक बोतल में वेदभाष्य के कुछ अंक

भी रखे गये। उसी स्थान पर ऋषि की अस्थियों की स्थापना की गई। विधि समाप्त हो जाने पर हिसार के वकील ला० लाजपतराय जी का एक प्रभावशाली भाषण हुआ। ऋषि के शिष्य रतलाम के दीवान पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने एक छोटे से भाषण में ऋषि का गुणानुवाद किया। इस प्रकार उत्साह और जीवन के चिन्हों के साथ आश्रम की स्थापना की विधि समाप्त हुई।

दूसरे दिन के अधिवेशन में वैदिक प्रेस की दशा पर विचार हुआ। आर्य पुरुषों को प्रेस से जो २ शिकायतें थीं, वह पेश की गईं। उनका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया गया। अधिकांश त्रुटियों को स्वीकार करना पड़ा। यह समझकर कि शायद प्रबन्ध के दूसरे हाथों में जाने से सुधार हो जाय, प्रेस की देख रेख का काम आर्यप्रतिनिधि सभा मेरठ के सुपुर्द किया गया। प्रतिनिधि सभा के मन्त्री ला० बिहारीलाल ने इस बोझ को सहर्ष स्वीकार किया।

६. विक्टोरिया की जुबिली

१६ फरवरी १८८७ का दिन भारत में बड़ी धूमधाम से मनाया गया था। महारानी विक्टोरिया को राज्य करते ५० वर्ष व्यतीत होगये थे। इस प्रसन्नता में जुबिली की गई थी। सारे अंग्रेज़ी साम्राज्य में उस दिन ईश्वरप्रार्थना और धन्यवाद की झड़ी सी लग गई थी। भारत राजभक्ति के मैदान में किसी से पीछे नहीं रहा, और आर्य समाज भारत में किसी से पीछे नहीं रहा। आर्यसमाजों में महारानी विक्टोरिया की जुबली बड़े उत्साह से मनाई गई। उस दिन आर्यसमाज मन्दिरों में विशेष सभायें की गईं, ईश्वर से महारानी के दीर्घ जीवन के लिये प्रार्थना की गई, रात को रोशनी हुई और अनेक समाजों ने महारानी को अभिनन्दन पत्र भी दिये। आर्यसमाज के समाचार पत्रों ने रंगीन विशेष अंक निकाल कर अपनी राजभक्ति का परिचय दिया।

यह पंक्तियां १९२४ में लिखी जा रही हैं। १९२४ में यह समझना कठिन है कि आर्यसमाज ने १८८७ में राजभक्ति दिखाने में इतना उत्साह क्यों दिखाया? यदि आज के नपैने से नापा जाय तो आर्यसमाज का वह कार्य बहुत ही निचले दर्जे का प्रतीत होता है। दिल में एक बार यही विचार होता है कि जुबिली की घटना को एक भुलाने योग्य दुर्घटना मान कर यहीं छोड़दें और आगे चलें जाय परन्तु न्याय का तकाज़ा दूसरा ही है। न्याय चाहता है कि उस समय के आर्यपुरुषों के कार्यपर पक्षपात हीन दृष्टि से विचार किया जाय। क्या उस समय के आर्यपुरुषों ने व्यर्थ ही जुबिली के समारोह में भाग लिया? क्या वह सब धर्म के वीर योद्धा केवल ख़ुशामदी ही थे? जब शान्ति से इस प्रकार विचार किया जाता है तो मालूम होता है, कि उस समय के आर्य

पुरुषों ने जो कुछ किया, सच्चे विचार से किया, और ईमानदारी के साथ किया। हमें उस समय के आर्य पुरुषों के कार्यों की परीक्षा ३७ वर्ष पीछे की कसौटी पर नहीं करनी चाहिये।

उस समय के आर्य पुरुषों ने महाराणी विक्टोरिया की जुबिली में उत्साह से भाग लिया। कारण यह था कि उस समय तक लगभग सारा भारतवर्ष इस बात पर विश्वास रखता था कि देश का कल्याण अंग्रेज़ी राज्य से ही है। अंग्रेज़ों के आने से पहले की अराजकता की स्मृतियाँ अभी नई थीं; जो अंग्रेज़ भारत में शासक बनकर आये वह ग्लैडस्टन के समय के उदार संस्कारों को लिये हुये थे, और सबसे बढ़कर बात यह थी कि विक्टोरिया एक असाधारण महिला थी। वह जानतीथी कि पुरुषोंके लौहराज्य पर स्त्री किस प्रकार अपना अमृतमय हाथ रख सकती है। वह एक चीज़ थी, साधारण अंग्रेज़ राजाओं की तरह नाचीज़ नहीं थी। विक्टोरिया के प्रति भारतीय प्रजा की जो भक्ति की, उसमें व्यक्तिगत भक्ति का भी बहुतसा अंश था।

यह तो थे सामान्य कारण, जिनपर उस समय के भारतवासियों की राजभक्ति आश्रित थी। एक विशेष कारण भी था, जिससे आर्यसमाजी अपने आपको ब्रिटिश राज्य का विशेषतया अनुगृहीत समझते थे। लोगों के हृदयों पर इस्लामी राज्य की घटनायें अंकितसी होरही थीं। हिन्दू प्रजा अकबर को भूल गई थी, उन्हें केवल औरंगज़ेब याद था। वह समझते थे कि यदि ऋषि दयानन्द इस्लाम के राज्य में होते तो स्वतन्त्रता से प्रचार न कर सकते। ऋषि दयानन्द ने भी दो एकबार ऐसा भाव प्रकट किया था। प्रारम्भ में आर्यसमाज ने जिस प्रकार की चौमुखी लड़ाई लड़ी थी, उसके लिये धार्मिक स्वतन्त्रता एक देव के समान प्रतीत होती थी। देर तक और गहरा सोचें तो यह विचार भी निर्मूल ही प्रतीत होता है। यदि ऋषि दयानन्द अंग्रेज़ी राज्य में न होकर मुसलमानी राज्य के समय में होते तो वह किसी शिवाजी की पीठपर हाथ रख कर वैदिकधर्म का जयनाद बुला देते। सिख धर्म अंग्रेज़ी राज्य में नहीं, मुसलमानों के राज्य में ही फैला था। अग्नि अपना रास्ता आप निकाल लेती है। गंगा के वेगवान् प्रवाह को हिमालय की चट्टानें बन्द नहीं कर सकती। दयानन्द एक अग्नि का पुंज था, जो जिस दशा में भी पड़ता, क्रान्ति पैदा करके रहता। कभी २ यह अभिलाषा होती है कि आर्यसमाज का प्रारम्भिक प्रचार इतना निर्विघ्न न होता तो शायद आज आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था न रहकर एक विशाल क्रान्ति के रूप में दिखाई देती, परन्तु इतिहास में कल्पना का अधिक स्थान नहीं है। यह निश्चित है कि उस समय के आर्य पुरुषों का यह विश्वास था कि अंग्रेज़ी राज्य ने भारत को धार्मिक स्वतन्त्रता दी है। चौमुखी लड़ाई में दृश्यमान धार्मिक स्वतन्त्रता बहुत प्यारी मालूम देती है। आर्यसमाज

की ओर से महाराणी की सेवा में जो अभिनन्दन पत्र पेश किये गये थे, उनसे यह बात स्पष्ट होजाती है। लाहौर आर्यसमाज के अभिनन्दन पत्र के तीसरे पैरे में स्कूल, कालिज, तार, शिक्षा और शान्ति आदि के लिये अंग्रेज़ी राज्यकी प्रशंसा थी और चौथे पैरे में निम्नलिखित शब्द थे—

"But the most precious aud inestimable boon of Your Majesty's reign for which the Arya Samaj is especially grateful, nay to which it owes its very existence, is the iucalculable blessing of religious toleration."

आगे—

"It was under spirit of religious liberty which invests and periviates all departments of Your Majesty's government that the founder of the Arya Samaj Swami Dayanand Sarswati was able to preach his inner convictions for the benefit of his countrymen, and to awaken them to the knowledge of theistic worship inculcated in their most ancient and sacred scriptures–the Vedas."

परन्तु सबसे अधिक कीमती और अतुलनीय प्रसाद जिसके लिये आर्यसमाज आपके राज्य का कृतज्ञ है, और जिसके बिना इसकी सत्ता भी सम्भव नहीं थी, धार्मिक स्वाधीनता का है।

धार्मिक स्वाधीनता की उस छत्रच्छाया के नीचे ही, जिसने आपकी सरकार के सब विभागों को व्याप रखा है, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती देशवासियों के हितार्थ अपने हार्दिक विश्वासों का प्रचार कर सके, और सबसे प्राचीन और पवित्र वेदों में प्रतिपादित एकेश्वर पूजा की ओर उन्हें प्रेरित कर सकें।

आर्यसमाज मेरठ ने जो अभिनन्दन पत्र पेश किया था, उसमें निम्नलिखित शब्द थे—

'जिस वक्त से हजूर मल्का मुअज्जिमा कैसरे हिन्द ने भारतखण्ड की सल्तनत को अपने कब्ज़े में लिया है, उस वक्त से यहां पर अमन व आमान और हिफाजत

जान व माल और मज़हबी आज़ादी और इशायत तालीम और बहुत से मुफ़ीद काम हमारे लिये मुहय्या हो गये हैं, जिन्होंने कि जनाब कैसरेहिन्द की सच्ची मुहब्बत हमारे दिलों में पैदा कर दी है।"

यह विचार थे, जो आर्यपुरुषों को राजभक्त बना रहे थे। हम कह सकते हैं कि इन लोगों ने बहुत अच्छी तरह अंग्रेज़ी सरकार के स्वरूप को नहीं समझा था, परन्तु उनका आशय उत्तम था।

७. सामाजिक कठोरता और सहिष्णुता

वह समय वीरता का था। आर्य पुरुषों के लिये कदम कदम पर रुकावटें थीं। हिन्दू समाज आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखता था। यदि लड़का आर्यसमाजी बनता था तो बाप को नाराज़ करके और माता को रुलाकर, यदि बाप आर्यसमाजी बनता था तो वह लड़के और लड़की को नाता न मिलने का ख़तरा झेलता था। विरोध के पहाड़ रास्ता रोकते थे, परन्तु आर्यत्व का उत्साह उनके सिरों पर से लांघकर निकल जाता था। वीरता के दृष्टान्त देना कठिन है क्योंकि उस समय जो भी हिन्दू सनातन धर्म को छोड़ कर आर्य आर्यसमाज में प्रविष्ट होता था, वह कुछ न कुछ वीरता दिखाता था। अनेक उदाहरणों में से हम केवल एक ही दृष्टान्त लेते हैं। मेरठ के आर्यसमाचार से हम निम्नलिखित वृत्तांत उद्धृत करते हैं—

"ख़त पं॰ नत्थासिंह जी उपप्रधान आर्यसमाज नगीना

बख़िदमत जुमला साहिबान व मेम्बरान आर्यसमाज आर्यावर्त, नमस्ते

आप सब साहिबान इस समाज की कारवाई पर ग़ौर फरमावें, और वह यह है। हरफ़र्दो बशर को लाज़िम है, यानी जो शख़्श अपना नाम आर्यसमाज के सभासदों में लिखवाये और सभा का मेम्बर होना चाहे, उस साहिब को कोशिश और धीरज ऐसा रखना चाहिये जैसा कि मोखासिंह उपदेशक गोरक्षिणी सभा और प्रतिनिधि आर्यसमाज नगीना ज़िला बिजनौर ने रखा, और जिस कदर तकलीफ़ और रंजिश इस शख़्स को पैदा हुई है, उसको मुख़तसिर तौर पर बयान करता है, मगर उस शेरमर्द ने कुछ ख्याल न किया। अब देखिए। अव्वल तो जिस मकान में यह शख़्स रहता था, उस मकान से इस शख़्स को इसके रिश्तेदारों पोप लोगों ने बाहिर निकाल दिया, परन्तु आर्यसमाज का आना जाना इस शख़्स ने न छोड़ा। और सिवाय इसके पोप लोगों ने और बहुत सी तकलीफ़ें दीं, उनका बयान करना फ़ज़ूल समझता हूं, और किसी तरह से पोपों का काबू इस शख़्स ने नहीं चलने दिया। मगर एक

तकलीफ़ पोप लोगों ने इस शख्श को बड़ी दी । उसका मुख्तसिर हाल यह है कि अर्सा तीन माह का गुज़रने वाला है कि लड़का इस शख्स का करीबन उमर सात बरस का था । उसको पोप लोगों ने किसी बहाने से पेड़े में ज़हर देकर मार डाला । उसके वियोग होने का शोक तो शख्स मज़कूरबाला तकलीफ़ ज़दा को हुआ परन्तु दृढ़ता को न छोड़ा । और कुछ भी ख्याल न किया । जिस वक्त पिसर मज़कूर को आठ रोज मरे हुए होगये तब यहां मेला रामलीला में मिती असूज सुदी छट को जो कि करीब तीस हज़ार के आदमी मेला मज़कूर में था, उसमें व्याख्यान गोरक्षा का दिया इत्यादि ।'

यह केवल एक दृष्टांत है । उस शैशव काल में ऐसे दृष्टांत प्रत्येक ग्राम और शहर में हो रहे थे, जो लेखबद्ध भी नहीं हुए । अनुकूल वायुमण्डल में पले हुए आर्य पुरुष नहीं समझ सकते, कि उस समय के वैदिक धर्मियों को कितना स्वार्थत्याग करना पड़ता था ।

८. गोरक्षा का कार्य तथा अन्य घटनायें

ऋषि दयानन्द के जीवनवृत्तान्त में उनके गोरक्षासम्बन्धी गम्भीर प्रेम का वर्णन आचुका है । उनके देहान्त के पश्चात् इस विषय में आर्यसमाज के प्रासिद्ध आदि भजनोपदेशक चौधरी नवलसिंह ने गोरक्षा का झण्डा उठाया था । उक्त चौधरीजी ने गोरक्षा की अपील में जो लावनियां बनाई थीं उनको सुनकर आर्य्य जाति के बाल और वृद्ध सभी के अन्दर प्रेम और भक्ति का प्रवाह उमड़ आता था । पंजाब प्रान्त में सन् १८८५ के मध्यभाग से भ्रमण आरम्भ करके चौधरीजी ने बहुत सा धन और गायें एकत्र की थीं । स्वामी आलाराम इस कार्य्य में उनके सहायक थे, क्योंकि उस समय उक्त साधु महाशय बड़ी लगन से आर्य्यसमाज का प्रचार कर रहे थे । हरिद्वार पर जाकर चौधरी नवलसिंह ने गौओं के ऊपर जो अत्याचार देखा और उसके हटाने का जो प्रबन्ध किया उसे उन्होंने आर्य्य विनय के सम्मिलित अंक १४-१५ में इस प्रकार वर्णन किया है :-

"हरिद्वार पर लोग गोदान करके ब्राह्मणों को देजाते हैं और ये लोग गौ को मुसलमानों के हाथ बेच देते हैं और वह मुसलमान लेकर ज्वालापुर आदि में लेजाकर मार डालते हैं । दो सौ चार सौ गाय इसी तरह से हरिद्वार पर आकर मारी जाती हैं और जो लोग दान देकर गोरे वा गोरी बनाकर बछड़े वा बछड़ी हरद्वार पर छोड़ जाते हैं उनका न कोई वारिस न मालिक होता है । उनको यवन लोग लावारिस समझकर ज़िब्ह कर डालते हैं । वह हर साल सैकड़ों मारे जाते हैं और देश में भी हिन्दू मांसाहारियों को गाय बेचते हैं उनके वास्ते धर्म की कोई व्यवस्था नहीं है । इस वास्ते

हरिद्वार पर गोरक्षा का प्रबन्ध इस तरह किया गया था । वहां के ब्राह्मणों को यह कहा गया था कि जो यात्री गंगाजी में स्नान करे उससे यह संकल्प गंगाजी में कराया जावे कि मैं अद्योपरान्त हिंसकों के हाथ गाय न बेचूंगा और वह जो कुछ गोरक्षा के निमित्त दान दे उस आमदनी से वहां पर जंगल में गोशाला बनाई जावे, जिसमें वह गोरे और गोरी पलते रहें और अन्य गौयें आवें, वह भी उस आमदनी से मोल लेकर गोशाला में छोड़ दी जावें । एक आना भी जो एक आदमी से लिया जाता तो १२००० हज़ार रुपया हर साल गोरक्षा के दान पात्र में आता, क्योंकि दो लाख आदमी साल भर में गंगास्नान को आते हैं, सो यह नियम हरिद्वार के ब्राह्मणों ने स्वीकार करके एक झण्डा गोरक्षा के नाम से ब्रह्मकुण्ड पर खड़ा किया था, और तख्ता जिसपर गोरक्षा के नियम लिखे थे, हर की पौड़ी पर खड़ा किया था और यह लिखत लिखी गई थी कि जो यात्री गंगा में स्नान करेगा उसका पुरोहित झण्डे के नीचे गोरक्षा का संकल्प कराके श्रद्धापूर्वक दानपात्र में दान दिवाये, और इस धन से गोशाला बनाई जावे, उसके मालिक हरिद्वार के ब्राह्मण पंच होंगे। पं० भवानीदत्त ज्योतिषी कनखल को इसका अध्यक्ष किया गया था । उस लेख पर मेरे और सब ब्राह्मणों के हस्ताक्षर कराये गये थे और सब काम जारी किये गये थे । मैं इस काम को जारी कराकर गोशाला की पुष्टि के निमित्त चन्दा लाने के वास्ते सहारनपुर की तरफ देशों में गया था, और यह सब हाल कई एक अखबारों में भी लिखवा दिया था । जिस समय यह खबर धर्मसभा जगाधरी जिला अम्बाला, और धर्मसभा रुड़की ज़िला सहारनपुर को मिली तो उक्त दोनों सभाओं का यह विचार हुआ कि गो-रक्षा का पूरा प्रबन्ध हुआ, और यह गो रक्षा का मार्ग दयानन्द सरस्वती का चलाया हुआ है इससे दयानन्द का पक्ष सिद्ध होता है, तो जगाधरी सभाने एक खत देकर लाडलीप्रसाद गुजराती को, और धर्मसभा रुड़की ने फकीरचन्द अध्यक्ष को हरिद्वार पर भेजा । उन्होंने ब्राह्मणों से कहा कि तुमने अपने सनातन धर्म को छोड़ दिया । आजतक यहां न गोशाला बनी थी, न गौ के बेचने का संकल्प हुआ था । क्या पहले कोई बुद्धिमान् न हुआ था ? यह गोरक्षा का मत दयानन्द का चलाया हुआ है । हमारा तुम्हारा काम इसकी हानि करना धर्म है । जब तुम हरिद्वार पर गोरक्षा करोगे तो लोग कहेंगे कि देखो दयानन्द का ऐसा उपदेश है कि, अब ब्राह्मण भी गोरक्षा करने लगे । दयानन्द जी की कीर्त्ति होने से हमारी तुम्हारी हानि है । ग़रज़ ऐसी २ बातें कहकर ब्राह्मणों को बहकाकर गोरक्षा का झण्डा तख्ता दानपात्रादि उठवाकर हलवाई की भट्टी में जलवा दिये । यह खबर मूलचन्द मास्टर कनखल ने खत के ज़रिये से मुझे दी । मैं हरद्वार आया, और आकर ब्राह्मणों से कहा कि तुमने यह क्या किया, तो ब्राह्मणो ने कहा कि गोरक्षा करना या गोशाला बनवाना हमारा धर्म नहीं, हमतो गंगा पुत्र हैं, गंगा देती है हम खाते हैं । हमको दुनिया के झगड़ों

से क्या काम ? परमेश्वर की इच्छासे गौ मारी जाती हैं–हम उसकी मर्जी को कैसे रोक दें। मुसलमान गो-बध करते हैं वह भी तो वेदरीति से करते हैं, कुरान भी तो अथर्व वेद है, पहले हमारे यहां भी तो गो-बध करते थे। जब हम समर्थ थे, अब वह सामर्थ्य नहीं है।" मैंने उन ऋषि मुनियों की सन्तान के मुंह से ऐसी बात सुनकर अत्यन्त शोक किया कि हाय यह उन्हीं की सन्तान हैं जो गौ पर अपना प्राण नौछावर करते थे। आज उस ब्रह्मकुल की सन्तान ब्रह्मकुण्ड पर खड़ी हुई यह कहे कि गोरक्षा करना हमारा धर्म नहीं हैं और इस परम धर्म का झण्डा उखाड़ कर आग में फूंक दे। अब हमको क्या आशा हो कि हमारा देश उन्नति को प्राप्त होगा। क्या हरिद्वार में यह प्रबन्ध होने से सारे भारतवर्ष में यह व्यवस्था न फैल जाती कि गौ हिंसक को मत दो। जब हिन्दू लोग उनको गाय न देते तो उनको गाय कहां से मिलती ! २४ करोड़ आबादी में ३ करोड़ गौ का बुरा चाहने वाले और २१ करोड़ रक्षा करने वाले हैं, फिर भी गौ मारी जा रही हैं। शोक ! क्या करें, हमारे ऊपर कोई व्यवस्था करने वाला न रहा जो गाय किसी ने रात को शेर के डर से घर में बांधी और दैवयोग से उलझ कर मर गई-तो बांधने वाला हत्यारा हो गया। गंगापर आकर गोघाट में प्रायश्चित्त करने लगे और भंगी उसके सिर पर जूते मारे तब बिरादरी उससे खान पान करे और जो अपने हाथ से दो रुपये के बदले बूचर की छुरी तले गौ को बेच दे उसको न कोई दण्ड न प्रायश्चित। सच हमारे धर्म का वही हाल है कि अशर्फियों की लूट और कोयलों पर मोहर। एक हफ्ता इन लोगों से मुझको मगज़ मारते हो गया पर मैं अकेला हूं और धर्मसभा वाले कई आदमी बहका रहे हैं, मैं लाचार होकर आज जाता हूं। उन लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई। क्या किया जाय परन्तु मैं देशोपकारक और धर्मरक्षक अखबारों से आशा करता हूं कि इस मजमून को अपने २ परचों में लिखकर और अपनी २ राय देकर इन दुर्बुद्धि लोगों को धिक्कार देकर समझा देंगे। मुझको एक साल हुआ पेशावर से बरेली तक गोरक्षा के लिये फिरता हूं। एक दो गोशाला मुजफ्फरनगरादि में बनाई गई थीं और लाखों मनुष्यों को गो रक्षा का उपदेश देकर हिंसक के हाथ न बेचने का संकल्प भी कराया परन्तु यह हरिद्वार में ऐसा उत्तमोकार किया हुआ धर्म सभा जगाधरी और रुड़की ने मट्टी कर दिया, जो यह मेरी जान भी ले लेते पर इस कार्य का नाश न करते तो मुझको शोक न था।"

चौधरी नवलसिंह ने पण्डों के इस दुष्कर्म को उत्तरीय भारत के सारे नगरों प्रसिद्ध कर दिया और आर्यसमाजों के प्रतिनिधि चारों ओर से हरिद्वार पहुंच गये। ११ मई सन् १८८९ को कनखल में एक बड़ी भारी सभा की गई। पण्डों को बहुत से यजमानों ने लिखकर भेजा था कि यदि तुम गोरक्षा के कार्य का पुनरुद्धार न करोगे तो हमारा तुमसे कुछ वास्ता न रहेगा। आर्य भद्रपुरुषों तथा अन्य सज्जनों ने पण्डों को

बहुत समझाया परन्तु वह इस शुभ कार्य में सहायता देने की जगह क्रोधित होकर बाधक हुए और असभ्यता से गाली प्रदानादि व्यवहार कर लड़ने मरने को उपस्थित हुए। अन्त को हार कर सामाजिक पुरुषों के उद्योग से कनखल चुन्नीलाल के बाग़ में १५ मई को हवन भजनादि के पश्चात् गोरक्षिणी सभा का झण्डा कायम किया गया और स्थानाधिप महाशय ने भी स्थान देने के अतिरिक्त दृढ़ प्रतिज्ञापूर्वक इस काम पर यथावत् दृष्टि रखने तथा उन्नति करने का ज़िम्मा लिया।

इसी अवसर पर चौधरी नवलसिंह ने अपनी वह प्रसिद्ध लावनी बनाकर गाई थी जिसके एक पद में पण्डे की करतूत का ही वर्णन है। पद यह है—"इधर धर्म का झण्डा गाड़ें, उधर अधर्मी रहे उखाड़" उस समय के दर्शक कहते हैं कि जिस समय यह पद गाया गया, सैंकड़ों पुरुषों की आंखों में आंसू जारी थे और कनखल निवासी महाजन और अन्य पुरुष पण्डों पर लानते डालते थे। इस गोरक्षिणी सभा के प्रधान फर्रुखाबाद के रईस लाला मोहनलाल नियत हुए और चौधरी नवलसिंह को मन्त्री बनाया गया।

सनातनी समाचार पत्रों (मित्रविलासादि) ने गोरक्षा का झण्डा उखाड़ने पर हरद्वार के पण्डों की उलटी पीठ ठोकी जिसके लिए हेतु यह दिया कि "दयानन्दी गोरक्षा की आड़ में अपना आर्यसमाज कायम करते हैं, गोरक्षा तो केवल बहाना है।" पौराणिक सनातनी पत्रों ने चाहे कुछ ही शोर मचाया परन्तु हरद्वार के पण्डों को उनके यजमानों ने सीधा कर ही लिया। आर्य विनय खंड १ अंक २१ के सामाजिक समाचारों में नीचे का समाचार छपा था:—

अत्यन्त हर्ष का स्थान है कि हरिद्वार में दूसरी गोशाला भी प्रस्तुत होगई। पण्डों ने अपना पूर्वकृत दोष अपमार्जन किया। इतना बुरा भला सुनकर, देश देशांतरो में प्रख्यात होकर, अब समझ में आया कि गोरक्षा अवश्यमेव करनी है। मूर्ख लोग बिना अन्तिम फल विचारे शीघ्रता से ऐसे ही कार्य कर बैठते हैं कि जिससे पश्चात् उनको निन्दापात्र बनना पड़ता है।" पण्डों ने सभा तो बनाई परन्तु उसके तीन सभापति और छः प्रधान नियत हुए क्योंकि उनको अपने सब यजमानों का प्रसन्न करना ही अभीष्ट था।

हरिद्वार की गोशाला कुछ काल तक चलती रही।

६. उपसंहार

यह दो वर्ष आर्यसमाज के लिये शान्तिमय उन्नति के थे। जहां डी. ए. वी. स्कूल की स्थापना से आर्यसमाज की जड़ें पाताल में पहुंच गईं वहां अन्य धर्मों तथा सम्प्रदायों के

कोई बड़ा संघर्ष उत्पन्न नहीं हुआ। कहीं २ छोटे मोटे शास्त्रार्थ होते रहे, परन्तु टक्कर का भयंकर समय अभी आरम्भ नहीं हुआ था।

आर्य पुरुष वैदिक संस्कार कराने लग गये थे परन्तु अभी तक संस्कारों के पांव नहीं जमे थे। नियोग के नाम से विधवा विवाह के कुछ दृष्टान्त पाये जाते हैं और कहीं कहीं ११ वर्ष की कन्या के वैदिक विवाह के समाचार भी मिलते हैं। संस्कारों की ओर जो थोड़ी बहुत भी प्रवृत्ति मिलती है, वह महत्त्वपूर्ण है। इस समय छोटी २ वस्तु का बड़ा विरोध होता था। वह लोग थोड़ा भी करते थे तो अधिक सहन करना पड़ता था। उस समय के आर्य पुरुषों की यदि उसी समय की अवस्थाओं को देखते हुए परीक्षा की जाय तो कहना पड़ेगा कि वह लोग धर्म पर सुखों का बलिदान करना जानते थे।

पांचवां परिच्छेद

सनातनधर्म से संघर्ष

१८८८ ई०—१८८९ ई०

१. कारण

ऋषि दयानन्द ने चौमुखे आक्रमण किये, सब सम्प्रदायों को धक्का लगाया, किसी को भी अछूता नहीं छोड़ा। ऋषि ने अनेक शास्त्रार्थ किये। बहुत से पर्वत जो अपनी उंचाई का दावा रखते थे, उस विद्यामेघ के सामने छोटे दिखाई देने लगे। सनातनधर्मियों ने अपने बड़ी से बड़ी तोपों को लाकर दयानन्ददुर्ग का घेरा डाला, परन्तु ब्रह्मचर्य और प्रतिभा की फसील पर कोई असर न पैदा कर सके। शास्त्रार्थ भी एक कला है, जो केवल पाण्डित्य के साथ नहीं आती। ऋषि से पूर्व तथा उस समय में भी काशी और नदिया में दिग्गज पंडित विद्यमान थे। वह धाराप्रवाह संस्कृत बोल सकते थे, व्याप्तियों के छर्रों और अवच्छेदकों के गोलों से विरोधी पंडित का अंग-भंग कर सकते थे, पर सर्वसाधारण के सामने आकर छोटे से छोटे विषय पर युक्ति-पूर्वक बात नहीं कर सकते थे। वह अंधेरी कोठरी के दिग्गज थे, ऋषि ने उन्हें खुले मैदान में ललकारा। खुले मैदान की लड़ाई में जिन गुणों से सफलता प्राप्त होती है, वह उनमें विद्यमान नहीं थे। दयानन्द ने शास्त्रार्थ के पुराने सब कानूनों को तोड़ डाला। वह व्याप्तियों की बारा नहीं छोड़ता था, अवच्छेदकों के गोले नहीं बरसाता था, वेदों के मन्त्र प्रमाण में पेश करता था, और जब उसे आवश्यकता होती थी, तब वेद ब्राह्मण उपनिषद् दर्शन और स्मृति अपना २ हिस्सा देने के लिये उपस्थित होजाते थे। इस नई शास्त्रार्थ पद्धति ने पुरानी पण्डितऊ शास्त्रार्थ पद्धति को बिल्कुल निकम्मा बना दिया। अन्तिम दिनों में ऋषि का मार्ग निष्कण्टक बन गया था। प्रतिपक्षियों ने हथियार फेंक दिये थे।

ऋषि के पीछे लगभग ५ साल तक प्रतीक्षा और तय्यारी का समय था। आर्य-समाज का सर्वस्व सेनापति खो गया था, नये सेनापति तय्यार नहीं हुए थे। उधर सनातनधर्म नई शास्त्रार्थप्रणाली का क. ख. ग. सीख रहा था। वह भी मल्लों को तय्यार

कर रहा था। ५ साल की तय्यारी के पीछे १८८८ ई० में हम फिर आर्यसमाज और सनातनधर्म को टकराता हुआ देखते हैं। संघर्ष के बढ़ने का एक यह भी कारण था कि आर्यसमाज की उन्नति पुराने दुर्गों की जड़ों को हिला रही थी। बाप सनातन विचारों का था, तो लड़का आर्यसमाजी बन रहा था। एक भाई गणेशजी को पूजता था, तो दूसरा भाई मूर्तिपूजा के खण्डन में लगा हुआ था। समाज में एक क्रान्ति पैदा हो रही थी, जिसे देख कर पुराने विचारों के ठेकेदार घबरा उठे थे। १८८४ ई० से १८८७ ई० तक आर्यसमाज की शक्ति जितनी तीव्रता से बढ़ती गई, पौराणिक विचार रखनेवालों की घबराहट में उतनी ही वृद्धि होती गई। १८८७ ई० में गति और स्थिति की शक्तियां आपस में ज़ोर से रगड़ खाने लगीं।

२. आर्यधर्मसभा और आर्य सिद्धान्त

ऋषि की मृत्यु के पीछे सनातनधर्म की ओर से आर्यसमाज के प्रवाह को रोकने का पहला लेखबद्ध प्रयत्न किसी पंडित राममोहन शर्मा की ओर से हुआ था। राममोहन शर्मा का नाम तो केवल दिखावे के लिये था, असल में 'महामोहविद्रावण' काशी के किसी बड़े पंडित का लिखा हुआ था। लोगों का अनुमान था कि उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् भागवताचार्य ने ही 'विद्रावण' की रचना की थी। इस छोटी सी पुस्तक में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदब्राह्मणविषयक सन्दर्भ का खण्डन हुआ था। भाषा नितान्त असभ्य थी, योग्यता दिखाने का प्रयत्न प्रत्यक्ष दीखता था। इस लेख का एक नमूना यह दिखाने के लिये दिया जाता है कि उस समय की पंडितमण्डली विवाद में किस भाषा का प्रयोग उचित समझती थी।

"अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगांगप्रवाहायां वाराणस्यां विज्ञैरज्ञैः सर्वैरपि धर्मध्वजशिरोमणिः पुण्यजनप्रवर इतिसमधिगतः पंकबहुलाल्पजलात्पल्वलात् सद्यः समुत्थितः सर्वांगीणपंकलेपेन स्तब्धरोमेव स्थूलकायो धर्मपुस्तकमूलमुल्लुञ्चानः काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव कश्चिद् भिक्षुवेषो देवनिन्दाघोरशब्दघुरघुरायितमुखः कलंकयन्निव स्ववेषं प्लावयन्निवाज्ञानाम्भसि जगदशेषं, सञ्जनयन्निव सताञ्चेतसः क्लेशं, वञ्चयन्निव स्वदेशं वस्तुतः स्वात्मानमेव वञ्चयन् कलुषयंश्च समुपागमत्।"

एक बार अत्यन्त पवित्र सुलभ सुन्दर गंगा प्रवाह से युक्त काशीपुरी में एक भिखारी वेष वाला आदमी आया। वह कैसा था? उसे पंडित और मूर्ख पुण्य जनों में श्रेष्ठ कहते थे (पुण्य जन का अर्थ श्रेष्ठ पुरुष भी है और नास्तिक भी) कीच से निकले हुए, मिट्टी से सने होने के कारण स्तब्ध केशोंवाले सूअर के समान वह धर्म पुस्तक रूपी बनस्पति की जड़ों को खोदता, और काश्यादि तीर्थों की पवित्र भूमि

को उखाड़ता था । उसके मुंह से देवनिन्दा का शब्द सूअर के घुर घुर शब्द की तरह निकलता था । वह मानो अपने भेस को कलंकित कर रहा था, सारे संसार को। अविद्यारूपी जल में डुबो रहा रहा था, सज्जनों के दिलों को दुःखित कर रहा था, अपने देश को और वस्तुतः अपने आपको ही धोखा दे रहा था और कलंकित कर रहा था ।

यह महामोहविद्रावण की प्रारम्भिक पंक्तियां हैं । इस प्रकार की भाषा का प्रयोग उस समय के पण्डितों में श्रेष्ठ समझा जाता था । वह समझते थे कि एक लच्छेदार अपशब्द बीस युक्तियों का काम देता है । उन्हें नहीं विदित था कि युग परिवर्तन हो चुका है। अब कठिन गाली के स्थान पर शान्त युक्ति को अधिक बलयुक्त समझा जाता है ।

इस प्रकार के लेखों का सर्वसाधारण पर तो कोई प्रभाव नहीं होता था, परन्तु संस्कृत के विद्वान् इन्हें पढ़कर अवश्य प्रभावित होते थे । प्रभाव का यह अभिप्राय नहीं कि उनकी सम्मतियों पर कोई प्रभाव उत्पन्न हो जाता था, ऐसे लेख कभी सम्मतियों पर प्रभाव नहीं पैदा कर सकते थे । इनका असर केवल यह होता था कि जो लोग ऋषि के विरोधी थे वह कुछ समय के लिए प्रसन्न हो जाते थे, और जो ऋषि के भक्त थे, उनके हृदयों को दुःख पहुंचता था । ऋषि के शिष्यों में से तीन ही मुख्य समझे जाते थे। स्वामी आत्मानन्द जी के कार्य का वर्णन आ चुका है। पं० भीमसेन और पं० ज्वालादत्त ऋषि के खास शिष्यों में से थे । उन्होंने ऋषि से बहुत कुछ पढ़ा था । वेद भाष्य तथा अन्य ग्रन्थों के प्रूफ संशोधन का कार्य प्रायः इन्हीं दोनो के हाथों से होता था। ऋषि की मृत्यु के पीछे उक्त दोनों पण्डित प्रयाग के वैदिक प्रेस में संशोधक का कार्य करते रहे । उस समय आर्यसमाज में पंडितों का अभाव था। ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों के प्रूफ संशोधन तथा लेखन के कार्य के लिये अपनी फर्रुखाबाद की पाठशाला के सबसे योग्य विद्यार्थी भीमसेन और ज्वालादत्त को साथ ले लिया था। दोनों में से पं० भीमसेन की योग्यता अच्छी थी, परन्तु स्वभाव चञ्चल था, प० ज्वालादत्त का स्वभाव स्थिर था, अक्षर अच्छे थे, परन्तु कौशल और पांडित्य की कमी थी । स्वभाव की चञ्चलता के कारण भीमसेनजी को स्वामी जी के कोप का भाजन भी होना पड़ता था । प्रतीत होता है कि वह बहकावट में बहुत शीघ्र आजाते थे । कभी २ अपने पांडित्य के मद में आकर स्वामी जी की अशुद्धियां निकालने की धुन उन पर सवार होजाती, और इधर उधर बुराई तक करने लगते । एकबार कार्य की अत्यन्त शिथिलता के कारण ऋषि ने पं० भीमसेन को अलग भी कर दिया । मार्गशिर बदी ५ सम्वत् १९३४ के पत्र में ऋषि ने वैदिक प्रेस के मैनेजर मनीषी समर्थदान को लिखा है "आज अत्यन्त अयोग्यता के कारण भीमसेन को सब दिन के लिये निकाल दिया है,

उसको मुख न लगाना। लिखें लिखावे तो कुछ ध्यान न देना' अलग किये जाकर पं० भीमसेन की आंखें खुलीं। स्वामीजी को आपने जो पत्र भेजा, वह लेखक की मानसिक दशा को अच्छी तरह सूचित करता है। हम पत्र की कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत करते हैं :—

"……… …मेरा चित्त अब कहीं नहीं लगता क्योंकि आप जैसे शुद्ध पुरुष मुझ को कोई नहीं दीखते। पहले यह विचार नहीं किया। यही मेरी भूल है और आपका यह कहना बहुत सत्य है कि जबतक मनुष्य को धक्का नहीं लगता तबतक बुद्धि नहीं आती। अब मेरा यही विचार है कि आपका संग मैंने बहुत किया, और आपको भी मेरे समान ठहरने वाला कम ही मिला होगा। अब मेरे ऊपर कृपा करके मेरे दोष आप निःशेष जानते हैं और कुछ मैं भी जानता हूं, सो आप चित्त से हटा दीजिये। क्योंकि मैं सब दोषों को समूल छोड़ दूंगा। जिन २ बातों से मेरी आपकी बुद्धि में विरोध पड़ता था, सो वे बातें अब कदाचित् किंचित भी न करूंगा। अब पूर्वानुभूत अपराधों को क्षमा करके अपने चरणकमलों के दर्शन कराइये।"

स्वामीजी ने क्षमा कर दिया। पं० भीमसेन फिर प्रेस में संशोधक का कार्य करते रहे। चित्त की चंचलता और बहकाने में आजानेवाली प्रकृति ने पं० भीमसेन का अन्त तक साथ दिया। इन दोषों के होते हुए भी उनकी योग्यता में कोई सन्देह नहीं था। अपने समय में वह आर्यसमाज के चोटी के पंडित माने जाते थे। आर्षग्रन्थों में उनका अनिषिद्ध प्रवेश था। उनके प्रोत्साहन से और प्रयाग निवासी बा० विश्वेश्वर सिंहजी के उद्योग से महामोह विद्रावण जैसे विषघ्न आक्षेपों के उत्तर देने और धार्मिक प्रश्नों की निपटाने के लिये आषाढ़ शुक्ला १३ सं० १९४४ (जुलाई १८८७) को आर्य धर्मसभा की स्थापना हुई। सभा का उद्देश्य वैदिकधर्म पर किये गये आक्षेपों का खण्डन और शंकाओं का समाधान करना था। सभा के मन्त्री पं० भीमसेन शर्मा बनाये गये। आक्षेपों के खण्डन के लिये 'आर्य सिद्धान्त' नाम का मासिक पत्र निकाला गया। उसीमें आर्य पुरुषों की शंकाओं का समाधान भी होता था। पहले तो यथासम्भव सभी शंकाओं का समाधान करने का यत्न किया जाता था, परन्तु जब यह कार्य कठिन होने लगा तो घोषणा दीगई कि केवल उन्हीं शंकाओं का समाधान किया जायगा जो आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्राप्त होंगी। पत्र के सम्पादक प्रारम्भ में पं० भीमसेन शर्मा और पं० ज्वालादत्त शर्मा थे, परन्तु पीछे से सम्पादन का कार्य केवल पं० भीमसेन शर्मा ही करते रहे। पत्र का वार्षिक मूल्य १।) रखा गया था। सम्पादकों का कोई वेतन निश्चित नहीं किया गया था। छपाई बचाकर जो शेष बचे उसका आधा भाग सम्पादकों की भेंट किया जाता था। नाममात्र को पत्र आर्यधर्म सभा का था परन्तु

प्रारम्भ से वह पं० भीमसेन शर्मा के पूर्ण अधिकार में रहा। वही उसके वाली वा-रिस बन गये। जब शर्मा भी बीमार हो जाते तो पत्र भी सुस्ताने लगता। महीनों तक दर्शन ही न देता था, परन्तु उस समय सामाजिक पत्रों का इतना अभाव था, लोगों की धर्म पिपासा इतनी बढ़ी हुई थी, और ऋषि के शिष्य का इतना आदर था कि सब कमियों के होते हुए भी आर्य सिद्धान्त को आर्य पुरुषों से बहुत सी आर्थिक सहायता मिलती थी। जब वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से उठकर अजमेर चला गया तो पं० भीम-सेनजी प्रयाग में ही रह गये और उनके साथ ही आर्य सिद्धान्त और आर्यधर्मसभा के कार्यालय भी रह गये।

आर्य धर्मसभा की ओर से १६४४ के अन्त में दयानन्द विश्वविद्यालय का उद्घाटन किया गया। विश्वविद्यालय का उद्देश्य आर्यसमाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये उपदेशक तय्यार करना था। इस विद्यालय के मुख्य कार्यकर्ता पं० भीमसेन जी ही थे। आर्य पुरुषों ने विद्यालय के लिये अच्छी सहायता दी। एक समय इसमें पन्द्रह बीस विद्यार्थी पढ़ने लगे थे। विश्वविद्यालय के संचालक बा० बिशेश्वर सिंह जी रईस थे, जो ऋषि के अनन्य भक्त थे। वह चाहते थे कि ऋषिकी बताई हुई पाठविधि का विद्यालय में अक्षरशः पालन किया जाय।

आर्य धर्मसभा के सभासद् माघ १६४४ में ३६ थे, जिन में से लगभग आधे संस्कृतज्ञ थे। सभासद् बनने के लिये इतनी ही शर्त थी कि 'जो सभासद् बनना चाहे वह आर्यसमाजी हो और संस्कृत जानता हो।' संस्कृत जानने या न जानने का निर्णय सभासदी के उम्मेदवार के अधीन था। इस कारण सभा में अधिक संख्या उन लोगों की होगई जो नाममात्र के ही संस्कृतज्ञ थे। यही कारण था कि सभा अधिक समय तक न चल सकी। लगभग दो वर्ष तक जीवित रहकर माघ १६४६ में सभा अपने तीसरे अधिवेशन के साथ समाप्त हुई। सभा समाप्त होने के कई कारण प्रतीत होते हैं। आर्यसमाज को जन्म घुट्टी में नियम और नियन्त्रण खिलाया गया है। आर्यधर्म सभा का न अच्छा नियन्त्रण था, और न कोई विशेष नियम थे। आर्य प्रतिनिधि सभा के अतिरिक्त प्रान्त में किसी ऐसी सभा का रहना कठिन था, जो सब आर्य पुरुषों की प्रतिनिधि न समझी जाय। यदि आर्यधर्मसभा प्रतिनिधि द्वारा बनाई जाती, या प्रति-निधि के अधीन होती तो शायद जीवित रह जाती। प्रतिनिधि सभा के बनजाने और आर्यधर्म सभा के सभासदों की शिथिलता के कारण वह सभा अन्यथा सिद्ध सी होगई थी। तीसरे अधिवेशन में वह सभा तोड़दी गई और आर्य सिद्धान्त तथा विश्वविद्या-लय के कर्ता धर्ता हर्ता पं० भीमसेन शर्मा ही रह गये। कितने दिनों तक आर्यधर्म

सभा रही, उसने उपयोगी कार्य किया। वह आर्यसमाज के संगठन के अनुरूप नहीं थी, इस कारण जीवित न रह सकी।

३. सनातनधर्म-महामण्डल

आर्यसमाज की शक्ति का रहस्य उसका मजबूत संगठन है। आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना के पीछे समाज की शक्ति और भी अधिक होगई। पौराणिक धर्म में कुछ समय से आत्मरक्षा की भावना पैदा हो रही थी। आर्यसमाज के प्रचार से जिन लोगों के हार्दिक भावों अथवा थैलियों पर चोट पहुंची थी, वह लोहे की कवच पहनने का उद्योग कर रहे थे। पौराणिक धर्म ने आत्मरक्षा के लिये कई प्रकार के उद्योग आरम्भ कर दिये। स्थान २ पर धर्मसभा, पंडितसभा सनातनधर्म सभा आदि की स्थापना होने लगी। पौराणिक सिद्धान्तो की पुष्टि में मासिक तथा साप्ताहिक पत्र निकलने लगे, और शास्त्रार्थों का समारोह होने लगा। इन फुटकर यत्नों के अतिरिक्त एक बड़ा उद्योग जो जो इस समय में आरम्भ हुआ, वह काशीधाम में भरत धर्म महामण्डल की संस्थापना थी।

मण्डल की एक शाखा पञ्जाब में भी स्थापित हुई। उसके मन्त्री प्रसिद्ध वाग्मी पं० दीनदयालु शर्मा बने। उस समय शर्मा जी मुन्शी दीनदयालु के नाम से प्रसिद्ध थे।

जनवरी १८८६ के मध्यभाग में आपने लाहौर में व्याख्यानों का सिलसिला जारी किया। शर्माजी फार्सी और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। आपका स्वर गम्भीर और मीठा था, बोलने में चतुरता और प्रौढ़ता पाई जाती थी, भाषण के बीच २ में तुलसी और सूरदास के दोहे ऐसे मनोहर प्रतीत होते थे, जैसे उद्यान में गुलाब के फूल। आप जब स्वर भंगी के साथ चौपाई का पाठ करते थे, तब श्रद्धालु श्रोता मन्त्रमुग्ध से होकर सिर हिलाने लगते थे। लाहौर में मन्त्री जी के व्याख्यानों ने एक हलचल सी पैदा करदी। आपने मूर्तिपूजा श्राद्ध आदि विषयों पर व्याख्यान दिये।

आर्यसमाज की ओर से इन व्याख्यानों के उत्तर दिये गये। स्वामी स्वात्मानन्द जी, स्वा० अच्युतानन्द जी और पं० गुरुदत्त एम. ए. के ज़ोरदार भाषण हुए। प्रतीत होता है कि आर्यसमाज के व्याख्यानों का अच्छा प्रभाव हुआ। एक जवाबी सभा में पं० गुरुदत्त जी के भाषण के पश्चात् आर्यसमाज के ५० नये सभासद् बने। शास्त्रार्थ की थोड़ी बहुत चर्चा हुई परन्तु कुछ फल न निकला। दोनों ओर के व्याख्यान जुदा जुदा स्थानों में होते रहे। महामण्डल के डेपुटेशन का सनातन धर्मी लोगों की ओर से अच्छा आदर हुआ। धन से भी पुष्कल सत्कार हुआ। प्रतीत होता है कि डेपुटेशन को जो भेंट मिली, उसके बंटवारे के सम्बन्ध में बहुत से मतभेद पैदा होगये थे।

'खैरख्वाहे कश्मीर' नाम के सनातनधर्मी पत्र ने उन्हीं दिनों शिकायत की थी कि मण्डल के मन्त्री ने मण्डल का रुपया खा लिया। प्रतीत होता है कि लाहौर के सनातनधर्मियों में ऐसे समाचारों ने बहुत खलबली पैदा करदी थी। कुछ ही दिनों पीछे लाहौर की सनातनधर्म सभा दो हिस्सों में विभक्त होगई। एक पक्ष मण्डल के मन्त्री का पोषण करता था, और दूसरा उसकी आलोचना करता था। आर्यसमाज के समाचार पत्रों ने इन घटनाओं पर दो टिप्पणियां की। एक तो इस फूट को सनातनधर्म की निर्बलता का फल बतलाया, और दूसरे व्यंग्य रूप से प्रस्ताव किया कि यदि मण्डल के मन्त्री का पुष्कल मासिक वेतन रख दिया जाय तो झगड़ा दूर हो सकता है।

महामण्डल के साथ आर्यसमाज की दूसरी मुठभेड़ वृन्दावन में हुई। १८८९ ई० के अप्रैल मास में वृन्दावन में एक मेला था। उस समय से लाभ उठाकर मंडल के अधिकारियों ने प्रचार का समारोह किया। भारतभर के सनातनधर्मी पंडित एकत्र हुए। मथुरा आर्यसमाज की ओर से मंडल का प्रत्युत्तर देने के लिये प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। लगभग २०० आर्य सज्जन इकट्ठे हुए, जिनमें से अधिकांश संस्कृतज्ञ थे। आर्यसमाज ने पृथक् डेरा तय्यार किया था, जहां प्रतिदिन व्याख्यान होते थे। स्वामी स्वात्मानन्द जी के भाषण सुनने को लोग इतने उत्सुक रहते थे कि प्रतिदिन उन्हें कुछ न कुछ बोलना ही पड़ता था। आपका भाषण स्पष्ट रोचक और युक्तिपूर्ण होता था। आर्यसमाज के कार्यकर्ता जानते थे कि मथुरा और वृन्दावन पौराणिक गढ़ हैं। उन्हें आशा नहीं थी कि उस गढ़ में सच्ची परन्तु कड़वी बात सुनने को कोई तय्यार होगा, परन्तु आर्यसमाज के समाचार पत्रों में प्रचार का जो वृत्तान्त छपा है, उससे प्रतीत होता है कि जनता ने आर्यसमाज की बातों को बड़ी शांति से सुना।

शास्त्रार्थ की चर्चा भी छिड़ी थी, परन्तु वह नहीं हो सका। यों तो दोनों पक्षों ने शास्त्रार्थ न होने की उत्तरदायिता एक दूसरे पर डाली, परन्तु प्रतीत होता है कि महामंडल की नीति प्रारम्भ से ही यह थी कि यथासम्भव शास्त्रार्थ से बचा जाय। बहुत सा शोर शार मचाकर अन्त में बिना भिड़े ही दोनों ओर के योद्धा घरों को चले गये।

३. शास्त्रार्थ

शास्त्रार्थों का युग आरम्भ हो चुका था। स्थान २ पर छोटे २ शास्त्रार्थ तो होते ही रहते थे, परन्तु बड़े २ संग्रामों का भी अभाव नहीं था। उस समय के शास्त्रार्थों का वृत्तांत पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि श्रोता लोग जिज्ञासा से प्रेरित होते थे। हिन्दू समाज में एक विशेष हलचल पैदा होगई थी, जिसका असर बहुत व्यापी हो रहा था।

लोग सचाई तक पहुचने को उत्सुक थे। शास्त्रार्थ तमाशा या रौनक बढ़ाने का साधन नहीं समझा जाता था, वह अभी तक एक जान्दार पदार्थ था। लोग सत्य को जानने के उद्देश्य से शास्त्रार्थों में जाते थे, चिकने घड़े बनकर केवल ताली पीटने के लिये नहीं। उस समय भी कुछ चिकने घड़े अवश्य थे, परन्तु उनकी इतनी संख्या नहीं थी कि सच्चे जिज्ञासुओं पर हावी हो जाती। इस कारण उस समय के शास्त्रार्थ कुछ असलीयत रखते थे।

उस समय के शास्त्रार्थों में देहरादून का शास्त्रार्थ विशेषतया वर्णनयोग्य है। यद्यपि उसमें कोई प्रसिद्ध मल्ल अखाड़े में नहीं उतरे थे, तो भी जिस रीति से वाद विवाद का संचालन हुआ, वह कई अशों में अनुकरणीय थी। यह शास्त्रार्थ १८८९ सन् के मार्च मास की १४ तारीख़ को आरम्भ हुआ। शास्त्रार्थ का विषय 'श्राद्ध' था। उस समय मूर्त्तिपूजा और श्राद्ध यह दो विषय शास्त्रार्थ करने वालों को बहुत प्रिय थे। वादी प्रति वादी इन दो विषयों पर शास्त्रार्थ करते हुए तीक्ष्ण व्यंग्य वाक्यों की वर्षा करके आनन्दित होते थे। सनातन विचार के लोगों को अपने मर्मस्थान यही प्रतीत होते थे। शास्त्रार्थ के नियम ये रखे गये थे कि वेद तथा षट् शास्त्रोंके प्रमाणों से ही मृतक श्राद्ध की सत्यता पर विचार हो, वादी और प्रतिवादी अपने अपने प्रमाणों को लिखकर लायें, और समय की समाप्ति पर प्रमाणों की एक कापी हस्ताक्षर करके प्रतिपक्षी को दे दें। शास्त्रार्थ ५ दिनों तक रहा। पहले दिन सनातन धर्म की ओर से श्राद्ध का प्रतिपादन किया गया, दूसरे दिन आर्यसमाज ने उत्तर दिया, तीसरे दिन फिर सनातन धर्म के पण्डित ने अपने मत की स्थापना की, जिसका उत्तर चौथे दिन आर्यसमाज ने दिया। अन्तिम दिन सनातन धर्म की ओर से अन्तिम भाषण हुआ। इस शास्त्रार्थ में सनातन धर्म की ओर से एक अद्भुत बात यह कही गई कि मनुस्मृति भी षड् दर्शनों में है। बात यह हुई कि शास्त्रार्थ में केवल वेद और षड्दर्शनों के प्रमाण पेश करने की बात तय हो चुकी थी। सनातनी पण्डित ने श्राद्ध के पक्ष में मनुस्मृति का प्रमाण दिया। आर्यसमाज की ओर से आक्षेप किया गया तो उत्तर यह दिया गया कि मनुस्मृति भी षड्दर्शनों में से है। संख्या पूरी करने के लिये न्याय और वैशेषिक को एक कर दिया गया। यह तर्क शायद उस समय के पीछे फिर कभी नहीं दुहराया गया।

शास्त्रार्थ के क्षेत्र में सनातन धर्म की ओर से एक नया मल्ल खड़ा हो रहा था। स्वामी केशवानन्द संस्कृत के अच्छे विद्वान होने के अतिरिक्त देखने में भी शान्दार थे। उनके साथ साधुओं की एक बड़ी मण्डली रहती थी, और भक्तों का हजूम काफ़ी था। चार घोड़ों की गाड़ी में स्वामी जी की सवारी निकलती थी, जिसके आगे पीछे गेरुआ बाने की खासी शान रहती थी। पंजाब में १८८९ में स्वामी केशवानन्द ने दौरा

लगाया। जहां कहीं भी वह पहुंचे, वहीं आर्यसमाज ने पीछा किया। रावलपिण्डी लाहौर अमृतसर आदि पंजाब के बड़े २ शहरों में इस नये धर्मावतार ने दौरा लगाया। लाहौर में स्वामी केशवानन्द के व्याख्यानों के उत्तर में प० गुरुदत्त एम. ए. स्वामी स्वात्मानन्द ला० मुर्लीधर और मास्टर दुर्गाप्रसाद आदि आर्य पुरुषों के व्याख्यान हुए, जिनका अद्भुत प्रभाव पड़ा। स्वामी केशवानन्द ने कई वर्षों तक पंजाब की भक्तमण्डली को अपने धर्मोपदेशों से अनुगृहीत करके इतना धन एकत्र कर लिया कि कुछ समय पीछे कनखल में विशालमहलरूपी कुटिया बनाकर राजसी ठाठ के साथ तपश्चर्या आरम्भ कर दी। उस समय से वह शास्त्रार्थ के क्षेत्र से बाहर चले गये।

छुपके २ आर्यसमाज के संस्कार किस प्रकार फैल रहे थे, इसका एक नमूना पर्याप्त होगा। पंजाब के पहाड़ी इलाके में मण्डी नाम की एक छोटी सी रियासत है। वहां के नरेश २ दिसम्बर १८८९ को जालन्धर पहुंचे। एकान्त पहाड़ों में भी उनके कानों तक ऋषि दयानन्द की आवाज़ पहुंच चुकी थी। जालन्धर में पहुंचते ही उन्होंने आर्यसमाज और सनातन धर्म सभा को निमन्त्रण भेज दिया। निमन्त्रण के उत्तर में ३ दिसम्बर को दोनों ओर के प्रतिनिधि महाराज के डेरे पर पहुंचे। सनातन धर्म सभा ने महाराज की सेवा में जनेऊ और इलायची भेंट की, और आर्यसमाज की ओर से ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका सत्यार्थप्रकाश आदि ऋषिकृत ग्रन्थ भेंट किये गये। भेंट करते हुए समाज के मन्त्री ला० देवराज जी ने निम्नलिखित शब्द कहे—

"राजन्! संसार में प्रिय झूठ बोलने वाले बहुत हैं, किन्तु दुर्लभ मनुष्य वे हैं, जो अप्रिय सत्य को भी बुरा न मानें, और सत्य कहें। सांसारिक पुरुष अशर्फियों और रुपयों की नजरें पेश करते हैं, आर्यसमाज के सभासद् आप की ख़िदमत में स्वामी दयानन्दकृत धर्म अर्थ काम और मोक्ष सिद्ध करने वाले ग्रन्थ पेश करते हैं जिनसे आशा है कि आप फायदा खुद उठावेंगे, और अपनी प्रजा को भी उसके ज़रिये सुशोभित करेंगे"

भेंट हो चुकने के पीछे धर्म चर्चा आरम्भ हुई। अनेक प्रश्नोत्तर हुए। नियमपूर्वक शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ, परन्तु दोनों ही पक्ष अपनी २ युक्तियां सामने रखते रहे। कई झपटें भी होगईं। एक सनातनी पंडित ने महाराज को 'वेदमूर्ति' कह दिया, इस पर आर्यसमाज के मन्त्री ने उसी समय प्रतिवाद कर दिया, और कहा कि 'वेदमूर्ति' केवल ईश्वर है। महाराज पर आर्यसमाज की स्वाधीन प्रकृति का बहुत अच्छा असर पड़ा। अन्त में नरेश ने आर्यसमाज के कार्य की प्रशंसा करते हुए आशा प्रकट की कि 'मैं आर्यसमाज को मूर्तिपूजा के पक्ष में कर लूंगा' आर्यसमाज की ओर से उत्तर दिया गया कि 'यह तो देखा जायगा कि कौन किसे मना लेगा' दूसरे दिन आर्यसमाज के

पण्डित मनीराम और सनातन धर्म सभा के पण्डित श्री कृष्ण जी का संस्कृत और हिन्दी में शास्त्रार्थ हुआ। अन्त में नरेश की ओर से दोनों पक्षों को धन्यवाद दिया गया और यह ज्ञान चर्चा समाप्त हुई।

शास्त्रार्थ का शौक धीरे २ पैदा होरहा था। कहीं पत्रव्यवहार तक ही समाप्ति हो जाती थी, कहीं थोड़ी बहुत झपट भी हो जाती थी, परन्तु ठीक शास्त्रार्थ तक नौबत कम पहुंचती थी। जहां कहीं शास्त्रार्थ हो जाता था, वहां श्रोताओं पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता था। हिन्दू जनता आर्यसमाज की चोटों से विचलित होगई थी। विचार रूढ़ि की अवस्था से निकलकर द्रव अवस्था में आगये थे। द्रव अवस्था में विचारों पर वाद विवाद का प्रभाव हो सकता है। जब विचार घनीभूत हो जायं तब वाद विवाद केवल क्रोध में समाप्त होता है। उस समय के सब शास्त्रार्थों में आर्यसमाज जीता या हारा—इस पर इतिहासलेखक कोई राय नहीं बना सकता, परन्तु वह इतना अवश्य कह सकता है कि उन शास्त्रार्थों से आर्यसमाज के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

४. आर्यपुरुषों का धर्मप्रेम

जब कोई नया विचार लोगों के सामने रखा जाता है, तो वह प्रायः चौंक उठते हैं। नये विचारों का सब से अधिक कड़वा असर परिवार के बन्धनों पर होता है। सुधारक लोगों पर सदा यह दोष लगाया जाता है कि वह पारिवारिक शान्ति में विघ्नकारी होते हैं। सुधारकों पर आज से नहीं हमेशा से यह अपराध लगाया जाता रहा है। सुकरात और ईसा से लेकर ऋषि दयानन्द तक जिन लोगों ने मनुष्य जाति को सुधारने का यत्न किया है, उन्होंने पारिवारिक संगठन के पक्षपातियों की गालियां खाई हैं। आर्यसमाज ने भी प्रारम्भ में पारिवारिक शान्ति में बहुत हलचल पैदा की, और ख़ान्दानों के बुज़ुर्गों की गालियां खाईं, वह गालियां इस बात में प्रमाण थीं कि आर्यसमाज कुछ काम करने में समर्थ हुआ है। जो संस्था हृदयों पर राज्य नहीं कर सकती वह किसी आदर्श के लिये भाई को भाई से नहीं लड़ा सकती। जो हवा का झोंका जंगल में सनसनी नहीं पैदा कर सकता वह बांसों को रगड़कर आगको भी उत्पन्न नहीं कर सकता।

उन दिनों आर्यपुरुषों की परीक्षा बहुत कड़ी होती थी। यहां एक दृष्टांत उद्धृत करना पर्याप्त होगा। ऐसे दृष्टांत उस युग में देश के प्रत्येक नगर में हो रहे थे। हम यह दृष्टांत जालन्धर के सद्धर्म-प्रचारक से उद्धृत करते हैं—

"जालन्धर आर्यसमाज को इत्तिला पहुंची कि पण्डित कृपाराम मेम्बर आर्यसमाज फ़ीरोज़पुर जो बाशिन्दा सुल्तानपुर रयासत कपूर्थला के हैं अपनी पुत्री का विवाह संस्कार वेद रीति से करना चाहते हैं। इस खुशख़बरी को सुनकर ला० मुन्शीराम प्लीडर प्रधान, मये ला० माधोराम व ठाकुरदास व ला० रूड़ाराम व ला० सालिगराम और पं० श्रीपत अध्यापक समाज २० अप्रैल १८८९ ई० की शाम को जालन्धर से रवाना होकर कपूर्थले होते हुए २१ अप्रैल ८९ की सुबह को सुल्तानपुर में पहुंचे। ला० गोबिन्द सहाय मेम्बर समाज कपूर्थला ने पं० कृपाराम जी को खबर दी। उस रोज़ दिन को वहीं क़याम किया, शाम को जायेक़याम पर भजन कीर्तन के बाद उपासना हुई। उस वक़्त शहर में ख़बर पहुंचते ही क़रीबन २५० आदमी जायेक़याम पर होगये। गो लैक्चर की तैयारी पहले से न थी ताहम लोगों को लाभ पहुंचाने की नीयत से ला० मुन्शीराम प्लीडर ने एक वेद मन्त्र का अर्थ करके मुक्ति पर बड़ा ज़ोरदार व्याख्यान दिया। जिससे अवाम में अच्छा असर पड़ा। इसके बाद पं० कृपाराम जी मै दो पंडितों के ला० मुन्शीराम के पास आये, और उनकी तसल्ली विवाह कर्म के बारे में कराना चाहा, क्योंकि अवाम मे मशहूर होरहा था कि आर्य सिर्फ रूमाल तब्दील करके विवाह कर देते हैं। जब पंडितों ने संस्कारविधि की कृया सुनी तो अपनी पद्धति से मिलाकर उसे बहुत उत्तम बयान किया। शहर में धूम मची हुई थी। स्त्रियां सब वैदिक रीति का विवाह देखने की मुश्तयाक थीं। १० बजे शब के बतारीख़ २१ अप्रैल १८८९ ई० सब भाई मय चन्द मेम्बरान कपूर्थला समाज पंडित कृपाराम जी के स्थान पर पहुंचे, और पं० श्रीपत जी ने यज्ञशाला रचना शुरू की। बेशक पंडित जी का फूलों से वेदी का आरायश करना उस प्राचीन समय को याद दिला रहा था जब कि हमारे गौतम आदि ऋषि आर्य भूमि को वेदध्वनि से सच्चा स्वर्ग बनाए हुए थे। लेकिन जब सब सामान यज्ञ का तय्यार करके वर को बुलाने के लिये आदमी भेजा, उस वक्त एक शख़्स गिरधारी नामी नाम का बराहमन राक्षसवृत्ति वाला शराब के नशे में चूर लंगोट बांधकर आ मौजूद हुआ। शहरवालों का कसीर अंबोह हमराह था। बाहिर धर्म पर जान देने वाले धर्मसभा के सरपरस्त के मुलाजिम गिरधारी बाम्हन की मुसल्मानी कंजरी शराब में मख़मूर अपने आशना को बुलाती थी। उस राक्षस ने ठीक वैसा ही पिशाच कर्म किया जैसा कि विश्वामित्र के यज्ञ में मारीच असुर ने किया था। पं० कृपाराम ने पुलिस से मदद मांगी कि गिरधारी को मदाख़लत बेजा से बाज रखने के लिए गिरफ्तार करें। लेकिन पुलिस का सारजंट मय सिपाहियों के टलकर बाहिर निकल आया। हरकात से मालूम होता था कि पुलिस पहले ही किसी बड़े मुदब्बर मोतमद रयासत की सिखलाई पढ़ाई हुई है। सारजंट साहिब ने साफ जवाब दिया कि जब कोई कतल होगा, तब उस वक्त हम दस्तन्दाज़ी करेंगे ..... क़रीब दो बजे पं० गिरधारी रुकन धर्मसभा खुदबखुद चला गया। अब लड़के वालों की यह कैफ़ीयत कि वह अकड़ गये।

लड़के के चचा को कुछ ऐसी शह मिली कि वह वैदिक रीति के विवाह से बिल्कुल इन्कारी होगया, और बहाना किया कि बिना हज्जाम हम हरगिज़ न जायंगे यह अमर भी काबिल बयान है कि मुख़ालफीन के धमकाने पर नाई भीवर व दीगर लागी पं० कृपाराम से किनाराकशी कर गये थे। पं० कृपाराम खुद बुलाने गये लेकिन लड़के के चचा ने नौग्रह की पूजा पर इसरार किया। पंडित साहिब ने धर्म पर सच्ची कुर्बानी करके कहा कि अगर नौ ग्रहों की पूजा पर आपको इसरार है तो मैं हरगिज़ शादी न करूंगा। यह तो मामूली बयान है लेकिन पं० कृपाराम की शान्ति और कुर्बानी का वह अन्दाज़ा लगा सकते हैं जिन्होंने उनको गिरधारी की गालियों का सहज स्वभाव से जवाब देते और बावजूद अपनी माता और बहिन की आहोज़ारी के अपनी प्रतिज्ञा को पालन करने में दृढ़ देखा है। उस समय ठीक नज़ारा एक सच्चे आर्य की ज़िन्दगी का दिखलाई देता था। जब ५ बजने का वक्त हुआ आर्य भाई लाचार वापिस आये। दिन चढ़ने पर कुछ और ही गुल खिला हुआ था। लड़केवाले चलने के लिए तैयार और शहरवाले उन्हें रोकने पर आमादा। लेकिन फिर भी पं० कृपाराम ने हिम्मत को नहीं छोड़ा। कुल ज़ेवर उनके रवाना कर दिये। तब तो शहर के बाम्हन और खत्रियों ने आनकर ज़बर्दस्ती पं० कृपाराम के मकान पर अपना दखल कर लिया। सच है, जब घर ही में फूट हो जावे, तो इन्सान क्या कर सकता है? पंडित कृपाराम जी की वाल्दा और बहिन मुख़ालफीन को बुलाकर उनके दूसरे भाई के ज़रिये से शादी कराने पर मुस्तैद होगई। लेकिन पं० कृपाराम जी ने अपने हाथ से न नौग्रह पूजन आदि किया न कन्यादान किया। अपने सत्य को कायम रखा दर्म्यान विवाह कृत्य के एक और ऐसा वाक़या हुआ जिसने ज़ाहिर कर दिया कि सत का बीज जहां बोया जाय ज़रूर असर पैदा करता है। यानी पं० कृपाराम जी की पुत्री ने जिसका विवाह होरहा था नौग्रह की पूजा से साफ़ इन्कार कर दिया। पं० कृपाराम जी को तो अलहिदा कर दिया था, लेकिन अब बिरादरी की अक्ल भी चक्कर में आगई। अगर लड़की को अलहदा कर देते तो विवाह किसके साथ होता? लाचार पंडितों ने यह फतवा दिया कि अगर लड़की नौग्रह पूजन न भी करे तो कोई हर्ज नहीं है। इसके बाद कुल कारवाई बाक़ायदा होती रही। बिरादरी ने हज़ार तरह धोखों से पं० कृपाराम जी को इस कारवाई में शरीक करना चाहा, लेकिन उन्होंने अपने कौल से इनहराफ न किया, किसी काम में शरीक न हुए।"

इस उदाहरण से कई बातें विदित होती हैं। उस समय के आर्य पुरुषों में धर्म का खूब उत्साह था। बिरादरियों ने व्यक्तियों की धार्मिक स्वतन्त्रता को छीनने का उद्योग आरम्भ कर दिया था। आर्यसमाज के विरोधी ओछे हथियारों पर उतर आये थे। इस उदाहरण से उस समय के धार्मिकपत्रों की लेखशैली का भी काफी परिचय मिलता है।

५- समाचार पत्र

आर्यसमाज के कार्य के लिये जो उत्साह उत्पन्न हो रहा था, वह लेखद्वारा भी प्रकट होने लगा। इस समय में कई समाचारपत्र भी निकले, जिन में से दो की चर्चा आवश्यक है। १८८९ के अप्रैल मास के अन्त में जालन्धर से सद्धर्म प्रचारक नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकला। यह पत्र ला० मुन्शीराम जिज्ञासु और ला० देवराज जी के सम्पादकत्व में आरम्भ हुआ था, परन्तु पीछे से अकेले ला० मुन्शी रामजी के हाथ में ही सम्पादन का कार्य रह गया। यह पत्र एक नये उत्साह के साथ आरम्भ हुआ था, और आर्यसमाज में एक नये भाव का संचारक था। प्रचारक के उद्देश्यों विशेषताओं और लेखशैली को समझने के लिये किसी एक अंक को देख जाना पर्याप्त है। दूसरे सप्ताह जो अंक प्रकाशित हुआ उस पर दृष्टिपात करने से पत्र का जीवनचरित्र समझा जा सकेगा। चौथे पृष्ठ पर 'अधूरा इन्साफ़' शीर्षक देकर जो मुख्य लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें स्त्री शिक्षा का ज़ोरदार समर्थन है। सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि पुरुषों और स्त्रियों के अधिकार समान हैं। दूसरे पृष्ठ पर 'एडिटोरियल' नोट हैं, एक नोट में आर्यसमाज मुलतान छावनी के पुरुषार्थी आर्यपुरुषों को सलाह दी गई है कि वह समाज की ओर से जुदा पाठशाला खोलने की जगह डी० ए० वी० कालिज की ही विशेष सहायता करें तो उत्तम है। दूसरे नोट में दौलत की बुराइयों का बखान किया गया है। उस नोट के अन्तिम वाक्य निम्नलिखित हैं।

'पुरुषार्थ के साथ, पक्की इच्छा के साथ निर्धन से निर्धन लोगों ने अपना कर्तव्य सिद्ध कर लिया है। और जहां दौलत काम न कर सकती थी, उनके पुरुषार्थ ने काम किया।"

एक और नोट लीजिये:—

'साहूकार हर रोज़ बही खाते की जांच पड़ताल करके नफ़ा और नुकसान आमदनी खर्च मालूम करता है। इस नियम का वह कैसा पक्का है। बही खातों की पड़ताल उसके लिये सब बातों से जरूरी है इस लिये हर शाम को वह गिना करता है। तुम भी प्यारे भाइयो! अपनी ज़िन्दगी के रोज़नामचे की पड़ताल किया करो। देखो कि नफ़े और नुक़सान का क्या मीज़ान है। पुण्य ज्यादा है या पाप? यह पड़ातल अज़हद ज़रूरी है।"

किसी एक वीर पुरुष के जीवन चरित का कुछ भाग प्रतिसप्ताह दिया जाता था

प्रारम्भ में वीर हकीकतराय का चरित्र छपना आरम्भ हुआ। जो आर्यसमाजिक पत्र विधर्मियों की बहुत कड़ी भाषा में आलोचना करते थे, उन्हें सद्धर्म प्रचारक चेतावनी देता रहता था। आर्यगज़ट की लेखशैलीपर प्रचारक के सम्पादकीय स्तम्भों में कई वार असन्तोष प्रकट किया गया। आर्यसमाज के उन अधिकारियों पर, जो धनी तो हैं परन्तु आचारहीन हैं, यह पत्र पहिले से खड्गहस्त रहता था। कड़वे सत्य को स्पष्ट शब्दों में कहना प्रचारक के सम्पादकीय लेखों की पहिले दिन से विशेषता थी। यह पत्र पंजाब के आर्यसमाजों में एक नई स्फूर्ति पैदा करने का कारण बना।

१८८९ ई० के जुलाई मास में लाहौर से वैदिक मेगज़ीन नाम का मासिकपत्र निकला। इसके सम्पादक पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम. ए० थे। पं० गुरुदत्तजी अंग्रेजी के उद्भट लेखक होने के अतिरिक्त सायंस के बड़े प्रसिद्ध विद्वान् थे। वह इन दिनों गवर्मैन्ट कालिज में विज्ञान के प्रोफेसर थे। आपका संस्कृत के स्वाध्याय का शौक मर्ज़ की सीमा तक पहुंच गया था। अष्टाध्यायी और निरुक्त की सहायता से वेदार्थ के जानने का यत्न न केवल स्वयं आपने ही किया, दूसरों को भी कराया। आपने संस्कृत व्याकरण का अध्ययन श्री स्वामी अच्युतानन्दजी से किया। स्वामी जी अपने शिष्य के शिष्य बन गये। आप कट्टर अद्वैतवादी थे। व्याकरण के शिष्य बनकर पं० गुरुदत्तजी आपके धर्मगुरु बने। पंडितजी की प्रतिभा अपना प्रभाव उत्पन्न किये बिना न रही।

वैदिक मेगज़ीन के लेख गम्भीर और योग्यतापूर्ण होते थे। अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों में वह बड़े सम्मानपूर्वक पढ़ी जाती थी। आपकी की हुई वेदमन्त्रों की विशद व्याख्या को पढ़कर ग्रिफिथ या मोनियर विलियम के अनुवादों से बिगड़े हुए दिमाग सीधे रास्ते पर आ जाते थे। नई रोशनी से प्रभावित हिन्दू नौजवान आश्चर्य से पूछते थे कि क्या सचमुच वेदों में ऐसे रत्न गरे हुए हैं। सामयिक बातों की ओर वैदिक मेगज़ीन की दृष्टि नहीं पड़ती थी। आम तौर पर स्वाध्याय के दिनों में पं० गुरुदत्तजी अखबारों का पढ़ना तक छोड़ देते थे। वैदिक मेगज़ीन ने पंजाब के शिक्षित समाज में एक ऐसी विचारक्रान्ति आरम्भ की थी कि यदि वह २५ वर्ष तक जारी रहती तो प्रान्त का कायापलट हो जाता। इसी समय कई अन्य समाचार पत्र भी निकले और आर्यसमाज की सेवा में तत्पर हुए। पंजाब के भारत सुधार का नाम विशेषतया उल्लेख योग्य है। इस पत्र की चर्चा अगले प्रामग में अधिक विस्तार से की जायगी। १८८९ ई० के जुलाई मास अजमेर से वैदिक विजय नाम का पत्र निकला। यह पत्र भी अन्यधर्मों की बहुत कड़ी आलोचना करता था।

छठा परिच्छेद

पंजाब में मतभेद के अंकुर

१. जन्मदाताओं में मतभेद

डी० ए० वी० कालेज के जन्मदाताओं में दो तरह के विचारोंवाले व्यक्ति थे। दूसरे परिच्छेद में संक्षेप से उनकी चर्चा हो चुकी है। यहां पंजाब के आर्य जगत् में फूट पैदा होने के कारणों पर प्रकाश डालने के लिए कुछ विस्तार से चर्चा करते हैं। कालिज की जो प्रारम्भिक स्कीम आर्य जनता के सामने रखी गई थी, उसमें डी०ए०वी० कालिज के दो उद्देश्य बतलाये गये थे। पहला उद्देश्य प्राचीन आर्य विद्या का उद्धार और दूसरा उद्देश्य उत्तम रीति से जातीय शिक्षा को देना था। संस्थापकों का लक्ष्य यह था कि जहां एक ओर वेदों की शिक्षा का प्रबन्ध हो वहां दूसरी ओर आर्यसमाज प्रचलित शिक्षा की दौड़ में ईसाइयों से बाज़ी मार जाय। नाम भी इसी आधार पर रखा गया था। ऐंग्लो शब्द प्रचलित शिक्षा की सूचना देता था और 'वैदिक' शब्द आर्य सभ्यता के उद्धार का सूचक था। इन दोनों का मिश्रण डी० ए० वी० कालिज का उद्देश्य था। डी० ए० वी० कालिज के संस्थापक ऋषि दयानन्द के नाम पर पूर्व और पश्चिम को मिला देना चाहते थे।

कालिज के प्रथम संचालकों में दो नाम विशेष महत्व रखते हैं। पं० गुरुदत्त एम० ए० कालिज के दिमाग़ी गुरु थे, तो ला० लालचन्द्र एम०ए० उसके शारीरिक पिता थे। गुरु ने कालिज के ख़्याल को जन्म दिया और ला० लालचन्द्र ने कालिज के शरीर को पैदा किया। इन दोनों महान् आर्य पुरुषों का नाम कालिज की विख्यात संस्था के साथ बंधा हुआ है। जब आप इन दोनों के विचारों का अनुशीलन करेंगे, तब आप को मालूम होगा कि जहां पं० गुरुदत्त एम० ए० अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके भी 'वैदिक' के प्रतिनिधि थे, वहां ला० लालचन्द्र एम० ए० वेदों पर विश्वास और ऋषि दयानन्द में श्रद्धा रखते हुए भी 'ऐंग्लो' के प्रतिनिधि थे। दोनों के मेल का नाम 'ऐंग्लोवैदिक' रखा गया था। दोनों के दृष्टिकोण में थोड़ा २ भेद था। पं० गुरुदत्त अंग्रेज़ी शिक्षा को वैदिक शिक्षा का परिशिष्ट बनाना चाहते थे और ला० लालचन्द्र एम० ए० वैदिक शिक्षा को प्रचलित शिक्षा का पोषक बनाने में ही जाति का भला समझते थे।

प्रारम्भ से ही ला० लालचन्द्र एम० ए० कालिज कमेटी के प्रधान ओहदेदार थे, इस कारण कागज़ात में शिक्षा का राष्ट्रीय रूप ही मुख्य रखा जाता था। दूसरी ओर पं० गुरुदत्त एम० ए० प्रारम्भ से ही आर्य जनता के सामने डी० ए० वी० कालिज की विकालत करते थे, इस कारण व्याख्यानों और वार्षिकोत्सवों की अपीलों में 'वैदिक' भाग पर ही अधिक बल दिया जाता था। दोनों ही नेताओं के विचारों में जो थोड़ा २ भेद था, वह प्रारम्भ में शायद उन्हें भी विदित नहीं था। कालिज के कार्यकर्ता भी दो हिस्सों में बंटे हुए थे। अधिकतया अंग्रेज़ी शिक्षा में दीक्षित या वकील लोगों का झुकाव ला० लालचन्द्र की ओर था और ऋषि के भक्त साधारण आर्य पुरुषों का झुकाव पं० गुरुदत्त की ओर था। प्रांत की अंग्रेज़ी शिक्षा का केन्द्र होने के कारण लाहौर का प्रभावशाली मत ला० लालचन्द्र के साथ सहमत था और प्रांत के अन्य आर्य समाजों में पं० गुरुदत्त से सहमति रखनेवाले अधिक थे। स्पष्ट रूप में नहीं, परन्तु किसी न किसी रूप में कालिज के उद्देश्यों के सम्बन्ध में मतभेद प्रारम्भ से ही था। पूर्व और पश्चिम के मिश्रण में एक पूर्व की मात्रा अधिक डालना चाहता था तो दूसरा पश्चिम की।

डी० ए० वी० कालिज के संकल्प के साथ ही मानो किसी ने छींक दिया था। प्रारम्भ से ही मतभेद दिखाई देने लगा था। आरम्भ में हम यह शिकायत सुनते हैं कि परोपकारिणी से पूछे बिना ऋषि का स्मारक लाहौर में क्यों खोला गया? यह शिकायत संयुक्त प्रांत और राजपूताने की ओर से सुनाई दी परन्तु कालिज का विचार लोगों के दिलों में घर कर गया और विरोधी की आवाज़ दब गई।

शीघ्र ही संगीत में एक दूसरी बेसुरी तान सुनाई देने लगी। डी० ए० वी० हाई स्कूल की स्थापना से कुछ दिन पीछे ही कलकत्ते के आर्यावर्त में यह शिकायत छपी कि स्कूल में संस्कृत पर काफ़ी ध्यान नहीं दिया जाता। * आर्य पत्रिका आर्यसमाज लाहौर की मुखपत्रिका थी, उसने आर्यावर्त में किए गये आक्षेप का उत्तर देने की चेष्टा की। उत्तर यह था कि भारत भर में एक डी० ए० वी० स्कूल ही ऐसी संस्था है जिसमें अंग्रेज़ी के साथ ही संस्कृत को भी आवश्यक बनाया गया है। + आर्य पत्रिका में आर्यावर्त के सम्पादक को बहुत सी शिक्षा दी गई है कि तहकीकात किये बिना ऐसे आक्षेपों का छापना अच्छा नहीं है।

परन्तु प्रतीत होता है कि कई आर्य पुरुषों का आर्यपत्रिका से समाधान नहीं हुआ, प्रतीत होता है कि असन्तोष का भाव अन्दर ही अन्दर बढ़ता रहा। १७ अगस्त

---

* १५ फरवरी १८८७ के अंक में

+ Vos II no. 37

१८८९ के सद्धर्म प्रचारक में स्यालकोट के सीतलदास जी का एक पत्र छपा है, उसका कुछ भाग हम यहां उद्धृत करते हैं ।

"क्या दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज सचमुच दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज है या दयानन्द वर्नेक्युलर कालिज है ? ।

(१) क्या यह संस्कृत विद्या की उन्नति और वेदविद्या के प्रचार की ग़र्ज़ से खोला गया था या इल्म अंग्रेजी या फार्सी की उन्नति को ग़र्ज़ से ?" इत्यादि ।

इसी ढंग के दो और प्रश्न हैं । आशय दो प्रश्नों से ही प्रकट हो सकता है । डी. ए. वी. स्कूल में संस्कृत की शिक्षा के अभाव को बहुत से आर्य पुरुष महसूस करने लगे । समझा जाता था कि पं० गुरुदत्तजी उन असन्तुष्ट आर्य पुरुषों के अगुआ थे । लाहौर आर्य समाज के कुछ सभासद् भी पंडित जी से सहमत थे । मा० दुर्गाप्रसाद, ला० जीवनदास, ला० केदारनाथ थापर और ला० खुशीराम के नाम उनमें से विशेषतया स्मरणीय हैं । अन्य आर्यसमाजों में भी असन्तुष्ट मण्डली पैदा होरही थी । गुजरखां के ला० रलाराम शीघ्र ही इस बहस में पड़कर अपनी विवादशक्ति का सिक्का जमाने वाले थे । जालन्धर के ला० मुन्शीराम जी पं० गुरुदत्त जी के कट्टर अनुयायी समझे जाते थे ।

यह असन्तोष का भाव धीरे २ स्थूल रूप में आने लगा । १२ जून के सद्धर्मप्रचारक में अमृतसर आर्यसमाज के प्रधान पं० धर्मचन्द्र जी का एक पत्र छपा है । उस का कुछ भाग हम यहां उद्धृत करते हैं—

"प्रतिनिधि सभा पंजाब और मैनेजिंग कमेटी दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज और आर्यसमाज लाहौर और सर्वत्र आर्यसमाजों और आर्य सभासदों और सब सत्य विद्या के प्रचारकों और वैदिक धर्म के सहायकों तथा देशहितैषियों की सेवा में विनय पूर्वक प्रार्थना है कि—

(१) जब से धर्मरक्षक मैनेजिंग कमेटी के धार्मिक उत्साह से दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज लाहौर जारी हुआ है, तबसे उसका नतीजा काबिल शुकर गुजारी ख़ास वो आम के प्रकाशित होरहा है ।

(२) अब इस वक्त निहायत जरूरत इस अमर की मालूम होती है कि प्राचीन ऋषि कृत ग्रन्थ वेदांग का पठन पाठन जारी होना चाहिये, और आम तालबइल्मों में इस किस्म की तालीम जारी होनी मुमकिन नहीं, उनके लिये बिलफेल इस कदर काफ़ी है कि वैदिकधर्म के उपदेश सुनाये जावें, और वेदोक्त नित्यकर्म यानी सन्ध्या उपासना

आदि पुस्तक पढ़ाये जावें।...............इस लिए मुनासिब मालूम होता है कि चन्दकस सन्यासियों के वास्ते एक शाख़ दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज की वेदांग और प्राचीन ऋषि कृत ग्रन्थ पढ़ाने के वास्ते खाली जावे।"

यह प्रस्ताव यद्यपि बहुत मीठी भाषा में किया गया था तो भी इसका अभिप्राय स्पष्ट था। इसका अभिप्राय यह था कि पंजाब की आर्य समाजों का एक हिस्सा यह अनुभव कर रहा था कि डी. ए. वी. कालिज बन जाने पर भी संस्कृत की शिक्षा का ठीक प्रबन्ध नहीं हुआ। यदि कालिज से वैसा प्रबन्ध नहीं हो सके तो किसी दूसरी तरह से करना चाहिए।

३. दूसरा पक्ष

दूसरी तरफ कालिज के संचालकों का एक बड़ा भाग समझता था कि डी. ए. वी. कालिज कमेटी पर जो आक्षेप हो रहे हैं, वह निर्मूल हैं, विद्यमान अवस्थाओं में कमेटी जो कुछ कर रही है, वह कम नहीं है। आर्य गज़ट में आक्षेपों के समाधान करने का यत्न किया जाता था। दूसरे पक्ष को स्पष्टता से जानने के लिए हम ला० लाजपतराय जी के एक ट्रैक्ट से कुछ उद्धरण देते हैं। लालाजी उस समय कालिज के योद्धा थे। ला० लालचन्द्र कालिज कमेटी के दिमाग़ थे, ला० हंसराज हृदय थे, और ला० लाजपतराय बाहु थे। पं० गुरुदत्त जी कालिज कमेटी में आत्मा के वह शब्द थे जो कभी २ अपनी हालत पर असन्तोष प्रकट किया करते हैं, कालिज पर जो आक्षेप होते थे, उन्हें वाणी और लेखनी द्वारा धोना लालाजी का कार्य था। युगपरिवर्तन होजाने पर, बहुत साल पीछे, १९२१ में लालाजी ने एक ट्रैक्ट में लिखा था कि "बहस मुबाहिसे का गन्दा काम बहुत हद तक मेरे सुपुर्द था" उस समय की बहस में लालाजी ने बहुत कुछ लिखा और बोला था। संस्कृत की शिक्षा के सम्बन्ध में कालिज कमेटी के पक्ष को विस्तार से रखने के लिये हम ला० लाजपतरायजी की "दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज में तालीम संस्कृत पर एक मुख्तसिर तारीखी नज़र" नाम की पुस्तिका का आश्रय लेते हैं। उस पुस्तिका में लालाजी ने कालिज पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया था। उत्तर इस समय से ३ वर्ष पीछे लिखा गया था, परन्तु वह इस समय भी लागू होता है, इसलिये उसीका आश्रय लेना उचित है। हम यहां लालाजी के कुछ प्रारम्भिक वाक्या उदधृत करते हैं:—

"............अब यहां पर यह सवाल पैदा होता है कि स्वामीजी की यादगार में ऐंग्लो वैदिक कालिज खोलने की तजबीज़ क्यों मंजूर हुई? क्यों नहीं पहले ही से एक वैदिक खोलने की तजबीज़ मंजूर हुई? उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) सब कुछ महज़

संस्कृत के तुफैल हासिल किया था, उनकी फाज़लाना तहरीरों और तकरीरों से ज़ाहिर हो चुका था कि संस्कृत के ज़खीरों में किसी क़िस्म की विद्या की कमी नहीं है, फ़क़त दर्याफ्त और मेहनत की कमी है। फिर बावजूद इस वाक़फीयत के उनकी यादगार को ऐंग्लो वैदिक कालिज के नाम से क्यों नामज़द किया गया? इसकी वजूहात साफ़ थीं? अव्वल यह कि स्वामीजी की मन्शा को उन लोगों ने ही पहिचाना था जिनकी आंखें अंग्रेज़ी तालीम की रोशनी ने खोल दी थीं। संस्कृत के बहुत से फ़ाजिल मुल्क में मौजूद थे, मगर बहुत कम ने स्वामीजी के फ़तवे की क़दर की, और न कोई उनका मोतक़िद हुआ, बल्कि उन लोगों के हाथ से उनको यह दिक्कतें और मुख़ालिफ़त उठानी पड़ी जो हिन्दुस्तान की मज़हबी तारीख़ में अपने आप ही यादगार रहेंगी।

दोयम—स्वामीजी के पैरों को यह मालूम था, कि स्वामीजी ख़ुद अपनी उन कोशिशों को अफ़सोस की निगाह से देखा करते थे, जो उन्होंने महज़ संस्कृत की तालीम के लिये फ़र्रुख़ाबाद व मथुरा वग़ैरा मुक़ामात में करके नाकामयाबी हासिल की बल्कि श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती को भी अपनी उमर में एकही शागिर्द ऐसा लायक मिला जो उनके दिली मन्शा को समझकर प्रकाश कर सके और इलावा अज़ीं समाज के सरबर आवुर्दा समझदार अरकान का यक़ीन था कि स्वामीजी के तरीक़ पर पूरा विद्या हासिल करने के लिये वैसे ही उस्ताद की ज़रूरत है जो मुल्क में नापैद है, इसलिये अगर कभी हिन्दुस्तान को वैदिक संस्कृत के हसूल में कामयाबी होसकती है, तो इस तरह से होसकती है कि वेद विद्या के शायक अव्वल अंग्रेज़ी अलूम में अपने विभाग को वेद के गहरे और गूढ़े अर्थ समझने के लिये तय्यार करें, और फिर ऐसे तय्यार शुदा लोगों में से बाज़ के वेदों का अर्थ समझने का इमकान होसकता है।"

इस लम्बे उद्धरण के लिये हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं, परन्तु कालिज कमेटी के पक्ष को स्पष्ट करने के लिये इतना स्थान देना आवश्यक था। कालिज कमेटी के सदस्य मानते थे कि वही तालीम कामयाब होसकेगी, जिसकी दीवारें अंग्रेज़ी शिक्षा की नींव पर खड़ी की जायंगी, क्योंकि विचारों में उदारता आये बिना शिक्षा अधूरी है। कमेटी की शिक्षाप्रणाली में शिक्षासुधार का काफ़ी हिस्सा था, जिसके बारे में यह भी कहा जाता था कि कमेटी तालीम को "कौमी" बनाना चाहती है।

इस 'असूली' मतभेद के कारण कालिज कमेटी में और बाहिर भी आर्य पुरुषों में संघर्ष आरम्भ होगया। कमेटी के नेता ला० लालचन्द एम० ए० और असन्तुष्ट मंडली के नेता पं० गुरुदत्त एम० ए० समझे जाते थे। असन्तुष्ट मण्डली का यत्न रहता था कि किसी न किसी तरह अष्टाध्यायी वेदांगप्रकाश और महाभाष्य को स्कूल या कालिज की पाठविधि में रखाया जाय। दूसरी ओर से यथासम्भव यत्न होता था कि अभी सा-

मान्य संस्कृत और हिन्दी पर ही सन्तोष किया जाय। कमेटी के सामने सरकारी शिक्षा विभाग की आवश्यकतायें भी विद्यमान थी। एक ओर कल्पना-रमणीय आदर्श की धुन थी, दूसरी ओर लौकिक व्यवहार बुद्धि का राज्य था। दोनों में संघर्ष का पैदा होना स्वाभाविक था।

कालिज कमेटी ने अपने पक्ष को लेख और वाणी द्वारा पुष्ट करने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। असन्तुष्ट मण्डली ने भी मौन धारण नहीं किया, परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि प० गुरुदत्तजी के जीतेजी मतभेद ने बहुत उग्ररूप धारण नहीं किया। कालिज के प्रति पंडितजी का प्रेम 'पितृ प्रेम' के समान था, असन्तोष होते हुए भी समाजो में डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील करने का काम पंडितजी के सुपुर्द ही था। हा, पिछले दिनो वह कालिज के लिये अपील कर देते थे, परन्तु कालिज का नाम नहीं लेते थे।

बहुतसा आन्दोलन होने पर १८९० के आरम्भ में मिडल क्लास में अष्टाध्यायी की पढ़ाई आवश्यक कर दीगई।

४. सिंहावलोकन।

हमने कालिज में संस्कृत-शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न पर दोनों पक्ष रख दिये हैं। एक इतिहासलेखक का यह काम नहीं है कि वह ठीक और बेठीक का फैसला करे। उसका काम यथा सम्भव दोनो के यथार्थ बयानों को सामने रख देना है। उस समय दोनों पक्षो ने कौन २ सी भूल की, उस पर भी लेखक अपनी राय नहीं देना चाहता। उस समय के सम्मति-संग्राम के एक मुख्य नायक ला० लाजपतराय ने ३१ साल पीछे जो सिंहावलोकन प्रकाशित किया था, उसके कुछ भाग को उद्धृत करके ही लेखक सन्तोष करेगा। लालाजी ने अपनी "स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज की मौजूदा हालत" नाम की पुस्तिका में आर्यसमाज और डी० ए० वी० कालिज के सम्बन्ध में सिंहावलोकन करते हुए लिखा है:—

"कालिज के बानी यह उम्मेद करते थे कि चन्द सालों में सूबे में हिन्दी का रिवाज आम हो जावेगा, और कालिज की मैनेजिंग कमेटी व कालिज का दफ्तर हिन्दी ज़बान में हो जावेगा। आर्यसमाज में उस वक्त भी अंग्रेज़ी तालीमयाफ्ता लोगो की कसरत थी। आर्यसमाज को पंजाब में सरकारी मुलाज़िमों व वकीलों के ज़रिये फरोग़ मिला। इन लोगों के दिलो दिमाग़ अंग्रेज़ी से भरे हुए थे, और वह इस कदर लियाकत न रखते थे, कि वह दूर अन्देशी से सोच सकें। वह सब अपने कौम के लिये आज़ादी

चाहते थे, उनके दिल में हुब्बुलवतनी का जज़बा जोश मारता था, वह दुरुस्त तौर पर यह समझते थे कि इस हुब्बुल वतनी के जज़बे को बढ़ाने के लिये अंग्रेज़ी तालीम की ज़रूरत है।"...............'ग़र्ज़ बालियाने कालिज कौमियत के नशे में सरशार थे, और उनके दिल में कौमियत के वह तमाम जज़बात जोशज़न थे, जो इस वक्त कौम में तवज्जह पा रहे हैं। मगर सारी स्कीम की कमज़ोरी इसमें थी कि कालिज का नाम ऐंग्लो वैदिक रखा गया, और ऐंग्लो को वैदिक पर तरजीह दी गई, जिस कमज़ोरी ने बानियान को 'ऐंग्लो वैदिक' बनने के लिये मजबूर किया। इसी कमज़ोरी ने कालिज की तमाम कौमी खसूसीयतों को 'मस्लिहत वक्त' के मातहत कर दिया। हत्ता कि सरकारी व मिशन कालिजों में और दयानन्द कालिज में बहुत थोड़ा फ़र्क रह गया। हमारा दिमाग़ हमेशा 'ऐंग्लो' को "वैदिक" पर तरजीह देता रहा। यहाँ तक कि जब मरहूम पं० गुरुदत्त ने और मौजूदा महात्मा पार्टी के लीडरों ने यह सवाल उठाया, तो मैंने ज़ोर शोर से उसकी मुखालिफ़त की। जो जो अमली तजावीज़ उन्होंने पेश कीं, वह अब तक मुझको नाकाबिले अमल मालूम होती हैं। बदकिस्मती से उस वक्त तालीमी मामलात में न उनको काफ़ी तजर्बा था और न हमको। वह धार्मिक नुक्ता ख्याल को सामने रखते थे, और हम कौमी नुक्ता ख्याल को। वह हमसे इसलिये बदज़न थे कि उनको हमारे अन्दर धर्म की रेखा दिखाई न देती थी। वह समझते थे कि हम सरासर पुलिटिकल इग़राज़ के लिये काम कर रहे हैं, हम समझते थे कि यह लोग कौमी नुक्त ए ख्याल की पर्वा नहीं करते।"...............

यह ऐसे आलोचक की राय है जो स्वयं उस मतभेद में मुखिया का काम कर रहा था। हम पाठविधिसम्बन्धी मतभेद के किस्से को इसी राय पर समाप्त कर देते हैं।

४. मतभेद के अन्य कारण

पं० गुरुदत्त जी के जीवनकाल में मतभेद और अधिक नहीं बढ़ने पाया। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि कालिज कमेटी के अधिकारियों को पण्डित जी का बहुत लिहाज़ था। अन्दर २ असन्तोष की ज्वाला सुलग रही थी, परन्तु एक महान् व्यक्ति के प्रभाव ने उसे भड़कने से रोक रखा था। आगे चलकर हम देखेंगे, कि फूट के कई कारण बन गये। पाठविधिसम्बन्धी मतभेद कई रूपों से प्रकाशित हुआ। इस समय उनकी छायामात्र दिखाई देती है। कालिज कमेटी के ओहदों का प्रश्न पाठविधि के झगड़े का परिणाम था। मांसभक्षणसम्बन्धी प्रश्न अभी गौणरूप में था। प्रतीत होता है कि आर्यसमाज के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता था कि 'मांस खाना वेद विरुद्ध है या नहीं?' १८८६ के अप्रैल मास में आर्यसमाज जालन्धर के अधिवेशन

में ला० मुन्शीराम जी ने मांस भक्षण के विरुद्ध व्याख्यान दिया था। १८८९ के नवम्बर मास में लाहौर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव हुआ। उस में इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि "मांस भोजन उचित है या नहीं? यदि नहीं तो क्यों?" इन दृष्टांतों से प्रतीत होता है कि मांस भक्षण के सम्बन्ध में आर्यसमाज में कुछ मतभेद चला आता था। पं० गुरुदत्त जी के जीवनकाल में वह मतभेद अधिक प्रचण्ड नहीं हुआ।

झगड़े का बीज डी. ए. वी कालिज की पाठविधि के मतभेद में बोया गया। देखने में वह छोटी सी बात थी, परन्तु जैसे ला० लाजपतराय जी की ऊपर दी गई राय से भी प्रतीत होता है, वह मतभेद दो प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों का परिणाम था। एक पक्ष में 'धार्मिक' भाव प्रबल था, और दूसरे में 'कौमी' भाव। एक की सम्मति थी कि 'आर्यसमाज एक विशुद्ध धार्मिक संस्था है' दूसरे की राय थी कि 'उसका उद्देश्य हिन्दू कौम को उठाना है' दो प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियां यदि दो दलों के रूप में परिणत होगईं तो कोई आश्चर्य नहीं। यह कहना कि इस समय के सम्पूर्ण झगड़े केवल ओहदों के लिये थे, ठीक नहीं है। वह लोग आर्यसमाज के कार्य में अग्रगन्ता थे। उन्होंने धर्म की ख़ातिर संसार पर लात मार दी थी। उनका सा स्वार्थत्याग आर्यसमाज की दूसरी सन्तति में नहीं पाया जाता। जो आदमी उस समय के मतभेद का अनुशीलन करता है, वह उसकी तह में एक धार्मिक जोश को उमड़ता हुआ पाता है। यह कहना तो कठिन है कि उस झगड़े में दोनों तरफ से सब काम धर्म की कसौटी पर कस कर ही किए गए—यह बात शायद किसी भी संस्था या आन्दोलन के बारे में न कहीं जा सके—परन्तु लेखक का यह विश्वास है, और उसने जितना ही उस समय के विवादात्मक साहित्य को पढ़ा है, उतना ही उसका विश्वास मज़बूत होगया है कि झगड़े की तह में ईमान्दार मतभेद था—केवल ओहदों की अभिलाषा और हठ नहीं।

सातवां परिच्छेद

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी (१)

१८६४—१८८२

१—जीवन का महत्व

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का जीवन आर्यसमाज के इतिहास का एक परिच्छेद है। उसे हम केवल एक घटना समझकर आगे नहीं जा सकते। हम उस होनहार युवक के जीवन की उस चमकदार सितारे से उपमा दे सकते हैं, जो रात की अँधियारी में पैदा होकर अन्तरिक्ष को रौशन कर देता है, प्रजा समझने लगती है कि अन्धेरी रात का इलाज हो गया, पर शीघ्र ही मद्धम होने लगता है और जिस फुर्ती से आया था, उसी फुर्ती से विदा हो जाता है। जिन लोगों ने उस जीवन का अनुभव किया था, वह उसे आजतक नहीं भुला सके। कारण यह है कि वह सिद्धान्त—मय जीवन था। एक ध्येय और एक लक्ष्य के लिये उस जीवन की सत्ता थी। ऐसे जीवनों को सरसरी तौर पर देखकर नहीं छोड़ा जा सकता। व्यक्तिगत चरित्र के लिये इस इतिहास में हम सामान्यतया जितना स्थान दे सकते हैं, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन को उससे अधिक स्थान देना आवश्यक है। पं० गुरुदत्त का जीवन धर्म के विज्ञान में एक महत्व-पूर्ण पाठ है।

२—तय्यारी

पं० गुरुदत्त का जन्म २६ अप्रैल १८६४ ई० के दिन मुल्तान शहर में हुआ। आप के पिता का नाम रामकृष्ण था। ला० रामकृष्ण फ़ारसी के बड़े आलिम थे, और स्कूल में पढ़ाया करते थे। सूरत शकल में गुरुदत्त जी अपने पिता के फोटू थे। आप का बचपन का नाम 'मूला' था। कुछ बड़ा होने पर जब 'मूला' ने धर्मभक्ति और ज्ञानचर्चा की ओर प्रवृत्ति दिखाई तो उसे वैरागी कहकर पुकारा जाने लगा। १२ वर्ष की उमर में पण्डित जी अपने पिताके साथ हरिद्वार गये। वहां स्वामी राधेश्याम

ने 'बैरागी' का नाम 'गुरांदित्ता' रख दिया। स्वयं ज्ञानसम्पन्न होकर 'गुरांदित्ता' ने संशोधन करके अपना नाम 'गुरुदत्त' रखा। आप जन्म के 'अरोड़ा' थे। आपके पाण्डित्य ईश्वरप्रेम और प्रतिभा के चमत्कार को देखकर पीछे से आप के नाम के साथ 'पण्डित' का आदरसूचक शब्द लगाया जाने लगा। गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था की पहली जीत 'ला० गुरुदत्त' के 'पं० गुरुदत्त' बनने में हुई। आश्चर्य की बात यह है कि बाहिर की दुनिया ने इस जीत को स्वीकार कर लिया। योग्य व्यक्ति को योग्य आदर मिले तो किसी को भी क्षोभ नहीं होता। 'मणि' को 'मणि' कहलाने में परिश्रम नहीं करना पड़ता, हां यदि पत्थर को मणि कहना चाहें तो अवश्य ही भारी और उचित विरोध होगा। आज यदि निरक्षर भट्टाचार्य पण्डित बन जांय तो उससे गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था की स्थापना नहीं हो जायगी। जो पण्डित कहलाने के योग्य है, उसे इस ऊंची पदवी से विभूषित किया जाय तो सारा संसार 'तथास्तु' कहेगा, और वही वैदिक सिद्धान्त की असली जीत होगी। प० गुरुदत्त ने गुणों द्वारा ब्राह्मणवर्ण प्राप्त किया था, और कुछेक बिगड़े दिमागवालों को छोड़कर किसी ने भी उसका विरोध नहीं किया।

गुरुदत्त जी के पिता स्कूल मास्टर थे। उन्होंने अपने पुत्रको प्राइमरी तक की शिक्षा घर में ही दी। ८ वर्ष की उम्र में आप स्कूल में भर्ती हुये। आप ने मिडिल परीक्षा झांग से और मैट्रिक्युलेन परीक्षा मुल्तान से पास की। १८८१ में गुरुदत्त जी का स्कूल जीवन समाप्त हुआ। यह जीवन कई अंशों में चमत्कारमय था। इतनी विशेषतायें बिरले ही विद्यार्थियों में इकट्ठी होती हैं। पढ़ने में आप तेज़ थे। अध्यापक और इन्सपेक्टर इस होनहार युवक को देखकर आश्चर्यित होते थे। मास्टर लोग प्रश्नों के उत्तर देने में उलझ जाते थे। बड़ी श्रेणि के लड़के प्रतिभाशाली विद्यार्थी से सीखने आते थे। पढ़ने के साथ शारीरिक व्यायाम का कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु गुरुदत्त जी को विद्यार्थी अवस्था में कसरत का खूब शौक था। स्कूल से घर को आते हुये लम्बे से लम्बा रास्ता चुनते थे। सुशीलता की यह दशा थी कि लोग 'वैरागी' और 'गुरुजी' के नाम से पुकारते थे। धार्मिक जीवन की ओर गुरुदत्त जी की बचपन से ही प्रवृत्ति थी। योग की धुन में हरेक साधु की सेवा करते थे। एक बार बालक गुरुदत्त को नाक बन्द करके प्राणायाम करता देखकर माता नाराज़ हो गई, और बेटे को 'जोगियों' के रास्ते पर जाने से रोकना चाहा परन्तु जल और हृदय का प्रभाव नहीं रुका करता।

इसी जीवन में ऐसा भी समय आया जब गुरुदत्तजी नास्तिक समझे जाते थे। यह शिकायत अगले जीवन में भी कई बार सुनीगई, परन्तु लेखक ने जहांतक विचार किया

है, और पंडितजी की जीवनी का अनुशीलन किया है, वह इसी परिणाम पर पहुंचा है कि जीवन के २६ वर्षों में ऐसा कोई समय नहीं था, जब गुरुदत्तजी 'नास्तिक' या 'अविश्वासी' कहे जा सकें। सन्देह के समय अवश्य आये, परन्तु नास्तिकता का कोई समय नहीं आया। गुरुदत्तजी गहरे विश्वास के साथ उत्पन्न हुए थे। कभी २ उग्र प्रतिभा जमे हुए विश्वास से टकरा जाती थी, परन्तु शीघ्र ही विश्वास हावी होजाता था और वह टक्कर से पहले के विश्वास की अपेक्षा अधिक बलवान् होता था। कभी २ सन्देह के झकोरे आते थे पर वह जड़ को और अधिक मज़बूत बनाने के कारण बनते थे। विद्यार्थी दशा में कई झकोरे आये, परन्तु उनमें से विश्वासी आत्मा और भी अधिक विश्वासी होकर निकली। मुल्तान में एण्ट्रेंस की तय्यारी के समय गुरुदत्तजी के हृदय में वेद पढ़ने की धुन पैदा हुई, और २० जून १८८० के दिन आप आर्यसमाज की सभासदी का फार्म लेकर मन्त्रीजी के पास पहुंचे।

३. कालिज का जीवन (१)

१८८१ ई० के जनवरी मास में गुरुदत्तजी लाहौर के गवर्नमेंट कालिज में भर्ती हुए। मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में प्रान्तभर में आपका पांचवां नम्बर रहा था, परन्तु अब जो कालिज का जीवन आरम्भ होता है, वह उज्ज्वलता में अपना सानी नहीं रखता। इस जीवन में चमत्कारी युवक को कामयाबी पर कामयाबी हुई। जो प्रतिभा स्कूल के जीवन में अपने हाथ दिखा चुकी थी, वह कालिज में जाकर और भी अधिक खिल उठी। गुरुदत्तजी के विद्यार्थीजीवन के साथी और कई अंशों में उनके चेलों में से कुछेक नाम पंजाब के सार्वजनिक जीवन में ख्याति पाचुके हैं। ला० हंसराज, दीवान नरेन्द्रनाथ, ला० शिवनाथ असिस्टेन्ट इञ्जिनियर, ला० भगतराममुन्सिफ़, ला० चेतनानन्द वकील, प्रो० रुचिराम साहनी, और ला० लाजपतराय—यह सब लोग पंडितजी के केवल कालिज-मित्र ही न थे, वह उनके धार्मिक ऊहापोह के भी कई अंशों में साथी थे।

कालिज में जाकर प्रतिभाशील युवक को अपनी कुशाग्र बुद्धि का सिक्का जमाते देर न लगी। शीघ्र ही प्रोफेसरों तक ने मान लिया कि गुरुदत्त विद्यार्थी साधारणकोटि तथा साधारण नियमों से उपर है। प्रायः कालिज में वह पाठ के सुनने पर कम ही ध्यान देते थे, परन्तु प्रोफेसर बुरा नहीं मानते थे। घर का समय दो कामों में ख़र्च होता था। कालिज में जो विषय लिया था, उसे छोड़कर अन्य सब विषयों का अनुशीलन करने में, और धार्मिक विषयों पर बहस मुबाहिसा करने में। गुरुदत्तजी अनथक और समझदार पढ़नेवाले थे। कालिज का दूसरा वर्ष समाप्त होने से पूर्व आपका दिमाग़ पश्चिम के दर्शन और विज्ञान का ख़ासा स्टोर रूम बन गया था। जानस्टूआर्ट मिल में आपको

बहुत भक्ति थी, ब्रेडला की युक्तियां दिमाग में घुसकर विश्वास की जड़ों को हिलाने का यत्न कर रही थीं। डार्विन और बेन का आपने खूब पाठ किया, और बेन्थम के तत्त्वज्ञान को पसन्द किया। उस समय योरप का जलवायु हेतुवाद (Rationalism) के परमाणुओं से भरपूर हो रहा था। एक ओर से विकासवाद (Evolutiou Theory) और दूसरी ओर से अनीश्वरवाद (Agnosticsim) के बलवान् आक्रमण विश्वास (Faith) के किलों की ईंट से ईंट बजा रहे थे। सोचने वाली दुनिया जानस्टुआर्ट मिल स्पेन्सर और कूम्टे (Comte) के पीछे पागल होरही थी, और वैज्ञानिक जगत् को विज्ञान के चमत्कारों ने अविश्वासी बना दिया था। इंग्लैण्ड की रैशनलिस्ट माला की किताबें भारतवर्ष के नवशिक्षित युवकों के हृदयों पर बेतरह काबू पा रही थीं। इससे कुछ समय पूर्व ईसाइयत का ज़ोरदार आक्रमण हुआ था, वह अभी रुकने न पाया था कि यह नया अनीश्वरवाद रूपी हूणसेना का आक्रमण आरम्भ हो गया। गुरुदत्त जी को भी अपना हिस्सा लेना पड़ा। १८८१ और १८८२ के दो साल नास्तिकता के नहीं, संशय के साल हैं। जो लोग इन दो वर्षों को गुरुदत्त जी के जीवन में नास्तिकता के वर्ष कहते हैं, वह भूलते हैं। स्कूल जीवन में ही श्रद्धा का अङ्कुर जम चुका था। कालिज जीवन के पहले दो सालों में उस अ र की परीक्षा हो रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षा सख्त थी। अनवरत अध्ययन और तीव्र प्रतिभा ने संशय पैदा करने के साधनों को मदद दी, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अन्तिम विजय श्रद्धा की हुई। गुरुदत्त जी का अगला जीवन इसका साक्षी है। इन दो वर्षों में गुरुदत्त जी का संशय नास्तिकता की दहलीज़ तक शायद कभी पहुंच गया हो, परन्तु अन्दर नहीं घुसा, बाहिर से लौट आया।

१८८२ ई० के आरम्भ में गुरुदत्त जी ने एक फ्री डिबेटिंग क्लब की स्थापना की, जिसमें गम्भीर विषयों पर बहस हुआ करती थी, गुरुदत्त जी उसके मन्त्री थे, वह प्रायः विवाद में उल्टा पक्ष लिया करते थे। कोई धार्मिक या सामाजिक विषय विवाद की सीमा से नहीं छूट सकता था। हरेक विषय पर खूब ऊहापोह होता था। पं० गुरुदत्तजी के समकालिक नवयुवक विवाद से लाभ उठाते थे। क्लब के पुरज़ोश मेम्बरों में से एक ला० लाजपतरायजी भी थे। लालाजी ने पं० गुरुदत्तजी का जो जीवन चरित लिखा है उससे प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में पंडितजी हमेशा आर्यसमाज से विरुद्ध पक्ष लिया करते थे, परन्तु १८८२ ई० के अन्त में उन्होंने आर्य-सिद्धान्त की पुष्टि प्रारम्भ कर दी, जिसका कारण यह प्रतीत होता है कि पण्डितजी तो विषय के परिमार्जन के लिये विरोधी पक्ष लिया करते थे परन्तु नवयुवकों पर उसका उल्टा असर होता था। उनमें नास्तिकता का अंकुर उत्पन्न होता जाता था। भलाई के लिये किये गये यत्न से बुराई पैदा होते देखकर पं० गुरुदत्तजी ने अपनी कार्यनीति को बदल दिया। बदलने का परिणाम

भी चमत्कारी हुआ । नवयुवकों में आस्तिकता का प्रचार होने लगा । उस समय आस्तिकता को सबसे ज़बर्दस्त धक्का विज्ञान की ओर से लग रहा था । योरप वैज्ञानिक उन्नति के चकाचौंध से प्रभावित होकर ईश्वरविश्वास को छोड़ रहा था । डिबेटिंग क्लब में भी प्रारम्भ में सायंस ने विश्वास को दबा लिया परन्तु जब पं० गुरुदत्त ने विश्वास के समर्थन में हथियार पकड़े तब रौ पलटने लगा । पण्डित जी ने विज्ञान के बल से ही ईश्वर की सत्ता को समझाना आरम्भ किया । ला० लाजपतराय जी ने लिखा है कि वह उन्हीं दिनों से आर्यसमाजी बने ।

उन्हीं दिनों पं० गुरुदत्त जी ने अपने दो अन्य मित्रों के साथ मिलकर 'The Regenerator of Aryavart' नाम के अखबार को जारी किया । एक प्रेस के स्वामी ने यह कहकर युवक मित्रों को पत्रसम्पादन के लिये तय्यार कर लिया कि पत्र की बचत परोपकार के काम में लगायी जायगी, परन्तु कुछ समय पीछे मालूम होगया कि व्यापारी दिमाग़ के प्रेसाध्यक्ष ने युवकों की सादगी से फायदा उठाकर अपना उल्लू सीधा करने का यत्न किया था । तब पत्र के साथ पण्डित जी का या उनके मित्रों का कोई सम्बन्ध नहीं रहा ।

४· कालिज का जीवन (२)

१८८३ ई० के अक्तूबर मास में ऋषि दयानन्द की भयानक बीमारी का संवाद देश भर में फैल गया । भक्तों के हृदय कांप उठे । इस समय तक आर्य पुरुषों के लिये वैदिक धर्म का प्रतिनिधि यदि कोई था तो ऋषि दयानन्द । वही उनका आचार्य, वही उपदेशक और वही वकील था । आर्य पुरुषों को विश्वास था कि आदित्य ब्रह्मचारी यदि भीष्म पितामह के समान ४०० वर्ष तक नहीं तो कम से कम एक सौ वर्ष तक तो अवश्य ही जीवित रहेगा । मृत्यु और दयानन्द—इन दो शब्दों का आपस में कोई सम्बन्ध है, ऐसी भावना तो उनके दिलों में नहीं थी । अकस्मात् समाचार फैल गया कि अनहोनी की सम्भावना है । आदित्य ब्रह्मचारी को किसी ने ज़हर देकर ब्रह्महत्या लगाने की चेष्टा की है । ऋषि उस समय अधिक रोगी होकर अजमेर में आगये थे । लाहौर की आर्यसमाज की ओर से, दो प्रतिनिधि, ऋषि की दशा को देखने और सेवा करने के लिये रवाना करने का निश्चय हुआ । एक तो ला० जीवनदास जी चुने गये, और दूसरा चुनाव गुरुदत्त जी पर पड़ा । लौकिक दृष्टि से गुरुदत्त जी की बारी बहुत पीछे आती, क्योंकि उनकी आयु इस समय केवल १९ साल की थी, और कालिज के तीसरे वर्ष में शिक्षा पा रहे थे, परन्तु प्रतिभा और विश्वास ने उस नवयुवक को समाज में वृद्ध बना दिया था । समाज के सभासद् गुरुदत्त जी को छोटी उम्र का फिलासफर, और होनहार नवयुवक समझते और कहते थे ।

अजमेर में पहुंचकर पंजाब के दोनों प्रतिनिधि ऋषि की सेवा में लग गये। सेवा की आवश्यकता भी थी। ज़हर के असर से सारा शरीर फूट पड़ा था। जो डाक्टर इलाज करते थे वह आश्चर्यित थे कि इतने विकार के होते हुए यह पुरुष जीवित कैसे है ? फिर आश्चर्य यह था कि मुंह से 'उफ़' तक नहीं निकलती थी। पृथ्वी का धैर्य ब्रह्मचारी के धैर्य के सामने पानी भरता था। समुद्र की गम्भीरता संयमी की गम्भीरता के दशांश तक भी नहीं पहुंच सकती थी। इतना कष्ट और इतना धैर्य—जिसने भी देखा उसने दांतों तले उगली दबाई, और भक्ति का भाव प्रकट किया। गुरुदत्त ने भी उस आदित्य के सायं-काल को देखा। उसने देखा कि विश्वासी और अविश्वासी की दशा में कितना भेद है। जहां अविश्वासी, अन्धेरे में ख़तरे की कल्पना करके ही कांप उठता है, वहां विश्वासी, मृत्यु को सामने खड़ा देखकर भी विचलित नहीं होता और आनन्द में मग्न रहता है।

ऋषि के अन्त समय का दृश्य पाठक दूसरे खण्ड में देख आये हैं। उसे दोहराने की ज़रूरत नहीं है। गुरुदत्त जी ने उसे देखा। देखा तो बहुतों ने परन्तु जैसा उस जिज्ञासु युवक ने देखा वैसा शायद किसी की दृष्टि में भी न आया। जिज्ञासु ने उस मृत्यु में ब्रह्मचर्य के बल को, योग की महिमा को और ईश्वरविश्वास के गौरव को देखा। उसने देखा कि जिसे लोग वियोग कहते हैं वह एक विश्वासी आत्मा के लिये योग है; जिसे साधारण पुरुष सबसे बड़ा दुःख करते हैं उसे एक योगी प्रियप्राप्ति का आनन्द समझता है। उसने उस ब्रह्मचारी को मृत्यु के समय आदित्य से अधिक तेजस्वी पर्वत से अधिक मज़बूत और प्रभात से अधिक आनन्दित देखा। प्रतिभासम्पन्न उत्सुक आत्मा को जिस चीज़ की तलाश थी वह मिल गई। जो चीज़ न्यूटन और बेकनमें न मिली, जिसे डार्विन और स्पेन्सर में तलाश किया परन्तु न पाया, और हां, जिसे स-त्यार्थ-प्रकाश भी न दे सका, वह जिज्ञासु को इन शब्दों के सुनने से मिल गई—

"हे दयामय ! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। आहा, तैने अच्छी लीला की।"

एक ईश्वरविश्वासी पुरुष किस सन्तोष से मर सकता है, और मृत्यु में भी ईश्वर की महिमा को देख सकता है, इसका गुरुदत्त ने अनुभव किया। सुननेवालों ने कहा है कि ऋषि के मुंह से 'आहा' शब्द इस प्रकार से निकले जैसे किसी चिरवियुक्त प्रेमी को फिर से मिलने के समय निकलते हैं। गुरुदत्त जी के हृदय में यदि संशय का कोई लेश विद्यमान था, तो वह ऋषि के अन्तकाल को देखकर दूर होगया। सन्देह की मैल सच्चे विश्वास के जल से धुल गई। कहावत है कि ख़रबूज़ा ख़रबूज़े को देखकर रंग पकड़ता है। एक महान आत्मा के उज्वल विश्वास को देखकर दूसरी महान् आत्मा ने विश्वास का रंग पकड़ा। पं० गुरुदत्त एक पिपासु आत्मा बनकर लाहौर से चले थे और सच्चे विश्वासी आस्तिक होकर अजमेर से लौटे।

आठवां परिच्छेद

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी—(२)

१८८३—१८९०

१—शिक्षा की समाप्ति

गुरुदत्त जी आदर्श विद्यार्थी थे। इतिहास में यह नहीं लिखा कि कभी स्कूल या कालिज में अध्यापकों के साथ उनकी अनबन हुई हो। वह हमेशा गुरुजनों के लाड़ले ही रहे। बचपन से ही उनकी प्रतिभा अपनी प्रखरता का प्रमाण दे चुकी थी। तेज़ और प्रातिभासम्पन्न विद्यार्थी साधारणतया उद्धत और अविनीत हुआ करते हैं। परन्तु गुरुदत्तजी जितने अधिक प्रातिभा सम्पन्न थे, उतने ही अधिक विनीत थे, प्रतिभा और विनीतता की दुश्मनी मशहूर है, गुरुदत्तजी के हृदय में वह दोनों सहेलियां बन कर रहती थीं। आम तौर पर देखा जाता है कि जो विद्यार्थी पढ़ने में अच्छे हैं, वह शारीरिक व्यायाम की ओर कम ध्यान देते हैं। स्कूल जीवन के प्रारम्भ से ही हम गुरुदत्तजी को व्यायामशील पाते हैं। उन्हें घूमने भागने और दंड आदि की कसरत का खूब शौक था। जिन लोगों ने पं० गुरुदत्तजी को उस दशा में देखा है, जब वह वैदिक मेगज़ीन का सम्पादन करते थे, वह समझ ही नहीं सकते कि अपने विद्यार्थी जीवन में पंडितजी का शरीर कैसा गठीला और कसरती था। आप खेलों में बहुत रुचि रखते थे। इन दो विशेषताओं के साथ तीसरी विशेषता यह थी कि पण्डितजी कालिजजीवन का मुख्य भाग पढ़ने में नहीं बल्कि आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत करते थे। कालिज के तीसरी वर्ष में तो आप लाहौर आर्यसमाज के नेताओं में गिने जाने लगे थे। शीघ्र ही आपकी कीर्ति प्रान्त भर में फैलने लगी। बी० ए० पास होने से पूर्व ही पंडित गुरुदत्त जी पंजाब के आर्यसमाजों में मुखिया समझे जाने लगे थे।

प्रतिभा की महिमा इसे कहते हैं कि सार्वजनिक कार्यों में समय का बड़ा भाग व्यतीत करते हुए भी पंडितजी बी. ए. की परीक्षा में सारे पंजाब में प्रथम रहे। १८८५ में आप ग्रेजुवेट बने। जो गुरुजन गुरुदत्तजी को रातदिन आर्यसमाज के कार्यों में लगे देखकर घबराया करते थे, और डरते थे कि कहीं उनका लाड़ला विद्यार्थी

नाकामयाब न हो जाय, वह आश्चर्यित और प्रफुल्लित हो गये। बी. ए. हो जाने पर गुरुदत्तजी आर्यसमाज के कार्य में और अधिक लिप्त होने लगे। हरेक मामले में प्रतिभासम्पन्न नवयुवक की राय ली जाती। लाहौर आर्यसमाज के प्रधान ला० सांईदास जी के तो आप दायें हाथ बन रहे थे। उन दिनों डी. ए. वी. कालिज की पाठविधि और आर्यप्रतिनिधि सभा के नियमों का निर्माण हो रहा था, समय का अधिक भाग इन्हीं विवादग्रस्त विषयों के ऊहापोह में व्यतीत होता था। अध्यापकों और हितैषियों के हर्षमिश्रित आश्चर्य की सीमा न रही जब उन के गुरुदत्त ने १८८६ के आरम्भ में एम. ए. परीक्षा देने वालों में सब से अधिक नम्बर पाये। पंजाब यूनिवर्सिटी के इतिहास में उस समय यह अपनी तरह की पहली और अपूर्व घटना समझी गई। पं० गुरुदत्त की धाक प्रान्त भरपर बैठ गई।

२. डी० ए० वी० कालिज

अजमेर से दृढ़ आस्तिक बनकर गुरुदत्तजी जब लाहौर में आये तो आर्यपुरुषों से ऋषि की यादगार को स्थापित करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा ने किस प्रकार स्थूल रूप धारण किया यह इस पुस्तक के पृष्ठों में लिखा जा चुका है। पं० गुरुदत्तजी ने डी. ए. वी. कालिज की स्थापना के लिये कितना उद्योग किया, यह भी दिखाया जा चुका है। पंजाब की जनता डी. ए. वी. कालिज को पंडितजी के मुंह से ही सुनती थी। उत्सवों पर कालिज के लिये आप ही धन की अपील किया करते थे।

आपके व्याख्यानों की रिपोर्ट पढ़ने से मालूम होता है कि आप डी. ए. वी. कालिज को वैदिक और आर्ष शिक्षा देने का साधन बनाना चाहते थे। यहीं पर आपका कालिज के अन्य संचालकों के साथ मतभेद था। ला० लाजपतरायजी ने १९२१ में आर्यसमाज के सम्बन्ध में जो ट्रैक्ट लिखा था, उसमें बतलाया था कि प्रारम्भ से ही आर्यपुरुष दो हिस्सों में बंटे हुए थे। एक वह जो डी. ए. वी कालिज को धार्मिक दृष्टि से देखते थे, और दूसरे वह जो उसे राष्ट्रीय (कौमी) दृष्टि से देखते थे। धार्मिक दृष्टि से देखने वालों में पहला स्थन पं० गुरुदत्तजी का था।

यदि हम पंडित जी के डी. ए. वी. कालिज के साथ सम्बन्ध के इतिहास को से पढ़ें तो हमें वह तीन हिस्सों में बंटा हुआ दिखाई देगा। पहले हिस्से में हम उन्हें कालिज का ज़बरदस्त वकील, दूसरे में असन्तुष्ट समर्थक और तीसरे में प्रेमी समालोचक के रूप में देखते हैं। पहले और दूसरे हिस्सों की अपीलों में बहुत अन्तर है। दूसरे हिस्से की कई अपीलों में डी. ए.

वी. कालिज का नाम लिये बिना केवल वैदिक शिक्षणालय के लिये अपील की गई है। तीसरा हिस्सा बहुत छोटा है परन्तु बहुत महत्वपूर्ण है। यदि पंडित जी की जीवनरेखा बीच में ही न कट जाती तो वह हिस्सा सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता, इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकरण में इतना लिख देना आवश्यक है कि कालिज की शिक्षा में आर्य साहित्य की न्यूनता से बहुत असन्तुष्ट होकर भी पंडित जी उसके प्रेमी रहे। उनका कालिज से वही प्रेम था, जो एक पिता का पुत्र से होता है। पुत्र से असन्तुष्ट होकर भी पिता उसका दुश्मन नहीं बन सकता। यदि असन्तोष को कुछ साल तक पकने का मौका मिलता तो क्या परिणाम होता यह कहना कठिन है परन्तु यह निश्चय है कि पंडित जी के जीते जी कालिज सम्बन्धी मतभेद की आग प्रचण्डरूप में प्रकाशित नहीं हुई, इसका कारण उनकी दूरदर्शिता ही थी। यह एक नोट करने योग्य बात है कि अनेक बार चेष्टा करने पर भी पं० गुरुदत्त जी को डी. ए. वी. को कालिज के शिक्षकवर्ग में शामिल नहीं किया जासका, यद्यपि आप बहुत समय तक गवर्मेण्ट कालिज में प्रोफेसर रहे।

३. वेद और योग का दीवाना

किसी एक धुन के सिवा मनुष्य कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। धुन भी इतनी कि दुनिया उसे पागल कहे। प० गुरुदत्त के अन्दर पागलपन तक पहुंची हुई धुन विद्यमान थी। उसे योग और वेद की धुन थी। जब गुरुदत्त जी स्कूल की आठवीं जमात में पढ़ते थे, तभी से उन्हें शौक था कि जिसके बारे में योगी होने की चर्चा सुनी, उसके पास जा पहुंचे। प्राणायाम का अभ्यास आपने बचपन से ही आरम्भ कर दिया था। इसी उम्र में एक बार बालक को एक नासारन्ध्र को बन्द करके सांस उतारते चढ़ाते देखकर माता बहुत नाराज़ हुई थी। उसे स्वाभावसिद्ध मातृस्नेह ने बतला दिया कि अगर लड़का इसी रास्ते पर चलता गया तो फ़कीर बन कर रहेगा।

अजमेर में योगी की मृत्यु को देख कर योग सीखने की इच्छा और भी अधिक भड़क उठी। लाहौर पहुंच कर पंडित जी ने योग दर्शन का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। आप अपने जीवन की घटनाओं को लिखने, और निरन्तर उन्नति करने के लिये डायरी लिखा करते थे। उस डायरी के बहुत से भाग कई सज्जनों के पास विद्यमान थे। उनके पृष्ठों से पता चलता है कि ज्यो २ समय बीतता गया, पंडित जी की योगसाधना की इच्छा भी प्रबल होती गई। आप प्रति दिन थोड़े बहुत प्राणायाम करने लगे

अमरीका के प्रसिद्ध लेखक एण्ड्रो जक्सन डेविस के ग्रन्थों ने पंडित जी पर गहरा प्रभाव उत्पन्न किया। डेविस महोदय को अमरीका के बहुत से लोग Seer (परोक्षदर्शी) कहा करते थे। वह प्रायः एकाग्र और एकान्तवासी बनकर बोला करता था, उस समय एक आदमी उसके शब्दों को लिखता जाता था। वही शब्द पुस्तक रूप में लिखे जाते थे। पंडित जी डेविस महोदय के ग्रन्थों को बहुत बड़ी भक्ति से पढ़ते थे। आप कहा करते थे कि एण्ड्रो जैक्सन डेविस एक योगी है, जिसके वाक्यों में सचाई कूट २ कर भरी हुई है। डेविसमहोदय के लेखों को पढ़कर आपकी योग में श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गई थी। कुछ समय तक गवर्मेण्ट में सायंस के सीनियर प्रोफेसर रह कर आपने वह नौकरी छोड़ दी। आपके मित्रों ने बहुत आग्रह किया कि 'आप नौकरी न छोड़िये। केवल दो घण्टे पढ़ाना पड़ता है, उससे कोई हानि नहीं' आपने उत्तर दिया कि प्रातःकाल के समय मैं योगाभ्यास करना चाहता हूं, उस समय को मैं कालिज के अर्पण नहीं कर सकता। यह पहला ही अवसर था कि पंजाब का एक हिन्दुस्तानी ग्रेजुवेट गवर्न्मेण्ट कालिज में सायंस का बड़ा प्रोफेसर हुआ था। कालेज के अधिकारियों और हितैषियों ने बहुत समझाया, परन्तु योग के दीवाने ने एक न मानी।

गुरुदत्त जी को दूसरी धुन थी, वेदों का अर्थ समझने की। वेदों पर आपको असीम श्रद्धा थी। वेदभाष्य का आप निरन्तर अनुशीलन करते थे। जब अर्थ समझने में कठिनता प्रतीत होने लगी तब अष्टाध्यायी और निरुक्त का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। धीरे २ अष्टाध्यायी का स्वाध्याय पंडित जी के लिये सबसे प्रथम कर्तव्य बन गया क्योंकि आप उसे वेद तक पहुंचने का द्वार समझते थे। आपका शौक उन नौजवानों में भी प्रतिबिम्बित होने लगा, जो आपके पास रहा करते थे। सुनते हैं कि मा० दुर्गाप्रसाद जी, ला० जीवनदास जी, मा० आत्माराम जी, पं० रामभजदत्त जी और ला० मुन्शीराम जी की बग़लों में उन दिनों अष्टाध्यायी दिखाई देती थी।

अष्टाध्यायी निरुक्त और वेद का स्वाध्याय निरन्तर चलता था। यदि उसमें नाग़ा हो जाती तो पंडित जी को अत्यन्त दुःख होता। वह दुःख डायरी के शब्दों में प्रतिबिम्बित है। आपकी प्रखर बुद्धि के सामने दुरूह से दुरूह विषय सरल हो जाते थे, और बड़े २ पंडितों को आश्चर्यित कर देते थे। श्री स्वामी अच्युतानन्द जी अद्वैतवादी सन्यासी थे। पं० गुरुदत्त जी आपके पास उपनिषदें पढ़ने जाया करते थे। विद्यार्थी की प्रखर बुद्धि का स्वामीजी पर यह प्रभाव पड़ा कि शीघ्र ही शिष्य के अनुयायी हो गये। स्वामीजी पं० गुरुदत्तजी को पढ़ाते २ स्वयं द्वैतवादी बनगये और आर्यसमाज के समर्थकों में शामिल होगये। देहरादून के स्वामी महानन्दजी प्रसिद्ध दार्शनिक थे। आप

को भी पं० गुरुदत्तजी के अध्यापक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सच्छिष्य के प्रभाव से आप भी आर्यसमाजी बन गये।

४. उपदेशक क्लास।

डी० ए० वी० कालिज की शिक्षा से असन्तुष्ट होकर कुछ लोगों ने एक दूसरी संस्था के चलाने का निश्चय किया। ३ सितम्बर १८२६ को आर्यपत्रिका में उसकी सूचना निम्नलिखित शब्दों में निकली है।

"क्योंकि आर्षग्रन्थों की शिक्षा के लिये एक क्लास का खोलना आवश्यक है इस कारण, जबतक डी० ए० वी० कालिज की मैनेजिंग कमेटी या कोई अन्य नियमपूर्वक बनी हुई कमेटी इस काम को हाथ में नहीं लेती तबतक के लिये क्लास के लिये चन्दा एकत्र करने तथा क्लास सम्बन्धी अन्य कार्यों के लिये निम्न लिखित सभ्यों की एक अस्थायी कमेटी बनाई जाय।

(१) स्वामी रामानन्द सरस्वती
(२) पं० गुरुदत्त एम० ए०
(३) ला० जीवनदास, लाहौर
(४) ला० रलाराम, झेलम
(५) ला० मुन्शीराम, जालन्धर
(६) पं० धर्मचन्द, अमृतसर
(७) मास्टर दयाराम, गुजरात
(८) डा० सीताराम, पेशावर
(९) ला० केदारनाथ, लाहौर

अनुपस्थित सभ्यों की स्वीकृति होजाने पर निम्नलिखित निश्चय काम में लाये जायं—

(१) ला० मुन्शीरामजी प्रधान हों
(२) ला० केदारनाथ मन्त्री हों
(३) ला० जीवनदास ख़ज़ानची हो
(४) स्वामी रामानन्द उपदेशक समझे जायं

पं० गुरुदत्तजी इस समूह के केन्द्र थे। बहुत से आर्य पुरुषों को डी० ए० वी० कालिज में आर्ष ग्रन्थों की पढ़ाई न होने की शिकायत थी। यह उस शिकायत का फल था। इस क्लास के विचार को लगभग ११ वर्ष पीछे हम गुरुकुल के रूप में परिणत हुआ पाते हैं।

उपदेशकक्लाससम्बन्धी घोषणा ने पंजाब की आर्यसमाजों में एक हलचलसी पैदा करदी। डी. ए. वी. कालिज के संचालकों ने उसे सीधी चोट समझा। आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों ने उसे एक नियमविरुद्ध कारवाई का प्रारम्भ मानकर अविश्वास की दृष्टि से देखा। पंजाब की आर्यसमाजों में नियमों का आदर करने की ओर अभिरुचि पहले से ही पाई जाती है। समाजों में एक ख़ासा आन्दोलन मच गया। प्रतीत होता है कि अस्थायी समिति बनाने वालों का उद्देश्य भी पंजाब के आर्य पुरुषों में हलचल पैदा कर देना ही था। यदि यह अनुमान सत्य है तो अस्थायी कमेटी को पूरी सफलता हुई। २६ अक्तूबर १८८९ के अधिवेशन में आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने निम्न लिखित आशय का प्रस्ताव पास किया।

> "आर्यप्रतिनिधि सभा का कर्त्तव्य है कि उपदेशक क्लास का संचालन करे। इस कारण ला० मुन्शीराम को उसके नियम आदि बनाने का काम सौंपा जाय। उपदेशक क्लास के लिये जो रुपाया आये, मन्त्री उसे जुदा हिसाब में रखता जाय।"

इस प्रकार आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग ने जुदा उपदेशक पाठशाला खोलने का निश्चय किया।

उस समय परस्पर मतभेद के कारण जो अविश्वास का जलवायु उत्पन्न होरहा था, उसका इससे बढ़कर क्या सबूत हो सकता है कि उपदेशकक्लास सम्बन्धी बहस में समाचार पत्रों ने स्वामी रामानन्द जी को और पं० गुरुदत्त जी को भी नहीं छोड़ा गया। जो कड़वे विवाद अगले वर्षों से पंजाब की आर्यसमाजों को विचलित कर देने वाले थे, उन का आरम्भ यहीं से होता है। यह कहा जा सकता है कि पंजाब के आर्यसमाजी महानुभावों ने वाद विवाद की कड़वी नीति को प्रारम्भ से ही स्वीकार कर लिया था। यह महत्वपूर्ण बात है कि यद्यपि उपदेशकक्लाससम्बन्धी वादविवाद में पं० गुरुदत्त जी के नाम को कितना ही घसीटा गया, परन्तु पंडित जी के मुख से या लेखनी से एक भी प्रतिवाद का शब्द न निकला। पंडित जी का लक्ष्य बहुत ऊंचा था।

५. वैदिक मेगज़ीन और अन्य लेख

१८८९ के जुलाई मास में पं० गुरुदत्त जी ने वैदिक मेगज़ीन नाम का मा-

सिक पत्र निकालना शुरू किया। इससे पूर्व आप आर्यपत्रिका में प्रायः लिखते रहते थे। अंग्रेज़ी के विद्वानों में आपके लेख पसन्द किये जाते थे। योरप के संस्कृतज्ञ वैदिकसाहित्य के विषय में जो असम्बद्ध या प्रमाणरहित लेख लिखते थे, पण्डित जी उनका प्रतिवाद निकालते रहते थे। मेगज़ीन ने तो आप की धाक बांध दी। वैदिक मेगज़ीन एक मासिकपत्रिका थी परन्तु पाठक उसकी आजकल के मासिक पत्रों से तुलना न करें। वह एक प्रतिभासम्पन्न विचारक के मासभर के दिमाग़ी व्यायाम का परिणाम होता था। वेदमन्त्रों की, उपनिषदों की और अन्य आर्ष ग्रन्थों की व्याख्या होती थी, और वैदिक सिद्धान्तों पर योग्यता पूर्ण लेख होते थे। जिन दिनों वैदिक मेगज़ीन लिखी जाती थी, उन दिनों पण्डित जी कोई समाचार पत्र नहीं पढ़ते थे। रात दिन स्वाध्याय और विचार में लगे रहते थे। स्वाध्याय के सिवा बस दो ही काम थे। कभी २ बाहिर उत्सवों पर व्याख्यानों के लिये जाना पड़ता था, और लाहौर में शंका समाधान के लिये भी समय देना पड़ता था। आप ने एक विज्ञापन निकाल दिया था कि जिस किसी को भी वैदिक सिद्धान्त पर कोई शंका हो वह उसका समाधान कर सकता है। जिज्ञासु लोग पण्डित जी का समय लेते ही रहते थे।

पं० गुरुदत्त जी की लेखशैली ज़ोरदार थी, वह कुछ बोझल अवश्य थी, परन्तु इतनी बोझल नहीं थी कि मतलब साफ़ न हो। भाषा की एक २ पंक्ति से लेखक की प्रतिभा और श्रद्धा का प्रमाण मिलता था। आप जो कुछ लिखते थे, अपनी पूरी विश्वासशक्ति को उसमें डाल देते थे। यही कारण है कि आप के लेखों में दार्शनिकों की सी सावधानता के स्थान पर धार्मिक पुरुषों की सी निश्चयात्मकता मिलती है। वैदिक मेगज़ीन ने निकलते ही धार्मिक जगत् में एक सम्मानित पद प्राप्त कर लिया। पंजाब के बहुत से नवयुवकों के लिये तो वह धर्मपुस्तक सी बन गई। मास भर प्रतीक्षा होती रहती थी। जब अंक सामने आता तब वेदवाक्य की तरह पढ़ा जाता था।

पं० गुरुदत्त जी के ग्रन्थ प्रायः वैदिक मेगज़ीन में ही निकले थे। उपनिषदों की व्याख्या ने अंग्रेज़ी के पूर्वीय साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। आत्मा की सिद्धि में आपने जो ट्रैक्ट लिखा था, वह योग्यता का एक नमूना है। पण्डित जी ने अपनी छोटी सी आयु में जो कुछ किया, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि आप देर तक जीवित रहते, तो क्या कुछ कर जाते। इसमें सन्देह नहीं कि आप भारत के प्रसिद्ध ओरियंटलिस्टों में गिने जाते।

६. बिन खिले मुरझा गये

ईश्वरीय नियम अपना बदला लिये बिना नहीं छोड़ते। जो बरसात समय से पहले आ जाती है, वह शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। पं० गुरुदत्त जी में प्रतिभा समय से पूर्व ही बरस पड़ी थी। जिस उम्र में दूसरे बच्चे गिल्ली डंडा खेलते हैं, उसमें गुरुदत्त ने प्राणायाम करना आरम्भ कर दिया था। १९ वर्ष की अवस्था का विद्यार्थी पंजाब की आर्यसमाज का प्रतिनिधि बनाकर अजमेर भेजा जाता है। २४वां वर्ष पूरा नहीं होता कि नौजवान एम. ए. को गवर्नमेण्ट कालिज में सायंस का बडा अध्यापक नियुक्त कर दिता जाता है। कदम कदम पर कुदरत का कानून टूटता दिखाई देता था।

फिर पण्डित जी ने भी नियमों के तोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कार्य की धुन में शरीर की चिन्ता छोड़ दी। जिस काम में लगे, उसके सिवा सब कुछ भुला दिया। जिन लोगों को उस ज्ञानी आत्मा के सहवास का अवसर मिला है, वह कहते हैं कि आप जब वैदिक मेगज़ीन के लिये लिखने बैठते थे, तब कई दिनों तक घर से बाहिर नहीं निकलते थे। जब पढ़ने लगते थे, तब ४८ घण्टे तक एक मिनट भर नींद लिए बिनका पढ़े चले जाते थे। जब सोने की धुन सवार होती थी, तब २४ घण्टों की इकट्ठी समाधि लगती थी। सर्दियों में ज़ीन के सूट में घूमा करते थे और जेठ की धूप में भ्रमण करना तपस्या का अंग समझा करते थे।

इस प्रकार के अतिक्रमणों से लोहे का शरीर भी अस्तव्यस्त हो सकता है। जवानी में पंडित जी का शरीर अच्छा मज़बूत था। ईश्वरीय नियमों के उल्लंघन ने उसे शिथिल कर दिया। वैदिक-धर्म की धुन ने इस दुनिया की ममता को तोड़ डाला। प्रतीत होता है कि गुरुशिक्षा के बिना प्राणायाम के परिश्रम ने भी शरीर पर कुछ बुरा प्रभाव उत्पन्न किया। प्रचार के लिये कई वर्षों तक आपको निरन्तर दौरा लगाना पड़ा। भ्रमण में खान पान आदि के नियम ठीक नहीं रहते और शरीर थक जाता है। इन सब कारणों से आर्य समाज की आशाओं के केन्द्र उस होनहार नवयुवक को क्षयरोग ने आ घेरा। १८८९ ई० के मध्य से पण्डित जी के भक्तों और मित्रों को मालूम हुआ कि आप बीमार हैं। इलाज आरम्भ हो गया। डाक्टरी, यूनानी और आयुर्वेदिक सभी तरह के इलाज किए गए। भक्तों ने अपनी सदिच्छाओं और सेवा में कोई कसर नहीं छोड़ी। यदि दूसरे की प्रार्थनायें किसी को रोग से छुड़ा सकतीं, तो पं० गुरुदत्त जी का देहान्त न होता, परन्तु ईश्वरीय नियम अटल है। रोग बढ़ता ही गया। आख़िर अन्त समय आ पहुंचा। देखने वालों ने लिखा है कि बीमारी की दशा में आप बिल्कुल शान्त रहे। अधिक से अधिक दुःख के समय भी आपने उफ़ तक नहीं की।

आप प्रायः ईश्वरप्रार्थना किया करते थे। जब अन्त समय समीप आया, तब आपने अन्तिम हवन करवाया, और स्वयं वेद मन्त्रों का उच्चारण करते रहे। १९ मार्च १८९० को प्रभात के ७ बजे ऋषि दयानन्द के सच्चे शिष्य ने ईश्वर का स्मरण करते हुए बड़ी शान्ति के साथ प्राणों का परित्याग किया। गुरुदत्त विद्यार्थी २६ वर्ष की आयु में इस लोक से प्रयाण कर गया, परन्तु वह अपने पीछे स्वार्थत्यागी वेदभक्त उद्योगी आर्यवीरों की एक सन्तति को छोड़ गया, जिसने आज तक आर्यसमाज के गौरव को संभाला हुआ है। लेखक की राय है कि आज तक भी (१ जनवरी १९२५ ई० तक) पंजाब की आर्यसमाजों में गुरुदत्तयुग का अन्त नहीं हुआ। जब तक ला० हंसराज, ला० लाजपतराय, स्वा० श्रद्धानन्द और मा० आत्माराम आदि सम्मान योग्य नेता आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, तब तक गुरुदत्तयुग समाप्त हुआ नहीं समझा जा सकता।